प्रो० विश्वनाथ विद्यालंकार

अथर्ववेद-भाष्यम्

(आध्यात्मिक व्याख्या)

काण्ड २०

ओ३म्

प्रो० विश्वनाथ विद्यालंकार

–: ओ३म् :–

अथर्ववेद-भाष्यम्

[२०वें काण्ड की आध्यात्मिक व्याख्या]

(आर्यसमाज-शताब्दी-संस्करण)

लेखक–

प्रो० विश्वनाथ विद्यालंकार

प्रकाशक–

रामलाल कपूर ट्रस्ट

रेवली, सोनीपत–१३१००१

(हरियाणा)

ट्रस्ट के उद्देश्य–

प्राचीन वैदिक साहित्य का अन्वेषण, उसकी रक्षा तथा
प्रचार एवं भारतीय संस्कृति, भारतीय शिक्षा,
भारतीय विज्ञान और चिकित्सा
द्वारा जनता की सेवा।

पुस्तकप्राप्तिस्थान–
* रामलाल कपूर ट्रस्ट
ग्राम रेवली, पो० शाहपुरतुर्क
जि० सोनीपत– १३१००१
(हरियाणा)
दूरभाष– (०१३०) २४८२८५७, ३०९०२७६
* रामलाल कपूर एण्ड संस
पेपर मर्चेन्ट्स, २५९६,
नई सड़क, दिल्ली

द्वितीयावृत्ति– ५०० प्रति
आषाढ़, सं० २०६१,
जून, सन् २००४

मूल्य– १००.००

मुद्रक–
राधा प्रेस
गांधी नगर, दिल्ली

प्रकाशकीय वक्तव्य

श्री पं० विश्वनाथ जी गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के प्रतिष्ठित स्नातक हैं। आप वर्षों तक वहीं गुरुकुल में वेद-विषय पढ़ाते रहे, इस कारण 'वेदोपाध्याय' के उपनाम से प्रसिद्ध हैं। आपका वेद का अध्ययन जहां गम्भीर है, वहां आप वेदोद्धारक ऋषि दयानन्द द्वारा प्रतिपादित वेदार्थ-प्रक्रिया के अनुगामी हैं। यह आपके लिखे ग्रन्थों से भली-भांति प्रकट है।

आर्यसमाज के अनेक विद्वानों की प्रेरणा पर मैंने आपसे अथर्ववेद पर भाष्य लिखने की प्रार्थना की। मेरी प्रार्थना को स्वीकार कर आपने अथर्ववेद के २०वें काण्ड की यह अध्यात्म-परक व्याख्या की है। रा. ब. चौ. नारायणसिंह प्रतापसिंह धर्मार्थ ट्रस्ट, करनाल (हरयाणा) मूक-भाव से वैदिक-विद्वानों तथा उनके ग्रन्थों के प्रकाशन में यथाशक्ति पत्रं पुष्पं के रूप में सहायता करता रहा है और कर रहा है। ट्रस्ट ने वैदिक साहित्य के प्रचार के लिये स्वयं भी साहित्य-प्रकाशन का कार्य किया है। ट्रस्ट की ओर से कई ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं, जिनमें निम्नलिखित प्रमुख ग्रन्थ हैं—

१—**ऋग्वेदभाष्य**—महर्षि दयानन्द सरस्वती कृत, संस्कृत-हिन्दी सहित। सम्पादक—पं० युधिष्ठिर मीमांसक। भाग १, २, ३ छप चुके हैं। आगे कार्य चालू है।

२—**उणादिकोष**—महर्षि दयानन्द कृत व्याख्या सहित। सम्पादक—पं० युधिष्ठिर मीमांसक।

अब यह तृतीय ग्रन्थ श्री पं. विश्वनाथ जी विद्यालंकार का अथर्ववेद के २०वें काण्ड का भाष्य ऋषिभक्त स्वाध्यायप्रेमी आर्यजनों के हाथों में **आर्यसमाज-स्थापना-शताब्दी** के उपहार के रूप में समर्पित है।

इन ग्रन्थों के प्रकाशन में वैदिक ग्रन्थों एवं ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों के शुद्ध सुन्दर विविध टिप्पणियों से युक्त संस्करणों के प्रकाशक रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़ (सोनीपत-हरयाणा) का विशेष सहयोग रहा है। इसके लिये हम उसके कृतज्ञ हैं।

५७ एल, माडल टाउन
करनाल
१२ दिसम्बर, १९७५

प्रकाशक—
प्रतापसिंह चौधरी
प्रधान—रा. ब. चौ. नारायणसिंह
प्रतापसिंह धर्मार्थ ट्रस्ट

ग्रन्थकर्ता का संक्षिप्त परिचय

तथा

अन्य कृतियां

अथर्ववेद के २० वें काण्ड के आध्यात्मिक-व्याख्याकार प्रोफेसर विश्वनाथ जी गुरुकुल कांगड़ी(विश्वविद्यालय) के सुप्रसिद्ध स्नातक हैं। आप उसकी 'विद्यालंकार' उपाधि तथा 'विद्यामार्तण्ड' मानोपाधि से सुभूषित हैं। सन् १९१४ के दीक्षान्त-समारोह में प्रथम विभाग में आप सर्वप्रथम रहे। वैदिक साहित्य, संस्कृत-साहित्य, दर्शनशास्त्र और रसायनशास्त्र (कैमिस्ट्री) तथा सर्वयोग में प्रथम रहने के कारण आपको ४ सुवर्णपदक और एक रजकपदक प्राप्त हुआ। आप सन् १९१४ में ही गुरुकुल कांगड़ी (विश्वविद्यालय) में प्रोफेसर पद पर नियुक्त किये गये। गुरुकुल कांगड़ी महाविद्यालय में समय-समय पर आप रसायन, दर्शन तथा वेद-विषय पढ़ाते रहे, और सन् १९४२ में वहां से सेवामुक्त हुए। आपकी अन्य कृतियां इस प्रकार हैं—

१. सामवेद का आध्यात्मिक भाष्य।
२. सन्ध्या-रहस्य।
३. वैदिक पशु-यज्ञ-मीमांसा।
४. वैदिक-जीवन
५. वैदिक गृहस्थाश्रम।
६. बाल सत्यार्थ-प्रकाश।
७. बाल ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका।
८. अथर्ववेद-परिचय।
९. अथर्ववेद-भाष्य (काण्ड १८, १९)।

इनमें से संख्या १ तथा ९ के ग्रन्थ अमुद्रित हैं। शेष सब ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं।

—युधिष्ठिर मीमांसक

अथर्ववेद-भाष्य २०वां काण्ड

भूमिका

१—अथर्ववेद के २०वें काण्ड का हिन्दी-भाष्य स्वाध्यायशील व्यक्तियों के सामने प्रस्तुत है। २०वां काण्ड अन्य काण्डों की अपेक्षा अधिक गहन है। मन्त्रों में स्थान-स्थान पर अति अप्रसिद्ध शब्द मिलते हैं। प्रकरण को दृष्टि में रखकर ऐसे शब्दों के यौगिक अर्थ किये गए हैं। इस काण्ड पर न तो सायणाचार्य का भाष्य है, और किसी अन्य प्राचीन आचार्य का। अथर्ववेद के अङ्ग्रेजी अनुवादों में भी २० वें काण्ड का अनुवाद नहीं मिला। इसलिये स्वावलम्ब पर ही यह हिन्दी-भाष्य किया गया है।

२—२० वें काण्ड के १२७ से १३६ सूक्तों को "कुन्ताप-सूक्त" कहते हैं। महर्षि दयानन्द ने अपनी "चतुर्वेद-विषय-सूची" (वैदिक यन्त्रालय, अजमेर) में इन सूक्तों को परिशिष्ट अर्थात् प्रक्षिप्त माना है। १२७ वें सूक्त के प्रारम्भ में "चतुर्वेद-विषय-सूची" के एतसम्बन्धी उद्धरण उद्धृत कर दिये हैं।

"अथर्ववेद-सर्वानुक्रमणी" में भी १२७ से १३६ सूक्तों को "खिल" कहा है। 'खिल' का अभिप्राय है परिशिष्ट, जिसे कि महर्षि दयानन्द ने प्रक्षिप्त कहा है। "अथर्ववेद-सर्वानुक्रमणी" में १२७ से १३६ सूक्तों के ऋषि देवता और छन्द भी इसीलिये नहीं दिये हैं।

अथर्ववेद की पैप्पलाद शाखा में भी १२७ से १३६ तक के कुन्ताप-सूक्तों का अभाव है। और न ही पैप्पलाद-शाखा के किसी मन्त्र में कुन्ताप-सूक्तों के किसी मन्त्र का निर्देश ही प्राप्त होता है।

अतः यह उचित प्रतीत होता है कि इन कुन्तापसूक्तों को मूल अथर्व-वेद के प्रामाणिक सूक्तों के मध्य में न छाप कर, इन्हें परिशिष्टरूप में या तो अथर्ववेद की समाप्ति पर, या पृथक् गुटकारूप में छापा जाया करे।

कुन्ताप सूक्तों के अभिप्राय आसानी से बुद्धिगोचर नहीं होते। इन सूक्तों में स्थान-स्थान में ऐसे पद पठित हैं, जिनके अर्थों को बुद्धिपूर्वक करने

में पर्याप्त कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है। यह यतः प्राथमिक प्रयत्न है, इसलिये अर्थों के सम्बन्ध में, वैदिक विद्वानों का मतभेद भी सम्भव है। कुन्ताप-सूक्तों में ऐसे भी कतिपय मन्त्र हैं, जिनका प्रतिपद अर्थ देना उचित प्रतीत नहीं हुआ। इसलिये ऐसे मन्त्रों के अर्थ शिष्ट-भाषा में किये गए हैं।

३—कई वैदिक विद्वान् यह भी मानते हैं कि अथर्ववेद का समग्र २०वां काण्ड मूल-अथर्ववेद का अवयव नहीं। यह २०वां काण्ड अथर्ववेद में पीछे किसी काल में मिलाया गया है। यह विचार सत्य प्रतीत नहीं होता। कारण यह है कि—काण्ड १९, सूक्त २३ में **"चतुर्ऋचेभ्यः स्वाहा"** (१) से आरम्भ कर, उत्तरोत्तरक्रम से **"अष्टादशर्चेभ्यः स्वाहा"** (१५) तक के मन्त्रों द्वारा ऐसे सूक्तों के प्रति "स्वाहा" कहा है, जिन सूक्तों में कि चार ऋचाओं से लेकर उत्तरोत्तर एक-एक ऋचा के वृद्धि-क्रम से १८ ऋचाएं हैं। मन्त्र १६वां है—**"एकोनविंशतिः स्वाहा"**, तथा मन्त्र १७ वां है—**"विंशतिः स्वाहा"**, तथा मन्त्र १८ वां है—**"महत्काण्डाय स्वाहा"**। परन्तु समग्र अथर्ववेद में ऐसा कोई सूक्त नहीं जिसमें कि १९ मन्त्र हों। और न ही मन्त्र १ से १५ तक के मन्त्रों में चतुर्थी विभक्ति के सदृश १६ वें और १७वें मन्त्र में चतुर्थी विभक्ति है। इस वैषम्य से यह ध्वनित होता है कि "एकविंशतिः" तथा "विंशतिः" पद किन्हीं सूक्तों का निर्देश नहीं करते, अपितु ये पद १९वें काण्ड तथा २० वें काण्ड का निर्देश करते हैं। जैसे समग्र अथर्ववेद में १९ मन्त्रोंवाला कोई सूक्त नहीं, वैसे अथर्ववेद के १ से १९ काण्डों तक में २० मन्त्रों का भी कोई सूक्त नहीं। अथर्ववेद के २० वें काण्ड में केवल ४ सूक्त ऐसे हैं, जिनमें कि बीस-बीस मन्त्र हैं। यथा सूक्त १२९; १३० और १३१ में बीस-बीस मन्त्र हैं। परन्तु ये तीनों सूक्त **"खिल"** होने से प्रक्षिप्त हैं; क्योंकि ये कुन्ताप सूक्तों के हैं। काण्ड २० सूक्त ७० में भी २० मन्त्र हैं। सम्भवतः **"विंशतिः स्वाहा"** (१७) मन्त्र बीसवें काण्ड के ७० वें सूक्त का निर्देश करता हो। यदि यह अनुमान सत्य हो, तो यह मानना होगा कि १९ वें काण्ड के सत्ताकाल में बीसवां काण्ड भी अथर्ववेद का अविभाज्य अवयव था। परन्तु **"एकोनविंशतिः स्वाहा"** (१६) मन्त्र की समस्या पूर्ववत् स्थित है, क्योंकि समग्र अथर्ववेद में १९ मन्त्रों का कोई सूक्त नहीं। तथा पूर्व मन्त्रों के सदृश चतुर्थी-विभक्ति के अभाव में "एकोनविंशतिः" शब्द द्वारा किसी सूक्त का ग्रहण भी सम्भव नहीं। इसलिये प्रतीत होता है कि "एकोनविंशतिः" शब्द १९ वें काण्ड का ही निर्देश करता है, और इसी चतुर्थी

विभक्ति के अभाव के कारण **"विंशतिः स्वाहा"** (१७) मन्त्र भी २०वें काण्ड का ही निर्देश करता है।[1] **"महत्काण्डाय स्वाहा"** (१८) मन्त्र **"विंशतिः स्वाहा"** (१७) मन्त्र के अभिप्राय को ही परिपुष्ट करता प्रतीत होता है। २० वां काण्ड वस्तुतः अथर्ववेद के शेष काण्डों से बड़ा है। इसीलिये २० वें काण्ड को "महत्काण्ड" कहा है। अथर्ववेद में सूक्त-संख्या तथा मन्त्र-संख्या की दृष्टि से दो काण्ड "महाकाण्ड" हैं। छठे काण्ड में १४२ सूक्त हैं, और ४५४ मन्त्र। परन्तु बीसवें काण्ड में सूक्त १४३ हैं, और मन्त्र ९५८। इस सूक्त-संख्या और और मन्त्र-संख्या में कुन्ताप-सूक्त और उसके मन्त्र भी सम्मिलित हैं। कुन्तापसूक्तों के कुल मन्त्र १४७ हैं। यदि इन १४७ मन्त्रों को न भी गिना जाय, तब भी बीसवें काण्ड की मन्त्र-संख्या ८११ होती है। इस प्रकार मन्त्र-संख्या की दृष्टि से बीसवां काण्ड महाकाण्ड है।

प्रोफेसर राथ (Rath) के कथनानुसार अथर्ववेद की पैप्पलाद शाखा के १३वें काण्ड में,—अथर्ववेद के २०वें काण्ड के ३४वें सूक्त में पठित **"स जनास इन्द्रः"** पदों का निर्देश, कुछ पाठभेद के साथ किया है। इस से भी प्रतीत होता है कि पैप्लाद् शाखा के काल में अथर्ववेद के २०वें काण्ड को अथर्ववेद का अङ्ग माना जाता था।

अथर्ववेद के गोपथ-ब्राह्मण १-५ के अनुसार—"ब्रह्मा से २० ऋषि उत्पन्न हुए, उन्होंने अथर्ववेद के २० काण्ड साक्षात् किये"। गोपथ-ब्राह्मण के इस कथनानुसार ज्ञात होता है कि अथर्ववेद का २०वां काण्ड अथर्ववेद का अविभाज्य अवयव है।

इसी प्रकार "वैतान सूत्रों" में भी, अथर्ववेद के २०वें काण्ड के मन्त्रों का विनियोग कर्मकाण्ड में किया गया है।

---

१. एकोनविंशतिः तथा विंशतिः शब्दों के साथ "ऋक्" शब्द का भी प्रयोग नहीं, जैसे कि पूर्वोक्त "चतुर्ऋचेभ्यः स्वाहा" आदि में "ऋक्" शब्द का प्रयोग हुआ है, तथा जैसे "महत्काण्डाय स्वाहा" के पश्चात् के मन्त्रों में पुनः "ऋक्" शब्द का प्रयोग हुआ है। यथा—"तृचेभ्यः स्वाहा" (१९), "एकर्चेभ्यः स्वाहा" (२०) आदि। इससे भी प्रतीत होता है कि एकोनविंशतिः तथा विंशतिः पदों द्वारा एकोनविंशति ऋचाओंवाले, तथा विंशति ऋचाओंवाले सूक्तों का निर्देश नहीं। इन पदों द्वारा १९वां काण्ड तथा बीसवां काण्ड ही अभिप्रेत हैं। इसी भाव को "महाकाण्ड" (१८) पद द्वारा भी सूचित किया है।

४—मूलतः अथर्ववेद १९ काण्डों का ही है, बीसवां काण्ड इस में पीछे किसी काल में मिलाया गया है,—इस सम्बन्ध में कई वैदिक विद्वान् निम्नलिखित प्रमाण उपस्थित करते हैं। यथा—

स्तुता मया वरदा वेदमाता प्रचोदयन्तां पावमानी द्विजानाम् ।
आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसम् ।
मह्यं दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम् ॥ (अथर्व० १९।७१।१) ॥

यस्मात्कोशादुदभराम वेदं तस्मिन्नन्तरव दध्म एनम् ।
कृतमिष्टं ब्रह्मणो वीर्येण तेन मा देवास्तपसावतेह ॥
(अथर्व० १९।७२।१) ॥

"मैंने वर देनेवाली वेदमाता का स्तवन कर लिया है। तुम इस का प्रवचन या प्रचार करो। यह द्विजों को पवित्र करती है, आयु, प्राण, प्रजा पशु, कीर्ति, द्रविण और ब्रह्मतेज मुझे देकर ब्रह्मलोक जाओ" ॥

"जिस कोश से हमने वेद को उठाया था, उसी के अन्दर हम इसे रख देते हैं। ब्रह्म अर्थात् वेद के सामर्थ्य द्वारा हमने इष्ट सम्पादन कर लिया है। हे देवो! उस तप के द्वारा इस जीवन में, मेरी रक्षा करो" ॥

इन दो मन्त्रों में ३ आपत्तियां हैं—(१) एक यह कि—"मैंने वेदमाता का स्तवन कर लिया है"। इससे यह परिणाम निकलता है कि इस से आगे वेद-माता का स्तवन नहीं रहा, यहीं तक वेद-माता का अध्ययनाध्यापन समाप्त हो जाता है। (२) दूसरी आपत्ति यह कि—"जिस कोश से हमने वेद को उठाया था, उसी के अन्दर हम इस वेद को रख देते हैं"। इस से भी यह परिणाम निकलता है कि इस वेद का अध्ययनाध्यापन पूर्ण हो चुका है, इसलिये इस वेद को हमने कोश में सुरक्षित रख दिया है। (३) तीसरी आपत्ति यह कि—"अथर्ववेद से हम ने अपना इष्ट-सम्पादन कर लिया है," अर्थात् जीवन में जो कुछ हमें चाहिये था, उसे हमने प्राप्त कर लिया है। अथर्ववेद द्वारा और किसी अभीष्ट का सम्पादन शेष नहीं रहा। इस प्रकार इन तीन वर्णनों से यह ही प्रतीत होता है कि अथर्ववेद की समाप्ति १९ वें काण्ड की समाप्ति तक हो जाती है, अर्थात् बीसवां काण्ड अथर्ववेद का मौलिक अवयव नहीं।

इन तीनों आपत्तियों पर यदि सूक्ष्मता से विचार किया जाय, तो परिणाम अन्य प्रकार का प्रतीत होने लगता है—(१) प्रथम मन्त्र में वेद-स्तवन का फल दर्शाया है—७ विषयों का परिज्ञान, अर्थात् आयुःसम्बन्धी विज्ञान, प्राणसम्बन्धी विज्ञान, प्रजासम्बन्धी विज्ञान, पशुसम्बन्धी विज्ञान, कीर्त्ति अर्थात् यशःसम्पादनसम्बन्धी विज्ञान, तथा द्रविण अर्थात् धनोपार्जन सम्बन्धी विज्ञान, और ब्राह्मज्योतिः-सम्बन्धी विज्ञान है। इन विज्ञानों में से ६ तो लौकिक विज्ञान हैं,और एक आध्यात्मिक विज्ञान। इस से ज्ञात होता है कि अथर्ववेद के १ से १९ तक के काण्डों में लौकिक बुद्धिवाले अध्येताओं के लिये प्रधानतया लौकिक विज्ञानों का ही प्रतिपादन हुआ है, और उन लौकिक बुद्धिवाले अध्येताओं के लौकिक विज्ञानों को थोड़ा आध्यात्मिक विज्ञान का भी पुट दे दिया है। यही लौकिक भावना "कृतमिष्टम्" द्वारा भी सूचित की गई है। "इष्ट" का अर्थ यज्ञकर्म भी होता है, जैसे कि "इष्टापूर्त" शब्द में "इष्ट" का अर्थ है। तथा "इष्ट" का अर्थ "एषणाओं के विषय" भी होता है। सांसारिक लोग धनैषणा पुत्रैषणा और लोकैषणा (कीर्ति, यश) के वशीभूत होते हैं। इन्हें "ब्रह्मवर्चस्" द्वारा यत्किंचित् ब्रह्म-सम्बन्धी विज्ञान भी दिया गया है, ताकि ये इन एषणाओं से उठकर अगले आश्रम की ओर पग बढ़ा सकें। इस उद्देश्य से, तथा जो सत्कर्मा व्यक्ति इन लौकिक एषणाओं पर विजय पा चुके हैं। उन के लिये अध्यात्म-विषय प्रधान बीसवां काण्ड है।

बीसवें काण्ड के अध्ययन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि इस काण्ड में अध्यात्म-विषय प्रधानरूप से वर्णित है, और लौकिक विषय गौणरूप से। इसलिये सर्वसाधारण लौकिक बुद्धिवाले लोगों के लिये ज्ञेय तत्त्व १९ वें काण्ड तक समाप्त हो जाते हैं। ऐसे लोग २०वें काण्ड के विस्तृत अध्यात्म-विज्ञान के अधिकारी नहीं। परन्तु अध्यात्म-परायण लोगों के लिये विस्तृत अध्यात्मज्ञान की आवश्यकता है,जिसकी पूर्त्ति बीसवें काण्ड द्वारा होती है।

इस समाधान की यथार्थता में यजुर्वेद का भी उद्धरण देना आवश्यक प्रतीत होता है। यजुर्वेद कर्मप्रधान वेद है,—यह सर्वप्रसिद्ध है। इसके ४० अध्याय हैं। १ से ३८ अध्यायों में मुख्यरूप में कर्मकाण्ड का वर्णन हुआ है, परन्तु बीच-बीच में गौणरूप से अध्यात्मविषयों का भी वर्णन हुआ है। ३९ वें अध्याय में प्रायः अन्त्येष्टि-संस्कार के मन्त्र हैं। ३९ वें अध्याय के अन्त्येष्टि-सम्बन्धी मन्त्रों द्वारा यह दर्शाया है कि १-३८ अध्यायों के कर्म-

काण्ड की समाप्ति के साथ मानुषजीवन की भी अन्त्येष्टि हो जाती है, अर्थात् इससे आगे कर्मकाण्डी के लिये और कोई कर्तव्य नहीं रहता। परन्तु जो व्यक्ति कर्मकाण्ड द्वारा अपने मनों और आचरणों को पवित्र कर अध्यात्ममार्ग का अवलम्बन करना चाहते हैं, उनकी आवश्यकता को पूर्ण करने के लिये यजुर्वेद के ४०वें अध्याय की आवश्यकता थी। इसलिये कर्मकाण्ड की दृष्टि से चाहे यजुर्वेद की समाप्ति ३९ वें अध्याय की समाप्ति तक समझी जाय, परन्तु अध्यात्मज्ञानाभिलाषी के लिये यजुर्वेद की समाप्ति ४०वें अध्याय पर ही होती है। तथा ऐसे अध्यात्मज्ञानी के शरीर की समाप्ति भी अन्त्येष्टि संस्कार द्वारा ही होनी चाहिये,—इसकी सूचना "भस्मान्तं शरीरम्" (४०।१५) द्वारा दी गई है। इसी ४०वें अध्याय के अनुसार प्रसिद्ध "ईशावास्योपनिषद्" की रचना हुई है, और यजुर्वेद के शतपथ-ब्राह्मण के अध्यात्म-विज्ञान के अनुसार "बृहदारण्यकोपनिषद्" की रचना हुई है।

इसलिये यजुर्वेद का ४० वां अध्याय जिस प्रकार यजुर्वेद का ही अन्तिम अध्याय है, इसी प्रकार अथर्ववेद का २० वां काण्ड भी अथर्ववेद का अन्तिम काण्ड है; अर्थात् मौलिक अवयव है।

५—अथर्ववेद के २०वें काण्ड के इस हिन्दी-भाष्य का प्रकाशन 'राव बहादुर चौधरी नारायण सिंह प्रतापसिंह धर्मार्थ ट्रस्ट, करनाल (हरयाणा)' की ओर से हो रहा है। एतदर्थ ट्रस्ट के संचालक वेदभक्त रायसाहिब श्री प्रतापसिंह जी चौधरी, करनाल (हरयाणा) को बहुत-बहुत धन्यवाद।

६१ कांवली रोड
देहरादून, यू० पी०

प्रोफेसर विश्वनाथ, विद्यालंकार,
विद्यामार्तण्ड

अथर्ववेद-भाष्य

[बीसवां काण्ड]

॥ ओ३म् ॥

अथर्ववेद-भाष्यम्

बीसवां काण्ड

सूक्त १

१ विश्वामित्रः, २ गोतमः, ३ विरूपः। १ इन्द्रः, २ मरुतः, ३ अग्निः। गायत्री।

१. इन्द्र त्वा वृषभं वयं सुते सोमे हवामहे।
स पाहि मध्वो अन्धसः ॥१॥

(इन्द्र) हे परमेश्वर! (सोमे) भक्तिरस के (सुते) प्रकट हो जाने पर, (वयम्) हम उपासक, (वृषभम्) आनन्दरसवर्षी (त्वा) आप का (हवामहे) आह्वान करते हैं। (सः) वे आप (मध्वः) हमारे मधुर (अन्धसः) भक्तिरसरूपी अन्न की (पाहि) रक्षा कीजिये।

[भक्तिरस, उपासक के लिये आध्यात्मिक अन्न है। उपासक इस अन्न की सुरक्षा की प्रार्थना करता है, ताकि उसे परमेश्वर के आनन्दरस का लाभ होता रहे।]

२. मरुतो यस्य हि क्षये पाथा दिवो विमहसः।
स सुगोपातमो जनः ॥२॥

(मरुतः) हे मरणधर्मा उपासको! (यस्य) जिस (दिवः) द्युतिमान् और (विमहसः) तेजस्वी परमेश्वर के (हि) ही (क्षये) निवासगृह में रह-कर तुम (पाथ) अपनी तथा अपने भक्तिरस की रक्षा कर रहे हो, जान कि (सः) वह (जनः) जनक परमेश्वर ही (सुगोपातमः) सर्वोत्तम प्रकार से सब की रक्षा कर रहा है। [मरुतः=ऋत्विङ् नाम (निघं० ३।१८)।]

३. उक्षान्नाय वशान्नाय सोमपृष्ठाय वेधसे । स्तोमैर्विधेमाग्नये ॥३॥

(उक्षान्नाय) बैलों द्वारा उत्पन्न कृष्यन्न आहुतिरूप में जिसके प्रति दिया जाता है, (वशान्नाय) गौओं से उत्पन्न दुग्धान्न जिसके प्रति आहुतिरूप में दिया जाता है, (सोमपृष्ठाय) तथा जो उत्पन्न जगत् की पृष्ठभूमि है, उसी (वेधसे) जगद्-विधाता (अग्नये) जगदग्रणी के लिये, (स्तोमैः) सामगानों की स्तुतियों द्वारा, (विधेम) हम अपनी परिचर्याएं भेंट करते हैं।

[प्राकृतिक और आध्यात्मिक दोनों प्रकार की आहुतियां परमेश्वराग्नि के प्रति ही भेंट की जाती हैं। विधेम=परिचरणकर्मा (निघं० ३।५)]

सूक्त २

गृत्समदो (मेधातिथिर्वा)। १ मरुतः, २ अग्निः, ३ इन्द्रः, ४ द्रविणोदाः। १-२ विराड् गायत्री, ३ आर्ची उष्णिक्, ४ साम्नी त्रिष्टुप्।

४. मरुतः पोत्रात् सुष्टुभः स्वर्कादृतुना सोमं पिबतु ॥१॥

परमेश्वर, (पोत्रात्) पवित्र (सुष्टुभः) उत्तम-स्तुतियोंवाले, (स्वर्कात्) उत्तम अर्चना के साधन मन्त्रों का स्वाध्याय और जप करनेवाले, (मरुतः) मरणधर्मा उपासक से (ऋतुना) ऋतु-ऋतु में (सोमम्) भक्तिरस का (पिबतु) पान करे।

[मरुतः=**म्रियते इति मरुत्=मनुष्यजातिः** (उणा० कोष १।९४), वैदिक पुस्तकालय, अजमेर। सुष्टुभः=सु+स्तुभ् (To praise आपटे)। पोत्रात्=पू पवने, पवित्र करना। पिबतु=पान करने का अभिप्राय है—स्वीकार करना, न कि मुख द्वारा पीना। 'पा' धातु का लाक्षणिक प्रयोग भी होता है। यथा—"**पिबत्यसौ पाययते च सिन्धूः**" (रघुवंश १३।९; ८।१); तथा "**ता राघवं दृष्टिभिरापिबन्त्यः**" (रघुवंश ७।१२), तथा "**उपनिषदः परिपीताः**" (भामिनी-विलास, आपटे)। स्वर्कात्=सु+अर्क (=मन्त्र)। "**अर्कः मन्त्रो भवति यदनेनार्चन्ति**" (निरु० ५।१।४)]

५. अग्निराग्नीध्रात् सुष्टुभः स्वर्कादृतुना सोमं पिबतु ॥२॥

(सुष्टुभः) उत्तम-स्तुतियोंवाले, (स्वर्कात्) उत्तम अर्चना के साधन-भूत मन्त्रों का स्वाध्याय और जप करनेवाले, (आग्नीध्रात्) ज्ञानाग्नि या

परमात्माग्नि[1] को प्रदीप्त करनेवाले उपासक से (ऋतुना) ऋतु-ऋतु में (अग्निः) जगदग्रणी (सोमम्) भक्तिरस का (पिबतु) पान करे, उसे स्वीकार करे।

[आग्नीध्रात्=अग्निम् इन्धते। "**ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन**" (गीता ४।१९, तथा ४।३७)। **अग्निः=अग्रणीर्भवति** (निरु० ७।४।१४)।]

६. इन्द्रो ब्रह्मा ब्राह्मणात् सुष्टुभः स्वर्कादृतुना सोमं पिबतु ॥३॥

(सुष्टुभः) उत्तम-स्तुतियोंवाले, (स्वर्कात्) उत्तम-अर्चना के साधन-भूत मन्त्रों का स्वाध्याय और जप करनेवाले, (ब्राह्मणात्) ब्रह्मवेत्ता उपासक से (ब्रह्मा) चतुर्वेदविद् (इन्द्रः) परमेश्वर, (ऋतुना) ऋतु-ऋतु में (सोमम्) भक्तिरस का (पिबतु) पान करे।

[ब्रह्मा=ब्रह्मा या ब्रह्म आ+पिबतु; अथवा ब्रह्मा=बृह वृद्धौ, सद्गुणों में बढ़ा हुआ]

७. देवो द्रविणोदाः पोत्रात् सुष्टुभः स्वर्कादृतुना सोमं पिबतु ॥४॥

(द्रविणोदाः) आध्यात्मिक-बल और आध्यात्मिक-धनरूपी विभूतियों का प्रदाता (देवः) परमेश्वर-देव, (पोत्रात्) पवित्र (सुष्टुभः) उत्तम-स्तुतियोंवाले, (स्वर्कात्) उत्तम-अर्चना के साधनभूत मन्त्रों का स्वाध्याय और जप करनेवाले उपासक से (ऋतुना) ऋतु-ऋतु के अनुसार (सोमम्) भक्तिरस का (पिबतु) पान करे।

[द्रविणम्="**धनं द्रविणमुच्यते यदेनमभिद्रवन्ति। बलं वा द्रविणं यदनेनाभिद्रवन्ति, तस्य दाता**" (निरु० ८।१।१)। परमेश्वर जिन उपासकों के भक्तिरसों को स्वीकार करता है, वे या तो मन-वचन-कर्म से पवित्र होने चाहियें, या ज्ञानाग्नि-सम्पन्न होने चाहियें, ब्रह्मद्रष्टा होने चाहियें।]

---

१. "अग्नि और आग्नीध्रात्" इन दोनों पदों में 'अग्नि' शब्द यह सूचित करता है कि "आग्नीध्र" पद में अग्नि द्वारा वह अग्नि अभिप्रेत है जो कि इस मन्त्र का देवता है, अर्थात् परमात्माग्नि। अतः "आग्नीध्र" पद का अर्थ प्रतीत होता है—"वह उपासक जिसने कि परमात्माग्नि को अपने हृदय में प्रदीप्त कर लिया है"। आग्नीध्रः=The Priest who kindles the sacred fire (आपटे)।

सूक्त ३

इरिम्बिठिः। इन्द्रः। गायत्री।

८. आ याहि सुषुमा हि त इन्द्र सोमं पिबा इमम्।

एदं बर्हिः सदो मम ॥१॥

(इन्द्र) हे परमेश्वर! आप (आ याहि) प्रकट हूजिये। (ते) आप के लिये (हि) ही हम उपासकों ने (सुषुम) भक्तिरस का निष्पादन किया है। आप (इमम्) इस (सोमम्) भक्तिरस का (पिब) पान कीजिये, इसे स्वीकार कीजिये। (इदम्) इस (मम) मेरे (बर्हिः) हृदयाकाश में (आ सदः) आ विराजिये।

९. आ त्वा ब्रह्मयुजा हरी वहतामिन्द्र केशिना।

उप ब्रह्माणि नः शृणु ॥२॥

(इन्द्र) हे परमेश्वर! (ब्रह्मयुजा) आप ब्रह्म के साथ मुझे जोड़ देनेवाले, (केशिना) ज्ञान का प्रकाश करनेवाले, (हरी) विषयों से हर लेनेवाले ऋक् और साम अर्थात् स्तुतियां और सामगान (त्वा) आप को (आ वहताम्) हमें प्राप्त करायें। हे परमेश्वर! (उप) समीप होकर (नः ब्रह्माणि) ब्रह्मप्रतिपादक हमारी स्तुतियों को (शृणु) आप सुनिये। [हरी="ऋक् सामे वा इन्द्रस्य हरी" (श० ब्रा० ४।४।३।६)]

१०. ब्रह्माणस्त्वा वयं युजा सोमपामिन्द्र सोमिनः।

सुतावन्तो हवामहे ॥३॥

(इन्द्र) हे परमेश्वर! (सुतावन्तः) सन्तानों समेत (वयं) हम (ब्रह्माणः) आप ब्रह्म के उपासक, (सोमिनः) भक्तिरसों की भेंट लिये हुए (युजा) योगविधिपूर्वक (सोमपाम्) भक्तिरस के पान करनेवाले (त्वा) आप को (हवामहे) पुकार रहे हैं।

सूक्त ४

इरिम्बिठिः। इन्द्रः। गायत्री।

११. आ नो याहि सुतावतोऽस्माकं सुष्टुतीरुप।

पिबा सु शिप्रिन्नन्धसः ॥१॥

हे अध्यात्म-शक्ति-सम्पन्न उपासक शिष्य! (सुतावतः) भक्तिरस-वाले (अस्माकम्) हम गुरुओं की (सुष्टुतीः) उत्तम स्तुतियों के (उप) समीप, और (नः) हमारे समीप (आ याहि) तू आया कर। (शिप्रिन्) हे सुन्दर मुखवाले! (अन्धसः) और भक्तिरसरूपी आध्यात्मिक अन्नरस का (पिब) पान किया कर। [इन्द्र=जीवात्मा, जो कि इन्द्रियों का अधिष्ठाता है।]

१२. आ ते सिञ्चामि कुक्ष्योरनु गात्रा वि धावतु।

गृभाय जिह्वया मधु ॥२॥

हे अध्यात्म शिष्य! (ते) तेरी (कुक्ष्योः) दोनों कुक्षियों में, मैं गुरु (आ सिञ्चामि) पूर्णतया भक्तिरस सींचता हूं। (अनु) तत्पश्चात् यह भक्तिरस (गात्रा) तेरे अङ्ग-प्रत्यङ्ग में (विधावतु) दौड़ जाय, शीघ्रतया व्याप्त हो जाय, और तेरे अङ्ग-प्रत्यङ्ग को विशुद्ध करदे। जैसे कि (जिह्वया गृभाय मधु) जिह्वा द्वारा ग्रहण किया मधु अर्थात् शहद शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग में व्याप्त हो जाता है। [कुक्षि का प्रसिद्ध अर्थ है—पेट और गर्भाशय। परन्तु कुक्षि शब्द गर्त अर्थात् गढ़े अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। मन्त्र में "कुक्ष्योः" पद द्विवचनान्त है। इसलिये मन्त्र में दो गर्तों की ओर निर्देश हुआ है। यहां मस्तिष्क और हृदय ये दो गर्त अभिप्रेत हैं। मस्तिष्क स्थान है विचारों का, और हृदय स्थान है हार्दिक भावनाओं का। उपासक के विचार और उसकी हार्दिक भावनाएं दोनों ही भक्तिरस से रसीले होने चाहियें। तदनन्तर ही उपासक के अङ्ग-प्रत्यङ्ग से भक्तिरस की झांकी मिल सकती है।]

१३. स्वादुष्टे अस्तु संसुदे मधुमान् तन्वे तव।

सोमः शमस्तु ते हृदे ॥३॥

हे उपासक शिष्य! (मधुमान्) मधुर भक्तिरस (ते) तेरे लिये (स्वादुः) स्वादिष्ठ (अस्तु) हो। ताकि तू (संसुदे) सांसारिक भोगों का सम्यक् रूप में निषूदन कर सके। यह मधुर भक्तिरस (तव) तेरे (तन्वे) समग्र शरीर के लिये (शम्) शान्तिदायक (अस्तु) हो। (सोमः) यह मधुर भक्तिरस (ते) तेरे (हृदे) हृदय के लिये भी (शम् अस्तु) शान्तिप्रद हो। [स्वादुः—आध्यात्मिक मधुर-स्वाद के होते, सांसारिक भोगों का स्वाद फीका पड़ जाता है। धावतु=गति और विशुद्धि; धावु गतिशुद्ध्योः।]

सूक्त ५

इरिम्बिठिः । इन्द्रः । गायत्री ।

१४. अयमु त्वा विचर्षणे जनीरिवाभि संवृतः ।
प्र सोम इन्द्र सर्पतु ॥१॥

(विचर्षणे) हे विविध जगत् के द्रष्टा ! आप उपासकों द्वारा इस प्रकार (अभिसंवृतः) घिरे रहते हैं, (इव) जैसे कि (जनीः) माताएं सन्तानों द्वारा घिरी रहती हैं। (इन्द्र) हे परमेश्वर ! (अयम् उ) यह (सोमः) उपासकों का भक्तिरस (त्वा) आपकी ओर (प्र सर्पतु) प्रवाहित हो।

१५. तुविग्रीवो वपोदरः सुबाहुरन्धसो मदे ।
इन्द्रो वृत्राणि जिघ्नते ॥२॥

(तुविग्रीवः) जैसे महाग्रीव, (वपोदरः) स्थूलकाय, (सुबाहुः) शस्त्रास्त्र चलाने में सशक्त बाहुओंवाला (इन्द्रः) सेनापति, (अन्धसो मदे) शक्तिप्रद अन्न की मस्ती में (वृत्राणि) राष्ट्र पर घेरा डाले शत्रुओं का (जिघ्नते) विहनन करता है, वैसे (इन्द्रः) परमेश्वर (अन्धसः मदे) भक्तिरस की प्रसन्नता में (वृत्राणि) उपासकों को घेरे हुए कामादि शत्रुओं का (जिघ्नते) विनाश करता है।

१६. इन्द्र प्रेहि पुरस्त्वं विश्वस्येशान ओजसा ।
वृत्राणि वृत्रहं जहि ॥३॥

(इन्द्र) हे परमेश्वर ! (त्वम्) आप (प्रेहि) हमारे हृदयों में शीघ्र आइये, (पुरः) हमें दर्शन दीजिये। आप (ओजसा) दूसरों को नम्र कर देनेवाले निज पराक्रम द्वारा (विश्वस्य) ब्रह्माण्ड के (ईशानः) अधीश्वर हैं। (वृत्रहन्) हे राग-द्वेष काम-क्रोध आदि वृत्रों के हनन करनेवाले ! आप (वृत्राणि) हमारे संमग्र वृत्रों का (जहि) हनन कीजिये। [ओजः= बलम्; उब्ज आर्जवे]

१७. दीर्घस्ते अस्त्वङ्कुशो येना वसु प्रयच्छसि ।
यजमानाय सुन्वते ॥४॥

हे परमेश्वर ! (ते) आप का (अंकुशः) न्यायव्यवस्थारूपी अंकुश (दीर्घः अस्तु) ब्रह्माण्डव्यापी तथा त्रिकालव्यापी है, (येन) जिस न्याय-व्यवस्था द्वारा आप (सुन्वते) भक्तिरसवाले (यजमानाय) उपासनायाजी को (वसु) शक्तियां और विभूतियां आदि सम्पत्तियां (प्र यच्छसि) प्रदान करते हैं।

१८. अयं त इन्द्र सोमो निपूतो अधि बर्हिषि ।
एहीमस्य द्रवा पिब ॥५॥

(इन्द्र) हे परमेश्वर ! (अयम्) यह (सोमः) भक्तिरस (ते) आपके लिये है, जो कि (बर्हिषि) हृदयान्तरिक्ष में हार्दिक भावनाओं द्वारा (निपूतः) नितरां पवित्र किया गया है। (इमम्) इस भक्तिरस की ओर (एहि) आइये, आवर्जित हूजिये, (द्रव) शीघ्रता कीजिये, और (अस्य पिब) इस का पान कीजिये।

१९. शाचिगो शाचिपूजनायं रणाय ते सुतः ।
आखण्डल प्र हूयसे ॥६॥

(शाचिगो) हे अभिव्यक्त वेदवाणी के स्वामिन् ! (शाचिपूजन) हे प्रज्ञा वाणियों और कर्मों द्वारा पूजनीय ! (अयम्) यह भक्तिरस (ते) आपकी (रणाय) प्रसन्नता के लिये (सुतः) निष्पन्न हुआ है। (आखण्डल) हे पापपुञ्ज को पूर्णतया खण्डित करनेवाले ! (प्रहूयसे) श्रद्धापूर्वक आप बुलाए जा रहे हैं। [शाचि=शच् व्यक्तायां वाचि। शाचि=शची प्रज्ञा नाम, वाङ्नाम, कर्मनाम (निघं० ३।९; १।११; २।१)। गौ=वाङ् (निघं० १।११)]

२०. यस्ते शृङ्गवृषो नपात् प्रणपात् कुण्डपाय्यः ।
न्यस्मिन् दध्र आ मनः ॥७॥

हे परमेश्वर ! (नपात्) आकाश से न पतन होनेवाला, और (शृङ्ग-वृषः) किरणों द्वारा वर्षा करनेवाला, (प्रणपात्) चिरकाल से न पतन होनेवाला, और (कुण्डपाय्यः) भरे कुण्डों के जलों को पी जानेवाला (यः) जो यह (ते) आप का सूर्य है, (अस्मिन्) इस सूर्य की सुरक्षा में (मनः) आप का मन (नि आ दध्रे) नितरां आहित है।

[जल भरे कुण्डों-तालाबों के जलों को सूर्य अपनी तेज किरणों द्वारा पीकर उन्हें सुखा देता है। समुद्र भी एक जलभरे महाकुण्ड के सदृश है। सूर्य, शृङ्ग समान तीखी किरणों द्वारा, समुद्र के जल को पीकर वर्षा करता है। जब से सूर्य पैदा हुआ है, वह निराधार आकाश में स्थित है। नीचे उसका पतन नहीं हो रहा। सूर्य सौर-मण्डल का केन्द्र-स्थान है, और इसी केन्द्रिय-सूर्य के द्वारा सौर-मण्डल परस्पराकर्षण द्वारा महाकाश में गति कर रहा है। सूर्य में केन्द्रिय-शक्ति परमेश्वर ने स्थापित की है, और इसी केन्द्रिय-शक्ति द्वारा परमेश्वर सौर-मण्डल को परस्पर आबद्ध किये हुए है। इसलिये सौर-मण्डल में सूर्य केन्द्रिय-शक्तिरूप है। परमेश्वर की शक्ति सूर्य में, केन्द्र-शक्तिरूप में निहित है। इसलिये परमेश्वर की नियन्त्रण-शक्ति का केन्द्र सूर्य है। इस भावना को **"न्यस्मिन् बध्ने आ मनः"** इन शब्दों द्वारा कविशैली में दर्शाया गया है। यजुर्वेद का मन्त्र भी इस सम्बन्ध में विशेष प्रकाश डालता है। यथा—**"योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्। ओ३म् खं ब्रह्म"** (यजु० ४०।१७)। अर्थात् परमेश्वर स्वयं कहता है कि—"जो वह आदित्य में नियामक रूप में स्थित पुरुष है, वह मैं ही हूं, जिस का नाम 'ओ३म्' है, जो आकाशवत् सर्वव्यापक है, और जो कि ब्रह्म है"। इस प्रकार केन्द्रिय-शक्ति में परमेश्वर का मन अर्थात् यह इच्छा निहित है कि कहीं सूर्य के पतन हो जाने से समग्र सौर-मण्डल नष्ट-भ्रष्ट न हो जाय। आदित्य में मन की स्थिति का अभिप्राय यह है कि वेदों में ब्रह्माण्ड को परमेश्वर का शरीर कहा है (यजु० ३१।१२, १३)। हम अपने शरीर में अनुभव करते हैं कि हमारे शरीर के प्रत्येक अङ्ग की स्थिति तथा चेष्टा मन पर या मानसिक स्थिति पर निर्भर है। मन के चाहे शरीर में चलना होता, आँख का निमेषोन्मेष होता, हाथ-पांव चलते, तथा खान-पान भाषण तथा अन्य क्रियायें हो रही हैं। इसी प्रकार सूर्य आदि की स्थिति आदि में परमेश्वरीय मन या इच्छा ही मुख्य कारण है। सूर्य यतः सौर-मण्डल का केन्द्र है, इसलिये इस केन्द्रभूत सूर्य में परमेश्वरीय मन के निहित होने का वर्णन मन्त्र में हुआ है।]

सूक्त ६

विश्वामित्रः। इन्द्रः। गायत्री।

२१. इन्द्रं त्वा वृषभं वयं सुते सोमे हवामहे।
स पाहि मध्वो अन्धसः ॥११॥

(इन्द्र) हे परमेश्वर! (सोमे) भक्तिरस की (सुते) निष्पत्ति में, (वयम्) हम उपासक, (त्वा वृषभम्) आनन्दरसवर्षी आपका (हवामहे) आह्वान करते हैं। (सः) वे आप (मध्वः) मधुर आनन्दरसरूपी (अन्धसः) अन्न से हमारी (पाहि) रक्षा कीजिये, या हमारे मधुर भक्तिरसरूपी आध्यात्मिक-अन्न की रक्षा कीजिये।

२२. इन्द्र क्रतुविदं सुतं सोमं हर्य पुरुष्टुत।
पिबा वृषस्व तातृपिम् ॥२॥

(हर्य) हे कामना के योग्य, (पुरुष्टुत) बहुत स्तुतियोंवाले, (इन्द्र) परमेश्वर! (क्रतुविदम्) दृढ़संकल्प बुद्धि तथा कर्मशक्ति देनेवाले (सुतं सोमम्) उत्पन्न भक्तिरस का (पिब) आप पान कीजिये। और प्रतिफल में (तातृपिम्) तृप्तिदायक आनन्दरस की (वृषस्व) वर्षा कीजिये।

[सोम के सम्बन्ध में 'पाहि' तथा 'पिब' दोनों प्रयोग होते हैं। (द्र०—६।१; तथा ६।२)।]

२३. इन्द्र प्र णो धितावानं यज्ञं विश्वेभिर्देवेभिः।
तिर स्तवान विश्पते ॥३॥

(स्तवान) हे वेदों के द्वारा जीवन-मार्ग का उपदेश देनेवाले, (विश्पते) प्रजाओं के स्वामिन्, (इन्द्र) परमेश्वर! आप (विश्वेभिः देवेभिः) समग्र दिव्य शक्तियों द्वारा (नः) हमारे (धितावानम्) हितकर (यज्ञम्) उपासना-यज्ञ को (प्र तिर) बढ़ाइये, प्रगति दीजिये।

२४. इन्द्र सोमाः सुता इमे तव प्र यन्ति सत्पते।
क्षयं चन्द्रास इन्दवः ॥४॥

(सत्पते) हे सच्चे स्वामी परमेश्वर! (इमे) ये (सुताः) निष्पन्न (सोमाः) भक्तिरस (तव) आप के लिये हैं। (चन्द्रासः) ये आह्लादकारी (इन्दवः) तथा अध्यात्मप्रकाश देनेवाले भक्तिरस, (क्षयम्) सब के निवास-रूप आपके प्रति (प्र यन्ति) प्रयाण कर रहे हैं, प्रवाहित हो रहे है।

[चन्द्रासः=चदि आह्लादने। **इन्दवः=इन्धी दीप्तौ** (निरुक्त १०।४।४१)।]

२५. दुधिष्वा जठरे सुतं सोममिन्द्र वरेण्यम् ।
तव द्युक्षास इन्दवः ॥५॥

जैसे व्यक्ति अन्न को (जठरे) अपने उदर में धारण करता है, वैसे (इन्द्र) हे परमेश्वर ! (वरेण्यम्) स्वीकार करने योग्य श्रेष्ठ (सुतं सोमम्) उत्पन्न भक्तिरस को (दधिष्व) आप अपने में धारण कीजिये। (द्युक्षासः) अध्यात्म-प्रकाश देनेवाले और आध्यात्मिक अन्तरायों का क्षय करनेवाले (इन्दवः) भक्तिरस (तव) आप के लिये हैं।

[द्युक्षासः=द्यु (=प्रकाश)+क्ष=क्षीण करनेवाले।]

२६. गिर्वणः पाहि नः सुतं मधोर्धाराभिरज्यसे ।
इन्द्र त्वादातमिद् यशः ॥६॥

(गिर्वणः) हे वेदवाणियों द्वारा भजनीय ! (सुतम्) निष्पन्न (नः) हमारे भक्तिरस की (पाहि) आप रक्षा कीजिये। आप (मधोः) मधुर भक्तिरस की (धाराभिः) धाराओं द्वारा (अज्यसे) सींचे जा रहे हैं। (इन्द्र) हे परमेश्वर ! (यशः) भक्तिरस के प्रकट होने का यश (त्वादातम् इत्) आप द्वारा ही दिया गया है।

२७. अभि द्युम्नानि वनिन इन्द्रं सचन्ते अक्षिता ।
पीत्वी सोमस्य वावृधे ॥७॥

(वनिनः) भक्तिरसवाले उपासक के (अक्षिता) न क्षीण होनेवाले अर्थात् सतत-प्रवाही, भक्तिरसरूपी (द्युम्नानि) धन, (इन्द्रम् अभि) परमेश्वर की ओर (सचन्ते) प्रवाहित हो रहे हैं। परमेश्वर (सोमस्य) भक्तिरस का (पीत्वी) पान करके (वावृधे) उपासक की वृद्धि करता है। [**सचन्ते**= **गतिकर्मा** (निघं० २।१४)।]

२८. अर्वावतो न आ गहि परावतश्च वृत्रहन् ।
इमा जुषस्व नो गिरः ॥८॥

(वृत्रहन्) हे पाप-वृत्रघाती परमेश्वर ! (अर्वावतः) अवराविद्या-वाले, (च) और (परावतः) पराविद्यावाले (नः) हम उपासकों को (आ गहि) आप प्राप्त हूजिये। और (नः) हमारी (इमा गिरः) इन स्तुति-वाणियों का आप (जुषस्व) प्रीतिपूर्वक सेवन कीजिये।

[अभिप्राय यह है कि परमेश्वर की प्राप्ति के लिये धारणा ध्यान समाधि तथा श्रद्धा और ईश्वर-प्रणिधान आदि की आवश्यकता है। अपरा या पराविद्या की पुस्तकीय विद्याओं की आवश्यकता नहीं।]

२९. यदन्तरा परावतमर्वावतं च हूयसे । इन्द्रेह तत आ गहि ॥९॥

(यद्) यतः (परावतम्) पराविद्या और (अर्वावतम्) अपराविद्या से (अन्तरा) रहित, अर्थात् केवल भक्तिपरायण उपासकों द्वारा भी आप (हूयसे) पुकारे जाते हैं, प्रार्थित होते हैं, अतः (इह) इस भक्तिपरायण उपासक में भी (इन्द्र) हे परमेश्वर ! आप (आ गहि) प्रकट हूजिये। (ततः) आप सर्वत्र वितत हैं, विस्तृत हैं, व्यापक हैं।

सूक्त ७

१-३ सुकक्षः, ४ विश्वामित्रः । इन्द्रः । गायत्री ।

३०. उद् घेदभि श्रुतामघं वृषभं नर्यापसम् । अस्तारमेषि सूर्य ॥१॥

(सूर्य) हे सूर्यों के सूर्य ! आप (घ) निश्चय से (इत्) अवश्य, (अभि) ऐसे उपासक के प्रति (उद् एषि) प्रत्यक्षरूप में उदित होते हैं, (श्रुता-मघम्) जिसकी कि आध्यात्मिक-सम्पत्ति विश्रुत है, प्रसिद्ध है, (वृषभम्) और जो अन्यों पर उपदेशामृत की वर्षा करता है, तथा (नर्यापसम्) जिस के कर्म नर-नारियों के लिये हितकर हैं, (अस्तारम्) और जिसने अपने पाप-शत्रुओं को परास्त कर दिया है।

३१. नव यो नवतिं पुरो बिभेद बाह्वोजसा । अहिं च वृत्रहावधीत् ॥२॥

(यः) जिस सूर्यों के सूर्य ने (बाह्वोजसा) निज ओजरूपी बाहुओं द्वारा (नवति नव) ९९ (पुरः) पाप-गढ़ों को (बिभेद) छिन्न-भिन्न कर दिया है, उसी परमेश्वर ने, (वृत्रहा) जो कि पापों का विनाशक है, (अहिं च) पाप-सांपों का भी (अवधीत्) वध कर दिया है।

[वृत्रः—वे पाप जिन्होंने जीवनों पर घेरा डाला हुआ है, जो कि प्रकटरूप मे जीवनों को घेरे हुए हैं। अहिः—पाप-सांप वे पाप हैं, जो कि संस्काररूप में छिपे पड़े रहते हैं, और प्रकटरूप में उद्बुद्ध नहीं हुए। नवतिनव—ये ९९ पाप-गढ़ निम्नलिखित हैं—५ ज्ञानेन्द्रियां, ५ कर्मेन्द्रियां, और १ मन (अहंकार) ये ११ प्रमुख पाप-गढ़ हैं। सत्त्व रजस् तमस

इन तीनों के परस्पर मेल से ३ × ३ = ६ भेद होते हैं। उपर्युक्त ११ पाप-गढ़ों के प्रत्येक के ६ भेदों से ६६ पाप-गढ़ होते हैं। इनमें पाप-सांप छिपे पड़े रहते हैं।]

**३२. स न इन्द्रः शिवः सखाश्वावद् गोमद् यवमत् ।
उरुधारेव दोहते ॥ ३ ॥**

(सः) वह (इन्द्रः) परमेश्वर (शिवः) कल्याणकारी है वह (नः) हमारा (सखा) वास्तविक सखा है। वह हमें (अश्वावत्) मानसिक (गोमत्) और ऐन्द्रियिक सम्पत्तियों के साथ-साथ (यवमत्) जौ आदि के रूप में शारीरिक सम्पत्तियां (उरुधारा इव) महाधाराओं के रूप में (दोहते) प्रदान करता है।

[अश्व = मन। "श्वेताश्वतरोपनिषद्" इस शब्द में कई विचारक "अश्व" का अर्थ मन करके, "अधिकतर सात्विक मनसम्बन्धी उपनिषद्" ऐसा अर्थ करते हैं। मन को ११ वीं इन्द्रिय मान कर, अश्वसमान इन्द्रियों में उसे भी 'अश्व' कहा जा सकता है। गौ = इन्द्रियां (उणादि कोष, २।६७, वैदिकयन्त्रालय, अजमेर)। अथवा अश्व और गौ इन प्राकृतिक सम्पत्तियों की मांग मन्त्र में की गई है। मनुस्मृति २।९२ में मन को उभयात्मक इन्द्रिय कहा है।]

३३. इन्द्र क्रतुविदं सुतं सोमं हर्य पुरुष्टुत । पिबा वृषस्व तातृपिम् ॥४॥

देखो—मन्त्र संख्या २२।

सूक्त ८

१ भरद्वाजः, २ कुत्सः, ३ विश्वामित्रः । इन्द्रः । त्रिष्टुप् ।

**३४. एवा पाहि प्रत्नथा मन्दतु त्वा श्रुधि ब्रह्म वावृधस्वोत गीर्भिः ।
आविः सूर्यं कृणुहि पीपिहीषो जहि शत्रूँरभि गा इन्द्र तृन्धि ॥१॥**

(एवा = एवम्) इस प्रकार अर्थात् तृप्तिकारक आनन्दरस की वर्षा द्वारा (मन्त्र ३२ और ३३) (प्रत्नथा) अनादिकाल के सदृश आप (पाहि) हमारी रक्षा कीजिये। हमारा भक्तिरस (त्वा) आप को (मन्दतु) हर्षित करे, प्रसन्न करे। हमारी (ब्रह्म) ब्रह्मविषयक स्तुतियों को (श्रुधि) सुनिये। (उत) और (गीर्भिः) इन स्तुतियों के कारण (वावृधस्व) हमारी वृद्धि कीजिये। (सूर्यम्) हमारे तृतीय-नेत्र को (आविः कृणुहि) आविष्कृत कीजिये, प्रकट कीजिये। (इषः) हमारी अभिलाषाओं को (पीपिहि) प्रगति दीजिये या बढ़ाइये। हमारे (शत्रून्) कामादि शत्रुओं का (जहि) हनन कीजिये। (इन्द्र) हे परमेश्वर! (गाः) हमारी पार्थिव अभिलाषाओं को (अभितृन्धि) काट दीजिये। [पीपिहि = पि गतौ; प्यायी वृद्धौ। सूर्यम् = "चक्षोः सूर्योऽजायत" (यजु० ३१।१२)। गाः = गौ पृथिवी (निघ० १।१) अर्थात् पार्थिव अभिलाषाएं। तृन्धि = तृह् हिंसायाम्।]

**३५. अर्वाङेहि सोमकामं त्वाहुरयं सुतस्तस्य पिबा मदाय ।
उरुव्यचा जठर आ वृषस्व पितेव नः शृणुहि हूयमानः ॥२॥**

हे परमेश्वर! (अर्वाङ् एहि) हमारी ओर कृपादृष्टि कीजिये। (सोमकामं त्वा आहुः) आप के सम्बन्ध में उपासक कहते हैं कि आप भक्ति-रस की कामना करते हैं। (अयम्) यह भक्तिरस (सुतः) निष्पन्न हुआ है, (तस्य) उस का आप (मदाय) अपनी प्रसन्नता के लिये (पिब) पान कीजिये। (उरुव्यचाः) आप अतिविस्तारवाले हैं, सर्वगत हैं, (जठरे) वृद्धावस्था के कारण कठोर शरीरवाले उपासक पर (आ वृषस्व) आनन्दरस की वर्षा कीजिये। (हूयमानः) बुलाए जाने पर (शृणुहि) मेरी प्रार्थनाओं को सुनिये, (इव पिता) जैसे कि पिता सन्तानों की प्रार्थनाओं को सुनता है। [उरु-व्यचाः = उरु + वि + अञ्च् गतौ। जठरम् = कठिनम् (उणादि कोष, वैदिक यन्त्रालय अजमेर, ५।३८)।]

**३६. आपूर्णो अस्य कलशः स्वाहा सेक्तेव कोशं सिसिचे पिबध्यै ।
समु प्रिया आववृत्रन् मदाय प्रदक्षिणिदभि सोमास इन्द्रम् ॥३॥**

(अस्य) इस उपासक का (कलशः) हृदय-कलश (आपूर्णः) भक्तिरस से पूरा भरा हुआ है, (स्वाहा) यह आहुतिरूप में आप के प्रति समर्पित है। (इव) जैसे (पिबध्यै) पीने के लिये (सेक्ता) दूध आदि का सींचनेवाला (कोशम्) अपने अन्नमय कोश को, शरीर को (सिसिचे) सींचता है, वैसे मैं उपासक भक्तिरस को आप पर सींचता हूं। (प्रियाः) आप के प्रिय (सोमासः) भक्तिरस (मदाय) आप की प्रसन्नता के लिये (इन्द्रम् अभि) आप परमेश्वर की ओर (सम् आववृत्रन्) सम्यक् रूप में प्रवृत्त हुए हैं। और इस उपासक ने आनन्दरस के रूप में (प्रदक्षिणित्) प्रकृष्ट दक्षिणा प्राप्त कर ली है।

[प्रदक्षिणित्=प्र (=प्रकृष्ट)+दक्षिणा+इत् (इण् गतौ, क्विप्, तुक्) वैदिक प्रयोग ।]

सूक्त ९

१-२ नोधाः, ३-४ मेध्यातिथिः । इन्द्रः । १-२ त्रिष्टुप्, ३-४ प्रगाथः (=बृहती+सतो बृहती) ।

३७. तं वो दुस्ममृतीषहं वसोर्मन्दानमन्धसः ।
अभि वत्सं न स्वसरेषु धेनव इन्द्रं गीर्भिर्नवामहे ॥१॥

हे उपासको ! (वः) तुम्हारे लिये,(दस्मम्) दुःखों का क्षण करनेवाले,(ऋतीषहम्)आर्तियों अर्थात् पीड़ाओं और क्लेशों का पराभव करनेवाले, (वसोः) सम्पत्तियों तथा (अन्धसः) अन्नों से (मन्दानम्) तुम्हें तृप्त और प्रसन्न करनेवाले, (तम् इन्द्रम्) उस परमेश्वर के (अभि) प्रति (स्वसरेषु) प्रतिदिन (गीर्भिः) वेदवाणियों द्वारा (नवामहे) हम स्तुति-वचन उच्चारण करते हैं; (न) जैसे कि (वत्सम्) अपने-अपने बछड़े के प्रति प्रतिदिन (धेनवः) दूधभरी गौएं प्रीतिपूर्वक हम्भारती हैं। [अथवा (वः दस्मम्) तुम्हारे अज्ञान का क्षय करनेवाले ।]

३८. द्युक्षं सुदानुं तविषीभिरावृतं गिरिं न पुरुभोजसम् ।
क्षुमन्तं वाजं शतिनं सहस्रिणं मक्षू गोमन्तमीमहे ॥२॥

(द्युक्षम्)द्युलोकनिवासी या सदा निज प्रकाश में निवास करनेवाले, (सुदानुम्) उत्तम-दानी, (तविषीभिः) नाना शक्तियों से (आवृतम्) घिरे हुए अर्थात् नाना शक्तियोंवाले, (गिरिं न) मेघ के सदृश (पुरुभोजसम्)सब की पालना करनेवाले, (क्षुमन्तम्) सत्प्रेरणाओं के प्रदाता अथवा अन्नों के स्वामी,(वाजम्) बलस्वरूप, (शतिनं सहस्रिणम्) सैंकड़ों और हजारों लोकलोकान्तरों के स्वामी (गोमन्तम्) तथा वेदवाणी के स्वामी को (मक्षू) शीघ्र(ईमहे) हम प्राप्त होते हैं । [गिरि=मेघ (निघ० १।१०) । मक्षू=क्षिप्रनाम (निघं० २।१५) । क्षुमन्तम्=क्षु शब्दे तथा अन्ननाम (निघ० २।७) । गौः=वाक् (निघं० १।११) ।]

३९. तत् त्वा यामि सुवीर्यं तद् ब्रह्म पूर्वचित्तये ।
येना यतिभ्यो भृगवे धने हिते येन प्रस्कण्वमाविथ ॥३॥

(यतिभ्यः) योगमार्ग पर यत्न करनेवाले यतियों के लिये, तथा (भृगवे) तप द्वारा कायिक और ऐन्द्रियिक मलों का भर्जन करनेवाले तपस्वी-जन के लिये, (हिते धने) उनके हितकर मोक्षधन की प्राप्ति के निमित्त, हे परमेश्वर ! आप (येन) जिस सात्विकवीर्य और (येन) जिस ब्रह्मविद्या से सम्पन्न (प्रस्कण्वम्) महामेधावी सद्गुरु को, समय-समय पर (आविथ) भूमण्डल पर भेजते रहते हैं, (तत्) उस (सुवीर्यम्) सात्विक वीर्य की, तथा (तत्) उस (ब्रह्म) ब्रह्मविद्या की (त्वा यामि) प्रार्थना मैं आप से करता हूं । (पूर्वचित्तये) ताकि मुझे पूर्व चेतना प्राप्त हो सके[1] ।

[यतिभ्यः=यती प्रयत्ने । भृगवे=भ्रस्ज पाके । भृगवे पद में जात्येक-वचन है । प्रस्कण्वम्, कण्व=मेधावी (निघ० ३।१५), प्रस्कण्व=महा मेधावी । यामि=याच्ञाकर्मा (निघं० ३।१९)। आविथ=अव् (=अवाप्ति प्रवेश)। पूर्वचित्ति=पूर्वचेतना=भविष्य में होनेवाली घटनाओं का पूर्वज्ञान, ताकि अभ्यासी उन दुर्घटनाओं से अपनी रक्षा कर सके । यथा—परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम् (योग० ३।१६) । अतीत का अर्थ है—भूत, और अनागत का अर्थ है—भविष्य । योगी संयम द्वारा अतीत और अनागत घटनाओं का परिज्ञान कर सकता है । इस पूर्वचित्ति के लिये "सुवीर्य और ब्रह्मविद्या" की आवश्यकता है ।]

४०. येना समुद्रमसृजो महीरपस्तदिन्द्र वृष्णि ते शवः ।
सद्यः सो अस्य महिमा न संनशे यं क्षोणीरनुचक्रदे ॥४॥

(येन) जिस सामर्थ्य से आपने (समुद्रम्) समुद्र का, और उस में (महीः अपः) महाराशिरूप में जलों का (असृजः) सर्जन किया है, (इन्द्र) हे परमेश्वर ! (तत्) वह (वृष्णि) वर्षाकारी (शवः) सामर्थ्य (ते) आप का ही है । (अस्य) इस परमेश्वर की (सः) वह (महिमा) महिमा (सद्यः) शीघ्र (संनशे न) नहीं समझी जा सकती, (यम्) जिस महिमा को (क्षोणीः) अन्तरिक्ष वर्षाकाल में (अनु चक्रदे) बार-बार गुंजाता रहता है ।

[अभिप्राय यह है कि परमेश्वर में वर्षाकारी सामर्थ्य है । उसी के द्वारा समुद्रों का सर्जन हुआ है, और अन्तरिक्ष में मेघों की गर्जनाएं होती हैं ।]

---

१. "प्रस्कण्वमाविथ" के भाव का आंशिकरूप निम्न श्लोक में देखिये—
यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥ (गीता४।७)

सूक्त १०

मेध्यातिथिः । इन्द्रः । प्रगाथः (=बृहती+सतोबृहती) ।

४१. उदु त्ये मधुमत्तमा गिर स्तोमास ईरते ।
सत्राजितो धनसा अक्षितोतयो वाजयन्तो रथा इव ॥१॥

(उ) निश्चय से (त्ये) वे (मधुमत्तमाः) अत्यन्त मधुर (गिरः) स्तुतिवाणियां, तथा (स्तोमासः) सामगान, (उद् ईरते) हम उपासकों के हृदयों से उत्थित हो रहे हैं। ये स्तुतिवाणियां और सामगान (सत्राजितः) विक्षेपवृत्तियों पर वास्तव में विजय पाते हैं, (धनसाः) आध्यात्मिक विभूतियां प्रदान करते हैं, (अक्षितोतयः) इनके द्वारा पाई रक्षाएं क्षीण नहीं होतीं, और ये (रथाः इव) रथों के सदृश (वाजयन्तः) उद्देश्य की ओर वेग प्रदान करते हैं।

४२. कण्वा इव भृगवः सूर्या इव विश्वमिद्धीतमानशुः ।
इन्द्रं स्तोमेभिर्महयन्त आयवः प्रियमेधासो अस्वरन् ॥२॥

(सूर्या इव) सूर्य की किरणें जिस प्रकार जगत् को शुद्ध करती हैं, इसी प्रकार अपने कायिक ऐन्द्रियिक और मानसिक मलों का (भृगवः) भर्जन करनेवाले तपस्वीजन भी (कण्वा इव) निमीलित-नेत्र होकर ध्यान करनेवाले योगियों के समान (विश्वं धीतम्) ध्यानाभ्यास के सब फलों को (आनशुः) प्राप्त कर लेते हैं। परन्तु (प्रियमेधासः) उपासनायज्ञों के साथ प्रीति रखनेवाले (आयवः) सर्वसाधारण उपासक जन, (स्तोमेभिः) सामगानों द्वारा (इन्द्रं महयन्तः अस्वरन्) परमेश्वर की महिमा का स्वरपूर्वक गान ही करते रहते हैं।

[धीतम् =ध्यातम्, ध्यानफलम्, आधीतम् अभिप्रेतम् (निरु० १।३।३) अथवा "धीतम्"=आनन्दरस का पान, जो कि योग द्वारा साध्य होता है। धेट् पाने।]

सूक्त ११

विश्वामित्रः । इन्द्रः । त्रिष्टुप् ।

४३. इन्द्रः पूर्भिदातिरद् दासमर्कैर्विदद्वसुर्दयमानो वि शत्रून् ।
ब्रह्मजूतस्तन्वा वावृधानो भूरिदात्र आपृणद् रोदसी उभे ॥१॥

(इन्द्रः) परमेश्वर (पूर्भिद्) देहपुरियों का भेदन करता है अर्थात् मृत्यु को करता, तथा मोक्षावस्था के अधिकारियों के देहों का भेदन कर उन्हें मोक्ष प्रदान करता है। और (दासम्) क्षयकारी अविद्या आदि का (अर्कैः) निज तीक्ष्ण प्रकाशों द्वारा (आतिरत्) तिरोधान अर्थात् विनाश करता है। (विदद्वसुः) प्राकृतिक और आध्यात्मिक सम्पत्तियों का दाता परमेश्वर (शत्रून्) उपासकों के प्रतिबन्धकों का (वि दयमानः) विशेषतया हनन करता है। (तन्वा) निज विस्तार से (वावृधानः) बढ़ा हुआ परमेश्वर (ब्रह्मजूतः) वैदिक स्तुतियों द्वारा प्रेरित होता है। उसने (भूरिदात्रे) प्रभूतदानी त्यागी व्यक्ति के लिये (उभे रोदसी) दोनों भूलोक-द्युलोक (आपृणाद्) दानरूप में दे रखे हैं। [पृणाति=दानकर्मा (निघं० ३।२०)।]

४४. मखस्य ते तविषस्य प्र जूतिमियर्मि वाचममृताय भूषन् ।
इन्द्र क्षितीनामसि मानुषीणां विशां दैवीनामुत पूर्वयावा ॥२॥

हे परमेश्वर! (मखस्य) यज्ञस्वरूप और (तविषस्य) बलस्वरूप (ते) आपके (जूतिम्) दिये वेग अर्थात् प्रेरणा को मैंने प्राप्त किया है। आप के प्रति (वाचम्) स्तुति-वचनों को (प्र इयर्मि) मैं प्रेरित करता हूं, (अमृताय) ताकि आप-अमृत को मैं पा सकूं। इस प्रकार मैं अपने आपको (भूषन्) विभूषित करता हूं। (इन्द्र) हे परमेश्वर! आप (क्षितीनाम्) सब लोक-लोकान्तरों के, (मानुषीणां विशाम्) समग्र मानुष प्रजाओं के (उत) तथा (दैवीनां विशाम्) समग्र दैवत प्रजाओं के (पूर्वयावा) अग्रगन्ता अर्थात् अग्रणी (असि) हैं।

४५. इन्द्रो वृत्रमवृणोच्छर्धनीतिः प्र मायिनाममिनाद् वर्पणीतिः ।
अहन् व्यंसमुशधग् वनेष्वाविर्धेना अकृणोद् राम्याणाम् ॥३॥

(शर्धनीतिः) बलप्रयोग की नीतिवाले (इन्द्रः) परमेश्वर ने (वृत्रम्) पाप-वृत्र पर (अवृणोत्) घेरा डाल दिया है; (वर्पणीतिः) प्रजा को रूपवान् करने की नीतिवाले परमेश्वर ने (मायिनाम्) छलकपटोंवाले प्रजाजनों के छलकपटरूपी वृत्रों का (अमिनात्) हनन किया है; (उशधग्) केवल निज कामना द्वारा दहन कर देनेवाले परमेश्वर ने कामादि के (व्यंसम्) अङ्ग-प्रत्यङ्ग का (अहन्) हनन कर दिया है; और (वनेषु राम्याणाम्) वनों में

रहनेवाले प्रसादनीय वानप्रस्थ-उपासकों के प्रति परमेश्वर ने (धेनाः) अपनी वेदवाणियां (आविः अकृणोत्) प्रकट की हैं, उनके रहस्यार्थ प्रकट किये हैं।

[शर्धः=बलम् (निघं० २।९)। वर्पः=रूपम् (निघ० ३।७)। (व्यंसम्=अंसों अर्थात् कन्धों को काटकर हाथों से रहित कर देना। उश=वश कान्तौ=इच्छा। परमेश्वरीय दण्ड-विधान की नीति का प्रयोजन है—प्रजा की दुर्भावनाओं को हटाकर उन्हें सुन्दर सात्त्विकरूप का कर देना। मन्त्र में राजव्यवस्था के राजनैतिक कर्तव्यों का भी वर्णन साथ-साथ हुआ है।]

४६. इन्द्रः स्वर्षा जनयन्नहानि जिगायोशिग्भिः पृतना अभिष्टिः।
प्रारोचयन्मनवे केतुमह्नामविन्दज्ज्योतिर्बृहते रणाय ॥४॥

(अहानि) दिनों को (जनयन्) उत्पन्न करता हुआ (इन्द्रः) परमेश्वर (स्वर्षाः) सुखों का प्रदान करता है। (अभिष्टिः) अभीष्ट साधक परमेश्वर (उशिग्भिः) मेधावी व्यक्तियों के द्वारा (पृतनाः) कामादि की सेनाओं पर (जिगाय) विजय पाता है। (मनवे) मनुष्य-जाति के लिये (अह्नां केतुम्) दिनों के झण्डे सूर्य को (प्रारोचयत्) परमेश्वर ने चमकाया है। और (बृहते रणाय) महारमणीयता प्रकट करने के लिये (ज्योतिः) महा-ज्योतिरूप सूर्य को (अविन्दत्) उसने अपनाया है।

[मन्त्र में कई भावनायें गुम्फित हुई हैं। उपासकों के लिये मानो नये दिन प्रकट हुए हैं, जबकि उन्हें स्वर्गीय आनन्द मिला है। मनन और निदिध्यासन करनेवाले उपासक जनों के लिये उनके नये दिनों का केतु अर्थात् आध्यात्मिक-सूर्य चमका है, और जीवन को महारमणीय बनाने के लिये उन्हें महाज्योति प्राप्त हुई है। मन्त्र में इन्द्र अर्थात् सम्राट् के कर्तव्यों का भी वर्णन हुआ है।]

४७. इन्द्रस्तुजो बर्हणा आ विवेश नृवद् दधानो नर्या पुरूणि।
अचेतयद् धिय इमा जरित्रे प्रेमं वर्णमतिरच्छुक्रमासाम् ॥५॥

(इन्द्रः) परमेश्वर (तुजः) उपासक-पुत्र की (बर्हणा) अविद्या-विनाशिनी शक्ति के कारण उसके हृदय में (आ विवेश) प्रवेश पाता है। वह (नर्या) नरहितकारी (पुरूणि) प्रभूत सामग्री (दधानः) धारण किये हुए है, (नृवत्) जैसे कि कोई श्रेष्ठ नर परोपकारार्थ प्रभूत सामग्री धारण करता है। (जरित्रे) स्तोता के लिये परमेश्वर (इमाः धियः) इन सात्विक बुद्धियों को (अचेतयत्) जागरित करता है, और (आसाम्) इन बुद्धियों के (इमम्) इस (शुक्रं वर्णम्) सात्विक विशुद्ध स्वरूप को (अतिरत्) बढ़ाता है।

[तुजः, तुक्=अपत्य (निघ० २।२)। बर्हणा=बर्ह हिंसायाम्। अतिरत्=तिरते वर्धयते (निरु० ११।१।६)।]

४८. महो महानि पनयन्त्यस्येन्द्रस्य कर्म सुकृता पुरूणि।
वृजनेन वृजिनान्त्सं पिपेष मायाभिर्दस्यूँरभिभूत्योजाः ॥६॥

उपासक जन (अस्य) इस (इन्द्रस्य) परमेश्वर के (महः महानि) महान् से महान् (पुरूणि) नानाविध (सुकृता कर्म) सत्कर्मों का (पनयन्ति) स्तवन करते हैं। (अभिभूत्योजाः) पराभवकारी ओज से सम्पन्न परमेश्वर ने (वृजनेन) निज स्वाभाविक बल द्वारा (मायाभिः) छलकपटों से युक्त (वृजिनान्) पापरूप (दस्यून्) क्षयकारी दुर्भावों और दुष्कर्मों को (सं पिपेष) सम्यक्तया पीस दिया है।

[वृजन=बल (निघ० २।९)। उपासक अनुभव कर रहा है कि परमेश्वर ने उसके छल-कपट आदि पापों को नितान्त समाप्त कर दिया है। राष्ट्र का राजा भी पापियों को पीस दे, यह राजनैतिक भावना भी मन्त्रोक्त है।]

४९. युधेन्द्रो मह्ना वरिवश्चकार देवेभ्यः सत्पतिश्चर्षणिप्राः।
विवस्वतः सदने अस्य तानि विप्रा उक्थेभिः कवयो गृणन्ति ॥७॥

(सत्पतिः) सच्चे-रक्षक और (चर्षणिप्राः) प्रजाजनों को सुखों से भरपूर करनेवाले परमेश्वर ने (मह्ना युधा) आसुर शक्तियों के साथ महायुद्ध द्वारा (देवेभ्यः) दिव्य-उपासकों के लिये (वरिवः) वरणीय मोक्ष-धन (चकार) प्रकट कर दिया है। (विवस्वतः) सूर्य के (सदने) सदन अर्थात् इस पृथिवी पर, वा—(विवस्वतः) अज्ञानान्धकार को दूर करनेवाले परमेश्वर के हृदय-सदन में ध्यान लगाये (विप्राः कवयः) मेधावी-कवि उपासक (अस्य) इस परमेश्वर के (तानि) उन सत्कर्मों का (उक्थेभिः) सूक्तों द्वारा (गृणन्ति) स्तवन करते हैं। [वरिवः=धन(निघ० २।१०)।]

५०. सत्रासाहं वरेण्यं सहोदां ससवांसं स्व॑रपश्च देवीः ।
ससान यः पृथिवीं द्यामुतेमामिन्द्रं मदन्त्यनु धीरणासः ॥८॥

(यः) जिसने हमारे लिये (पृथिवीम्) पृथिवी (उत) और (इमां द्याम्) यह द्युलोक (ससान) दिया है, उस (सत्रासाहम्) वस्तुतः पराक्रमशील, (वरेण्यम्) वरणीय, (सहोदाम्) बलप्रदाता, (स्वः) प्रकाश अथवा सूर्य और (देवीः अपः) दिव्यजलों के (ससवांसम्) प्रदाता (इन्द्रम्) परमेश्वर की, (धीरणासः) आध्यात्मिक-प्रज्ञा में रमण करनेवाले उपासक (अनु) निरन्तर (मदन्ति) स्तुतियां करते हैं।

[सत्रा=सत्यम् (निघ० ३।१०) । स्वः=आदित्यः (निरु० २।४।१४); स्वः=भासम् (निरु० ५।३।१६)।]

५१. ससानात्याँ उत सूर्यं ससानेन्द्रः ससान पुरुभोजसं गाम् ।
हिरण्ययमुत भोगं ससान हत्वी दस्यून् प्रार्यं वर्णमावत् ॥९॥

(इन्द्रः) परमेश्वर ने हमें (अत्यान्) सतत-गतिशील श्वासप्रश्वास (ससान) दिये हैं, (उत) और (सूर्यम्) सूर्य (ससान) दिया है। तथा (पुरुभोजसम्) सब को पालनेवाली (गाम्) पृथिवी (ससान) दी है। (उत) और (हिरण्ययम्) सोना-चान्दी के सदृश (भोगम्) भोगसाधन (ससान) दिये हैं। तथा (दस्यून्) क्षयकारी काम आदि दुर्वासनाओं का (हत्वी) हनन करके (वर्णम्) वरण करने योग्य (आर्यम्) आस्तिक-भावना की (प्र आवत्) परमेश्वर ने रक्षा की है।

[अत्यान्='अत्य' का अर्थ है—सततगतिशील । अश्विनौ का पर्याय-वाची शब्द है—'नासत्यौ'। नासत्यौ के सम्बन्ध में निरुक्त में 'नासिकाप्रभवौ बभूवतुरिति वा' (६।३।१३) भी कहा है। नासिका से पैदा होनेवाले हैं 'श्वास और प्रश्वास'। 'अश्विनौ' को 'देवानां भिषजौ' भी कहा है। श्वास-प्रश्वास इन्द्रिय आदि दिव्य शक्तियों के भिषक् हैं=चिकित्सक हैं=उनके रोगों के निवारक हैं। शुद्ध श्वास-प्रश्वास शारीरिक-मलों को दूर कर शरीर को स्वस्थ रखते हैं। 'नासत्यौ' का अर्थ है— 'नासा+अत्यौ, अर्थात् नासिका में सतत गति करनेवाले, मानो दो अश्व। श्वास-प्रश्वास यावज्जीवन शरीर में या नासिका में सतत गति करते रहते हैं। अत्यः=अश्वः (निघं० १।१४) । वर्णम्=व्रियतेऽसौ वर्णः (निघं० दयानन्द), अर्थात्

वर्ण वह है जिसे कि कर्मों द्वारा स्वीकृत किया जाता है, न कि जन्मद्वारा। आर्यम्='आर्यः ईश्वरपुत्रः' (निरु० ६।५।२६), अर्थात् जो अपने आप को ईश्वर का पुत्र मानता है वह 'आर्य' है, अर्थात् आस्तिक भावनावाला। इसलिये आर्यत्व जन्मकृत नहीं, अपितु आस्तिक-भावनाकृत है।]।

५२. इन्द्र ओषधीरसनोदहानि वनस्पतीँरसनोदन्तरिक्षम् ।
बिभेद वलं नुनुदे विवाचोऽथाभवद् दमिताभिक्रतूनाम् ॥१०॥

(इन्द्रः) ईश्वर ने (ओषधीः) ओषधियां, (अहानि) और प्रकाशमय दिन (असनोत्) दिये हैं। (वनस्पतीन्) वनस्पतियां (अन्तरिक्षम्) और अन्तरिक्ष (असनोत्) दिये हैं। (वलम्) आवरण डालनेवाले कामादि को (बिभेद) परमेश्वर ने छिन्न-भिन्न किया है। (विवाचः) वेदविरुद्ध नास्तिकता का कथन करनेवाले नास्तिकों को (नुनुदे) धकेल दिया है। (अथ) और (दमिता) नास्तिकता की भावनाओं को दबानेवाला, नियन्त्रित करनेवाला परमेश्वर (विवाचः) वेदविरुद्धभाषियों के (क्रतूनाम्) संकल्पों कर्मों और प्रज्ञाओं का (अभि अभवत्) पराभव करता है।

५३. शुनं हुवेम मघवानमिन्द्रमस्मिन् भरे नृतमं वाजसातौ ।
शृण्वन्तमुग्रमूतये समत्सु घ्नन्तं वृत्राणि संजितं धनानाम् ॥११॥

(अस्मिन्) इस (भरे) देवासुर-संग्राम में (वाजसातौ) बल की प्राप्ति के निमित्त, (शुनम्) सुखदायक, (मघवानम्) सम्पत्तिशली, (नृतमम्) सर्वश्रेष्ठ नेता (इन्द्रम्) परमेश्वर का (हुवेम) हम उपासक आह्वान करते हैं। वह परमेश्वर (ऊतये) हमारी रक्षा के लिये (शृण्वन्तम्) हमारी प्रार्थनाओं को सुनता है, (उग्रम्) आसुर-भावनाओं के पराभव में उग्र है। (समत्सु) देवासुर-संग्रामों में (वृत्राणि) आसुर-भावनाओं का (घ्नन्तम्) हनन करता है, और (धनानाम्) उन की शक्तियों पर (संजितम्) विजय पाता है।

सूक्त १२

१–६ वसिष्ठः, ७ अत्रिः । इन्द्रः । त्रिष्टुप् ।

५४. उदु ब्रह्माण्यैरयत श्रवस्येन्द्रं समर्ये महया वसिष्ठ ।
आ यो विश्वानि शवसा ततानोपश्रोता म ईवतो वचांसि ॥१॥

हे उपासको ! तुम (श्रवस्या) श्रवण करने योग्य (ब्रह्माणि) ब्रह्म-प्रतिपादक वेदमन्त्रों का (उद् उ) उच्च स्वरों में (ऐरयत) गान किया करो। (वसिष्ठ) तथा हे प्राणसंयमी श्रेष्ठ उपासक ! तू (समर्ये) धन-स्वामियों तथा वैश्यों की सभाओं में (इन्द्रम्) परमेश्वर की (महय) महिमा गाया कर, परमेश्वर-सम्बन्धी उपदेश दिया कर। (यः) जिस परमेश्वर ने कि अपने (यशसा) महायश द्वारा (विश्वानि) सब भुवनों को (आ ततान) सर्वत्र फैलाया है। वह (मे) मेरे (वचांसि) वचनों को (उप) समीप होने के कारण (श्रोता) सुनता है। मेरे हृदय में व्याप्त हुआ-हुआ सुनता है, (ईवतः) जो मैं कि उस परमेश्वर तक पहुंच चुका हूं।

[**वसिष्ठ=प्राण** (छा० उप० ५।१।१३) । **समर्ये=सम्+अर्य= स्वामी और वैश्य** (अष्टा० ३।१।१०३) ।]

५५. अयामि घोषं इन्द्र देवजामिरिरज्यन्त यच्छुरुधो विवाचि ।
नहि स्वमायुश्चिकिते जनेषु तानीदंहांस्यति पर्ष्यस्मान् ॥२॥

(इन्द्र) हे परमेश्वर ! (घोषे) आर्तनादों के उठने पर, (यद्) जब मैं (देवजामिः) आप-देव का बन्धु (प्रयामि) आप की शरण में आता हूं, तब (विवाचि) मेरी मौनावस्था में (शुरुधः) शोक-सन्ताप को रोकने-वाली मेरी चित्तवृत्तियां (इरज्यन्त) आप की परिचर्या में लग जाती हैं। (स्वमायुः) अपना अन्तर्नाद करनेवाला परमेश्वर (जनेषु) सर्वसाधारण जनों में (चिकिते नहि) प्रकट नहीं होता। क्योंकि उन सर्वसाधारण जनों में (तानि इत्) वे प्रसिद्ध (अंहांसि) पाप विद्यमान रहते हैं। हे परमेश्वर! (अस्मान्) हम उपासकों को आप (अति पर्षि) भवसागर से पार कीजिये।

[**इरज्यन्त=परिचरणकर्मा** (निघं० ३।५) । **शुरुधः=शुचं संरुधन्ति** (निरु० ६।३।१५)। **मायुम्=शब्दम्** (निरु० २।३।९)।]

५६. युजे रथं गवेषणं हरिभ्यामुप ब्रह्माणि जुजुषाणमस्थुः ।
वि बाधिष्ट स्य रोदसी महित्वेन्द्रो वृत्राण्यप्रती जघन्वान् ॥३॥

(गवेषणम्) प्रभु की गवेषणा अर्थात् खोज करनेवाले (रथम्) मनोरथों को=मानसिक अभिलाषाओं को (हरिभ्याम्) कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रियरूपी अश्वों समेत, (युजे) जब मैं परमेश्वर के साथ योगयुक्त करता हूं, तब (ब्रह्माणि) ब्रह्मस्तावक मेरे स्तुतिजाप, (जुजुषाणम्) उन का प्रीतिपूर्वक सेवन

करनेवाले परमेश्वर का (उप अस्थुः) उपस्थान करते हैं, उस के समीप उप-स्थित हो जाते हैं। (स्यः) वह ही (इन्द्रः) परमेश्वर (महित्वा) निज महिमा द्वारा (रोदसी) भूलोक और द्युलोक का (वि बाधिष्ट) प्रलयकाल में विनाश कर देता है। वह ही (वृत्राणि) पाप-वृत्रों का (अप्रती=अप्रतीनि) विना विरोध के (जघन्वान्) हनन कर देता है।

५७. आपश्चित् पिप्यु स्तर्यो३ न गावो नक्षन्नृतं जरितारस्त इन्द्र ।
याहि वायुर्न नियुतो नो अच्छा त्वं हि धीभिर्दयसे वि वाजान् ॥४॥

तदनन्तर (आपः चित्) उपासक की प्राणशक्तियां भी (पिप्युः) आप्यायित हो जाती हैं, (न) जैसे कि (स्तर्यः) बांझ (गावः) गौएं खा-खाकर, आप्यायित हो जाती हैं। तब (इन्द्र) हे परमेश्वर ! (ते) आप के (जरितारः) स्तोता (ऋतम्) सत्यमार्ग को (नक्षन्) प्राप्त होते हैं। हे परमेश्वर ! (त्वम्) आप (धीभिः) अपने कर्मों द्वारा (वाजान्) बलों का (वि दयसे) प्रदान करते हैं। (नः) हम (नियुतः) हजारों उपासकों के (अच्छ) संमुख (आ याहि) आप आइये। (न) जैसे कि (वायुः) अन्तरिक्षस्थ वायु हजारों प्राणियों को प्राप्त हो रही है।

[आपः=सप्त प्राण=५ ज्ञानेन्द्रियां, १मन, १बुद्धि । यथा—"**सप्तापः स्वपतो लोकमीयुः**" (यजु० ३४।५५) पर "**सप्त आपनानि षडिन्द्रियाणि विद्या सप्तमी**" (निरु० १२।४।३७) । धीभिः, **धी=कर्म** (निघं० २।१)।]

५८. ते त्वा मदा इन्द्र मादयन्तु शुष्मिणं तुविराधसं जरित्रे ।
एको देवत्रा दयसे हि मर्तानस्मिञ्छूर सवने मादयस्व ॥५॥

(इन्द्र) हे परमेश्वर ! (ते) वे (मदाः) हर्षोत्पादक भक्तिरस (शुष्मिणम्) पापशोषक बलवान्, तथा (तुविराधसम्) महाधनी (त्वा) आप को (मादयन्तु) प्रसन्न करें, (जरित्रे) ताकि आप स्तोता को सफल-मनोरथ करें। (देवत्रा) देवों में आप ही (एकः) एक देव हैं, जो कि (हि) निश्चयपूर्वक (मर्तान्) मनुष्यों की (दयसे) रक्षा कर रहे हैं, उन पर दया कर रहे हैं। (शूर) हे पराक्रमशील ! (अस्मिन्) इस (सवने) भक्ति-यज्ञ में (मादयस्व) आप अपने भक्तों को भी आनन्दरस द्वारा प्रसन्न कीजिये, तृप्त कीजिये।

५९. एवेदिन्द्रं वृषणं वज्रबाहुं वसिष्ठासो अभ्यर्चन्त्यर्कैः ।
स नं स्तुतो वीरवद् धातु गोमद् यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥६॥

हे परमेश्वर ! (वसिष्ठासः) आप में सदा बसनेवाले उपासक, (वृषणम्) आनन्दरसवर्षी, (वज्रबाहुम्) तथा न्यायवज्र द्वारा पापियों को विलोड़ित करनेवाले, (इन्द्रम्) आप परमेश्वर की (एव) ही (अर्कैः) स्तुतिमन्त्रों द्वारा (अभि अर्चन्ति) साक्षात् स्तुतियां करते हैं । (स्तुतः सः) हम उपासकों द्वारा स्तुति पाया हुआ वह परमेश्वर (धातु) हम में ऐसी आध्यात्मिक सम्पदा स्थापित करे, जो कि हमें (वीरवत्) उपासना में अधिक वीर बनाये, और (गोमत) हमारी इन्द्रियों को प्रशस्त करे। हे विभूतियों से सम्पन्न उपासको ! (यूयम्) आप (स्वस्तिभिः) कल्याणमार्गों द्वारा (नः) हमारी (सदा पात) सदा रक्षा करें ।

६०. ऋजीषी वज्री वृषभस्तुराषाट् शुष्मी राजा वृत्रहा सोमपावा ।
युक्त्वा हरिभ्यामुप यासदर्वाङ् माध्यन्दिने सवने मत्सदिन्द्रः ॥७॥

(ऋजीषी) ऋजु अर्थात् सत्यमार्ग चाहनेवाला, (वज्री) न्यायवज्रधारी, (वृषभः) आनन्दरसवर्षी, (तुराषाट्) शीघ्रकष्टहारी, (शुष्मी) बलशाली, (राजा) ब्रह्माण्ड का स्वामी, (वृत्रहा) पापविनाशी, (सोमपावा) भक्तिरस की रक्षा करनेवाला (इन्द्रः) परमेश्वर (हरिभ्याम्) ऋक् और साम की विधियों द्वारा, (युक्त्वा) हम उपासकों को योगयुक्त करके, (अर्वाङ्) हमारी ओर (उपयासत्) हमारे समीप आये, और (माध्यन्दिने) मध्याह्न में अर्थात् युवाकाल की माध्यमिक आयु में किये गये (सवने) उपासना-यज्ञों में (मत्सत्) प्रसन्न होवे, और हमें प्रसन्न करे ।

[हरिभ्याम्=ऋक्सामे वा इन्द्रस्य हरी (ऐत० ब्रा० २।२४) । माध्यन्दिन सवन="पुरुषो वाव यज्ञः । अथ यानि चतुश्चत्वारिंशद् वर्षाणि तन्माध्यन्दिनं सवनम्" (छान्दो० उप० प्रपा० ३, ख० १६) । इस वचन में ४४ वर्ष की आयु को माध्यन्दिन सवन कहा है ।

सूक्त १३

१ वामदेवः, २ गोतमः, ३ कुत्सः, ४ विश्वामित्रः । १ इन्द्राबृहस्पती, २ मरुतः, ३-४ अग्निः । १–३ जगती, ४ त्रिष्टुप् ।

६१. इन्द्रश्च सोमं पिबतं बृहस्पतेऽस्मिन् यज्ञे मन्दसाना वृषण्वसू ।
आ वां विशन्त्विन्दवः स्वाभुवोऽस्मे रयिं सर्ववीरं नि यच्छतम् ॥१॥

(बृहस्पते) हे बृहती-सेना के पति ! आप (च) और (इन्द्रः) सम्राट् आप दोनों, जो कि (वृषण्वसू) प्रजाजनों पर वसुओं अर्थात् सम्पत्तियों की वर्षा करते हो, (मन्दसाना) प्रजाजनों को सदा प्रसन्नता प्रदान करते हो, (अस्मिन्) इस (यज्ञे) उपासना-यज्ञ में सम्मिलित होकर, (सोमम्) भक्तिरस का (पिबतम्) पान किया करो । ताकि (स्वाभुवः) स्वाभावतः प्रकट हो जानेवाले (इन्दवः) हृदयों को क्लेदित कर देनेवाले, द्रवित कर देनेवाले भक्तिरस (वाम्) आप दोनों में भी (आ विशन्तु) प्रवेश पाएं । और आप दोनों (अस्मे) हम उपासकों को (रयिम्) ऐसी सम्पत्ति अर्थात् उत्साह (नि यच्छतम्) प्रदान करें, जिससे हम और (सर्ववीरम्) अन्य सब प्रजाजन धर्मवीर और राष्ट्रवीर बन जायें ।

६२. आ वो वहन्तु सप्तयो रघुष्यदो रघुपत्वानः प्र जिगात बाहुभिः ।
सीदता बर्हिरुरु वः सदस्कृतं मादयध्वं मरुतो मध्वो अन्धसः॥२॥

(मरुतः) हे सैनिक योद्धाओ, या अधिकारियो ! (वः) आप को (रघुष्यदः) शीघ्रगामी रथ तथा (रघुपत्वानः सप्तयः) शीघ्रगामी अश्व (आ वहन्तु) उपासना-यज्ञों में लाया करें । आप (बाहुभिः) अपने बाहुबलों द्वारा (प्र जिगात) शत्रुओं पर विजय पाइये । (बर्हिः) कुशासनों पर (सीदत) आकर बैठिये । (वः) तुम्हारे लिये (उरु) यह महती (सदः कृतम्) यज्ञशाला रची गई है । और (मध्वः) मधुर (अन्धसः) भक्तिरसरूपी आध्यात्मिक-अन्न से (मादयध्वम्) अपनी आत्माओं को प्रसन्न कीजिये ।

[मरुतः="इन्द्रः सेनां मोहतु मरुतो घ्नन्त्वोजसा" (अथर्व० ३।१।६), तथा="असौ या सेना मरुतः परेषामस्मानैत्यभ्योजसा स्पर्धमाना । तां विध्यत…" (अथर्व० ३।२।६) में 'मरुतः' पद द्वारा सैनिक योद्धा अभिप्रेत हैं । रघुष्यदः=रघु (=शीघ्र)+स्यदः (=स्यन्दन अर्थात् रथ); स्यन्दनः=war chariot आपटे)।]

६३. इमं स्तोममर्हते जातवेदसे रथमिव सं महेमा मनीषया ।
भद्रा हि नः प्रमतिरस्य संसद्यग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव॥३॥

(अर्हते) मान योग्य (जातवेदसे) तथा विज्ञ प्रधानमन्त्री के उपस्थित होने पर, इसके मान में हम (मनीषया) बुद्धिपूर्वक सोचकर, (इमम्) इस

(स्तोमम्) प्रशस्तिपत्र को (सं महेम) तय्यार करते हैं; इस प्रशस्तिपत्र को महिमायुक्त करते हैं। (इव) जैसे कि बुद्धिपूर्वक (रथम्) रथ का निर्माण करके उसे महिमायुक्त किया जाता है। (अस्य) इस प्रधानमन्त्री की (संसदि) संसद् में उपस्थिति होने पर (नः) हम प्रजाजनों के (प्रमतिः) विचार (भद्रा) सुखदायी और कल्याणकारी हो जाते हैं। (अग्ने) हे राष्ट्र के अग्रणी! (तव) आप के साथ (सख्ये) हम प्रजाजनों का सखिभाव अर्थात् मैत्री हो जाने पर (वयम्) हम प्रजाजन (मा रिषाम) आभ्यन्तर और बाहर आक्रमणों द्वारा विनष्ट और दुःखी नहीं होने पाते।

[जातवेदाः=जातविद्यः जातप्रज्ञानः (निरु० ७।५।१६)। संसद्=An assembly; A court of justice (आपटे)। अग्ने=अग्निः अग्रणीर्भवति (निरु० ७।४।१४)। अभिप्राय यह है कि प्रधानमन्त्री आदि के उपस्थित होने पर उन्हें मानपत्र देने चाहियें। और प्रजाजन को राष्ट्र के अधिकारियों के साथ सखिभाव से रहना चाहिये।]

६४. ऐभिरग्ने सुरथं याह्यर्वाङ् नानारथं वा विभवो ह्यश्वाः।
पत्नीवतस्त्रिंशतं त्रींश्च देवाननुष्वधमा वह मादयस्व ॥४॥

(अग्ने) हे राष्ट्राग्रणी प्रधानमन्त्री! (एभिः) इन अधिकारियों के साथ आप (सरथम्) रथारूढ़ होकर (अर्वाङ्) इन प्रजाजनों की ओर (आयाहि) आइये। (नानारथम्) आपके अधिकार में नाना रथ हैं। (वा) तथा आप के पास (विभवः) प्रभूत सम्पत्तियां हैं, (अश्वाः) और नाना अश्व हैं। हे अग्रणी प्रधानमन्त्री! (पत्नीवतः) सपत्नीक (त्रिंशतं त्रीन् च देवान्) ३३ देवों को (आ वह) हम प्रजाजनों की ओर आने में प्रेरित किया कीजिये। और वे (अनु स्वधम्) अपनी-अपनी रुचि के अनुसार, प्रजा द्वारा सत्कार में समर्पित अन्न का ग्रहण करके (मादयध्वम्) अपने आप को प्रसन्न करें, तथा प्रजाजनों को भी प्रसन्न किया करें।

[राष्ट्र की दृष्टि से आधिभौतिक ३३ देवता निम्नलिखित हैं—८ जो वसु-उपाधिवाले स्नातक हैं, ११ जो कि रुद्र-उपाधिवाले स्नातक, तथा १२ आदित्य-उपाधिवाले स्नातक, तथा १ इन्द्र अर्थात् सम्राट्, और १ बृहस्पति अर्थात् सेना का अध्यक्ष। राष्ट्र के शासन के लिये ये ३३ मुख्य अधिकारी नियत करने चाहियें। प्रधानमन्त्री ३४ वां अधिकारी है। २४ वर्षों की आयु तक जिन्होंने ब्रह्मचर्यपूर्वक विद्याध्ययन किया है, उन्हें 'वसु' कहते हैं।

४४ वर्षों की आयु तक तथा ४८ वर्षों की आयु तक ब्रह्मचर्यपूर्वक विद्याध्ययन करनेवालों को 'रुद्र' तथा 'आदित्य' कहते हैं। ये सभी सदाचारी, संयमी, तपस्वी तथा नाना विद्याओं में निष्णात होते हैं। अतः शासन-व्यवस्था को ठीक प्रकार चला सकते हैं। ये सब विवाहित होने चाहियें, ताकि सर्वसाधारण गृहस्थ-प्रजाजनों की आवश्यकताओं को जानकर ठीक-ठीक शासन-व्यवस्था करें। ये सब देव अर्थात् दिव्यगुणोंवाले होने चाहियें।]

प्रथम अनुवाक समाप्त ॥१॥

सूक्त १४

१–४ सौभरिः। इन्द्रः। प्रगाथः (विषमा ककुप्+समा सतोबृहती)।

६५. वयमु त्वामपूर्व्य स्थूरं न कच्चिद् भरन्तोऽवस्यवः।
वाजे चित्रं हवामहे ॥१॥

(वाजे) हे राष्ट्र में बल की प्राप्ति के निमित्त, (अपूर्व्य) अपूर्व-शक्ति-सम्पन्न सम्राट्! (चित्रम्) प्रशंसनीय तथा दर्शनीय (त्वाम्) आपका (भरन्तः) भरण-पोषण करते हुए, तथा (अवस्यवः) आप से रक्षा चाहते हुए हम प्रजाजन, आपको (हवामहे) राज्यगद्दी पर बुलाते हैं। (न) जैसे कि कोई आत्मरक्षार्थ (कच्चित्) किसी (स्थूरम्) शक्तिशाली व्यक्ति को बुलाता है।

[चित्रम्=मंहनीयम् (निरु० ४।१।१४); चित्र=दर्शने (चुरा० गण)।]

६६. उप त्वा कर्मन्नूतये स नो युवोग्रश्चक्राम यो धृषत्।
त्वामिद्ध्यवितारं ववृमहे सखाय इन्द्र सानसिम् ॥२॥

(कर्मन्) राष्ट्र-कर्म सम्बन्धी (ऊतये) रक्षा के लिये, हे सम्राट्! हम प्रजाजन (त्वा) आपको (उप) अपने समीप (हवामहे) बुलाते हैं (मन्त्र ६५)। (सः) वे आप (युवा उग्रः) युवा हैं, और रक्षा के लिये उग्रस्वभाववाले हैं। (यः) जो (धृषत्) हमें दबाता और हम पर आक्रमण करता है, (चक्राम) उस पर आप आक्रमण कीजिये। (त्वाम्) आप (इत् हि) ही (अवितारम्) रक्षक का (ववृमहे) हम वरण करते हैं। (इन्द्र) हे सम्राट्! (सानसिम्) रक्षा प्रदान करनेवाले आपको (सखायः) आप के सखा हम प्रजाजन वरण करते हैं।

६७. यो नं इदमिंदं पुरा प्र वस्यं आनिनाय तमु व स्तुषे ।
सखांय इन्द्रमूतये ॥३॥

(सखायः) हे मित्रो ! (वः) तुम्हारी (ऊतये) रक्षा के निमित्त, मैं तुम्हारा प्रतिनिधि, (तम् उ) उस ही (इन्द्रम्) सम्राट् के (स्तुषे) गुण कथन करता हूं, (यः) जो कि (पुरा) पहिले भी (नः) हमें (इदम् इदम्) अमुक-अमुक नानाविध (वस्यः) राष्ट्र-सम्पत्तियां (प्र आनिनाय) प्रकर्ष-रूप में प्रदान करता रहा है ।

६८. हर्यश्वं सत्पतिं चर्षणीसहं स हि ष्मा यो अमन्दत ।
आ तु नः स वयति गव्यमश्व्यं स्तोतृभ्यो मघवा शतम् ॥४॥

(हर्यश्वम्) जिसके अश्वारोहियों ने शत्रुओं का परिहार किया है, (सत्पतिम्) जो सच्चा रक्षक है, (चर्षणीसहम्) प्रजाजनों में जो प्रभावशाली है, उसका हम (ववृमहे) वरण करते हैं (मन्त्र ६६)। (सः हि स्म) यह वही है (यः) जिसने पहिले भी हमें अपने कार्यों द्वारा (अमन्दत) प्रसन्न किया है ।(मघवा) सम्पत्तिशाली (सः) वह सम्राट् (नः स्तोतृभ्यः) हम अपने प्रशंसकों के लिये (गव्यम्, अश्व्यम्) गौओं और अश्वों द्वारा मिलनेवाले (शतम्) सैकड़ों प्रकार के सुख (आ वयति) प्राप्त कराता है ।

सूक्त १५

१—६ गोतमः । इन्द्रः । त्रिष्टुप् ।

६९. मंहिष्ठाय बृहते बृहद्रये सत्यशुष्माय तवसे मतिं भरे ।
अपामिव प्रवणे यस्य दुर्धरं राधो विश्वायु शवसे अपावृतम् ॥१॥

(मंहिष्ठाय) महादानी, (बृहते) सर्वतो महान्, (बृहद्रये) महावेगी, (सत्यशुष्माय) सत्यबली, (तवसे) बलस्वरूप परमेश्वर के प्रति (मतिम्) मैं मननीय स्तुतियां (भरे) भेंट करता हूं । (प्रवणे) निम्न प्रदेश में बहते हुए (अपाम् इव) जलों के सदृश (यस्य राधः) जिसका धन (अपावृतम्) खुले रूप में बह रहा है, (दुर्धरम्) जो धन कि सदा धरा नहीं जा सकता, जो कि चञ्चल है, अस्थायी है, (विश्वायु) जो कि सब मनुष्यों के लिये है, (शवसे) तथा बल की प्राप्ति के लिये है । [मंहिष्ठाय=मंहतेः दानकर्मणः (निरु० १।३।७) । विश्वायु=विश्व+आयु (=मनुष्य, निघं० २।३) ।]

७०. अध ते विश्वमनु हासदिष्टय आपो निम्नेव सवना हविष्मतः ।
यत् पर्वते न समशीत हर्यत इन्द्रस्य वज्रः श्नथिता हिरण्ययः ॥२॥

(अध) तथा हे परमेश्वर ! (ते) आपके (इष्टये) यजनार्थ (विश्वम्) समग्र ब्रह्माण्ड (अनु) निरन्तर (हासत्) गति कर रहा है । (हविष्मतः) आत्मसमर्पणरूपी हविवाले उपासक के (सवना) उत्पन्न भक्तिरस आपके प्रति ऐसे प्रवाहित हो रहे हैं, (न) जैसे कि (आपः) जल (निम्ना=निम्नानि) नीचे की ओर प्रवाहित होते हैं । (न) जैसे (पर्वते) मेघ में (इन्द्रस्य) परमेश्वर का (हर्यतः) कान्तिमान् (वज्रः) विद्युद्-वज्र (समशीत) सोया रहता है, परन्तु मौके पर (श्नथिता) हिंसकरूप भी धारण कर लेता है, वैसे परमेश्वर का (हिरण्ययः) हितकर और रमणीय (वज्रः) न्यायवज्र भी (समशीत) सोया पड़ासा प्रतीत होता है, परन्तु समय-समय पर (श्नथिता) हिंस्ररूप भी धारण कर लेता है ।

[भूचाल, बाढ़, कम वर्षा, अति वर्षा, उल्कापात, अतिशीत, अतिगर्मी आदि प्राकृतिक घटनायें प्रभु के न्याय-वज्र के कठोर रूप हैं । परन्तु इस कठोरता में भी न्यायवज्र है हितकारी और रमणीय । क्योंकि यह प्रजा के बुरे कर्मों को सूचित कर उसे सच्चे मार्ग की ओर चलने की चेतावनी देता है, जो कि अन्ततोगत्वा प्रजा के लिये हितकर होकर रमणीयता का रूप धारण कर लेता है । (हासत्=ओहाङ् गतौ । समशीत=सम्+अट्+शीङ् (स्वप्ने) । श्नथ्=श्नथ् (हिंसायाम्) ।]

७१. अस्मै भीमाय नमसा समध्वर उषो न शुभ्र आ भरा पनीयसे ।
यस्य धाम श्रवसे नामेन्द्रियं ज्योतिरकारि हरितो नायसे ॥३॥

हे उपासक ! (अध्वरे) हिंसारहित उपासना-यज्ञ में, तू (भीमाय) कठोर न्याय की दृष्टि से भयानक, परन्तु (पनीयसे) न्यायवज्र के हितकर और रमणीय होने के कारण स्तुति-योग्य (अस्मै) इस परमेश्वर के प्रति, (नमसा) नमस्कारों द्वारा (सम्) सम्यक्रूप में (आ भर) भक्तिरस समर्पित कर । (न) जैसे कि (उषाः) उषा (शुभ्रे) दिन के शुभ्र हो जाने पर सूर्य के निमित्त आत्मसमर्पण कर देती है । (नाम) सब को नमानेवाला (यस्य) जिस परमेश्वर का (इन्द्रियं धाम) परमेश्वरीय निज तेज (श्रवसे) श्रवण योग्य है, विश्रुत है । उसने हम उपासकों में (ज्योतिः) एक दिव्य

ज्योति (अकारि) प्रकट कर दी है। (न) जैसे कि (हरितः) अन्धकार का हरण करनेवाली सूर्यकिरणें (अयसे) आते समय (ज्योतिः) उषारूपी ज्योति प्रकट कर देती हैं।

[शुभ्रं = उषा सूर्य से प्रथम आती है, और सूर्य पीछे आता है। जब सूर्य आ गया तब उषा मिट गई। मानो उषा ने सूर्य के प्रति आत्मसमर्पण कर दिया। जब तक आकाश लाल रहता है, तब तक उषा रहती है। सूर्य के आ जाने पर जब दिन शुभ्र हो जाता है, तब उषा अपने स्वरूप से मिट जाती है। मानो उसने सूर्य के प्रति आत्मसमर्पण कर दिया है।]

७२. इमे त इन्द्र ते वयं पुरुष्टुत ये त्वारभ्य चरामसि प्रभूवसो।
नहि त्वदन्यो गिर्वणो गिरः सघत् क्षोणीरिव प्रति नो हर्य तद्वचः॥४॥

(पुरुष्टुत) हे महास्तुतिवाले (इन्द्र) परमेश्वर ! (इमे वयम्) ये हम उपासक (ते) आपके हैं, (ते) आप के ही हैं। (प्रभूवसो) हे प्रभूत सम्पत्तिवाले ! (ये) जो हम कि (त्वारभ्य) आपका अवलम्ब लेकर, आश्रय लेकर, (चरामसि) विचर रहे हैं। (गिर्वणः) हे वेदवाणियों द्वारा सम्यक् भजने योग्य ! (त्वत् अन्यः) आप से भिन्न कोई भी (गिरः) वेद-वाणियों का (सघत्) संवरण करनेवाला, सम्यक् वरण करनेवाला, उन्हें स्वीकृत करनेवाला (नहि) नहीं है। (नः) हमारे (तद् वचः) उन स्तुति-प्रार्थना के वचनों को (प्रति हर्य) चाहनापूर्वक स्वीकार कीजिये, (क्षोणीः इव) जैसे कि आप पृथिवी आदि लोक-लोकान्तरों को चाहनापूर्वक अपना रहे हैं। [सघत्=षगे संवरणे।]

७३. भूरि त इन्द्र वीर्यं१ तव स्मस्यस्य स्तोतुर्मघवन् काममा पृण।
अनु ते द्यौर्बृहती वीर्यं मम इयं च ते पृथिवी नेम ओजसे॥५॥

(इन्द्र) हे परमेश्वर ! (ते) आपका (वीर्यम्) सामर्थ्य (भूरि) महान् है। (तव) आपके ही (स्मसि) हम हैं। (मघवन्) हे ऐश्वर्यशालिन् ! (अस्य स्तोतुः) इस स्तुतिकर्त्ता की (कामम्) मोक्ष-कामना को (आ पृण) पूर्ण कर दीजिये। आपका बड़ा सामर्थ्य है। (बृहती द्यौः) महान् द्युलोक (ते वीर्यम्) आपके सामर्थ्य का (अनु) अनुचर बना हुआ है। (मम) हे मेरे परमेश्वर ! (न) जैसे कि (इयम्) यह (ते) आपकी (पृथिवी) पृथिवी आपकी अनुचरी बनी हुई है। (इमे) ये दोनों लोक (ओजसे) आपके ओज को लक्ष्य करके आपके अनुचर बने हुए हैं।

७४. त्वं तमिन्द्र पर्वतं महामुरुं वज्रेण वज्रिन् पर्वशश्चकर्तिथ।
अवासृजो निवृताः सर्तवा अपः सत्रा विश्वं दधिषे केवलं सहः॥६॥

(वज्रिन् इन्द्र) हे वज्रधारी परमेश्वर ! आपने (वज्रेण) विद्युद्रूपी वज्र द्वारा (महाम्) महान् और (उरुम्) विस्तारी (पर्वतम्) मेघ को (पर्वशः) टुकड़े-टुकड़े करके (चकर्तिथ) काट गिराया है। और (निवृताः) मेघ में निरतरां घिरे हुए (अपः) जलों को (सर्तवै) सरण करने के लिये, बहने के लिये (अवासृजः) नीचे भूमि की ओर प्रकट कर दिया है। (सत्रा) यह सत्य है कि आप ही (विश्वम्) ब्रह्माण्ड का (दधिषे) धारण-पोषण कर रहे हैं। (सहः) यह सामर्थ्य (केवलम्) केवल आपका ही है।

[सत्रा=सत्यम् (निघं० ३।१०)। पर्वतः=मेघः (निघ० १।१०)। पर्वत से अभिप्राय बर्फनिर्मित पर्वत का भी है, जो कि पर्वतों की घाटियों में लेटा पड़ा रहता है। इसे glacier कहते हैं। glacier=more Properly a slowly moving river & ice; such as is found in the hollows & on the slopes of lofty mountains.]

सूक्त १६

१–१२ अयास्यः। बृहस्पतिः। त्रिष्टुप्।

७५. उदप्रुतो न वयो रक्षमाणा वावदतो अभ्रियस्येव घोषाः।
गिरिभ्रजो नोर्मयो मदन्तो बृहस्पतिमभ्य१र्का अनावन्॥१॥

(रक्षमाणाः) अपनी रक्षा में तत्पर, (उदप्रुतः) जलों में प्लुतियां लगानेवाले (वावदतः=वावदन्तः) कलरव करते हुए (वयः) पक्षी (न) जैसे (बृहस्पतिम्) मानो महाब्रह्माण्ड के अधिपति की (अनावन्) स्तुतियां करते हैं, तथा (वावदतः) कड़कते हुए (अभ्रियस्य) मेघस्थ-विद्युद्वज्र के (घोषाः) घोष (इव) जैसे मानो बृहस्पति की स्तुतियां करते हैं, और (गिरिभ्रजः) पर्वतों से गिरती हुई (ऊर्मयः) नदियों की लहरें (न) जैसे मानो बृहस्पति की स्तुतियां करती हैं, वैसे हमारे (मदन्तः) मादक (अर्काः) स्तुतिमन्त्र, महाब्रह्माण्ड के स्वामी की (अभि) साक्षात् (अनावन्) स्तुतियां करते हैं। [अभिप्राय यह है कि प्राकृतिक संसार भी मानो अपने प्रभु की स्तुतियां करता है। तब मनुष्यों को भी चाहिये कि अपने प्रभु की स्तुतियां करें।]

७६. सं गोभिराङ्गिरसो नक्षमाणो भगइवेदर्यमणं निनाय ।
जने मित्रो न दम्पती अनक्ति बृहस्पते वाजयाशूँरिवाजौ ॥२॥

(आङ्गिरसः) प्राणायामाभ्यासी उपासक, (गोभिः) वेदवाणियों द्वारा (नक्षमाणः) प्रगति करता हुआ, (अर्यमणम्) कामादि अरियों को नियन्त्रण करनेवाले परमेश्वर को अपनी ओर (सं निनाय) सम्यक् प्रकार से झुका लेता है, (इव) जैसे कि (भगः) भगवान् ने (अर्यमणम्) अन्धकाररूपी-अरि को नियमन करनेवाले आदित्य को (सं निनाय) हमारी ओर झुकाया हुआ है। (जने) जन-समुदाय में (न) जैसे (मित्रः) मित्र (दम्पती) नवविवाहित पति-पत्नी के गुणों को (अनक्ति) अभिव्यक्त करता है, वैसे ही प्राणायामाभ्यासी योगी, परमेश्वर के गुणों को जन समुदाय में अभिव्यक्त करता रहता है। और प्रार्थना करता है कि (बृहस्पते) हे महाब्रह्माण्ड के पति ! (वाजय) हम सब को बल प्रदान कीजिये, और प्रगतिशील कीजिये। (इव) जैसे कि बृहती सेना का पति (आजौ) युद्ध में (आशून्) शीघ्रगामी अश्वों को प्रगतिशील करता है।

[नक्ष्=गति, प्रगति। आङ्गिरसः, अङ्गिरा=प्राण (श० ब्रा० ६।१।२।४)। अर्यमा=आदित्यः, अरीन् नियच्छति (निरु० ११।३।१३)। अर्यमा=परमेश्वर; कामादिकान् अरीन् नियच्छति)। आशुः=अश्वः (निघं० १।१४)।]

७७. साध्वर्या अतिथिनीरिषिरा स्पार्हाः सुवर्णा अनवद्यरूपाः ।
बृहस्पतिः पर्वतेभ्यो वितूर्या निर्गा ऊपे यवमिव स्थिविभ्यः॥३॥

(साध्वर्याः) अन्तरिक्ष-स्थित मेघ के साथ रहनेवाले, (अतिथिनीः) सदा गतिशील, (इषिराः) प्रजा द्वारा इष्ट, (स्पार्हाः) तथा स्पृहणीय, (सुवर्णाः) स्वच्छ, और (अनवद्यरूपाः) पवित्र (गाः) गतिशील जलों को, (पर्वतेभ्यः) मेघों से (वितूर्य) काट कर, (बृहस्पतिः) महाब्रह्माण्ड के पति परमेश्वर ने (निर् ऊपे) पृथिवी पर उपजाऊ रूप में भेजा है। (इव) जैसे कि (स्थिविभ्यः) क्षेत्र-स्थलों से काट कर किसान (यवम्) जौ आदि अन्न देते हैं।

[अतिथिनीः=अत् सातत्यगमने+इथिन्+ङी (स्त्रियाम्)। इषिराः=इषु इच्छायाम्। गाः=गमनशील जल (उणा० कोश, पाद २, सूत्र ६७ पर महर्षि दयानन्द)। स्थिविः=क्षेत्रस्थल ?। साध्वर्याः= अध्वर=अन्तरिक्ष (निघ० १।३); अध्वर्य=अध्वरीय=अन्तरिक्षस्थ। साध्वर्याः=अन्तरिक्षस्थ मेघ के साथी।]

७८. आ प्रुषायन्मधुन ऋतस्य योनिमवक्षिपन्नर्क उल्कामिव द्योः ।
बृहस्पतिरुद्धरन्नश्मनो गा भूम्या उद्नेव वि त्वचं बिभेद ॥४॥

(आ प्रुषायन्) पृथिवी को सम्यक् रूप से जल द्वारा स्निग्ध करते हुए (बृहस्पतिः) बृहस्पति ने (मधुनः) मधुर (ऋतस्य) जल के (योनिम्) उत्पादक मेघ को (अवक्षिपन्) नीचे पृथिवी पर ऐसे फेंका, (इव) जैसे कि (अर्कः) सूर्य (द्योः) द्युतिमान् आकाश से या द्युलोक से (उल्काम्) दधकते पत्थर को फेंकता है। तथा (अश्मनः) आकाश में फैले मेघ से (गाः) जलों का (उद्धरन्) उद्धार करते हुए बृहस्पति अर्थात् वायु ने (त्वचम्) मेघ की त्वचा को (बिभेद) काट दिया। (इव) जैसे (उह्नः) बैल (भूम्याः) हल द्वारा भूमि की, या अपने सींगों द्वारा भूमि की (त्वचम्) त्वचा को, ऊपर के स्तर को (वि बिभेद) काट देता है।

[आ प्रुषायन्=प्रुष् स्नेहने। ऋतस्य=जलस्य (निघ० १।१२)। उल्काम्=उष् दाहे। A fiery Phenomenon in the sky, a meteor (आप्टे)। अश्मनः=अश्मा मेघः (निघ० १।१०), अशूङ् व्याप्तौ। गाः= जलानि(उणा० २।६८ ,रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़, सोनीपत-हरयाणा। उह्नः=वहति हलम् शकटम्। वह (=उह्) +क्त (=न),कर्तरि। उह्नः इव=उह्नेव, छान्दस सन्धि। उह्नः=A bull(बैल), आपटे।]

७९. अप ज्योतिषा तमो अन्तरिक्षादुद्नः शीपालमिव वात आजत् ।
बृहस्पतिरनुमृश्या वलस्याभ्रमिव वात आ चक्र आ गाः ॥५॥

(बृहस्पतिः) बृहती-पृथिवी के अधिपति (वातः) वायु ने (वलस्य) घेरनेवाले मेघ की शक्ति को (अनुमृश्य) मानो जांचकर (अन्तरिक्षात्) अन्तरिक्ष से (तमः) तमोभूत-मेघ को (अप आजत्) हटा दिया है। और (ज्योतिषा) सूर्य की ज्योति द्वारा प्रकाश प्रकट कर दिया है। वायु ने तमोभूत-मेघ को ऐसे हटाया है, (इव) जैसे कि (उह्नः) जलक्रीड़ा करता हुआ बैल, जल से (शीपालम्) शैवाल अर्थात् सेवार को हटा देता है। (वातः) वायु ने (इव) जैसे (अभ्रम्) मेघ को (आ चक्रे) पैदा किया

था, वैसे ही उसने (गाः) मेघ से जलों को भी प्रकट कर दिया है।

[मन्त्र में कवितारूप में वायु का वर्णन है। मानसून वायुएं मेघ बनातो तथा जल बर्सातो हैं।]

८०. यदा वलस्य पीयतो जसुं भेद बृहस्पतिरग्नितपोभिरर्कैः।
दुद्भिर्न जिह्वा परिविष्टमाददाविर्निधीँरकृणोदुस्रियाणाम् ॥६॥

(यदा) जब (बृहस्पतिः) वायु (अग्नितपोभिः) अग्नि के समान परितप्त (अर्कैः) सूर्य-किरणों द्वारा (पीयतः) मानो जल को पी जाने-वाले अर्थात् न बरसानेवाले, और (वलस्य) आकाश को घेरनेवाले मेघ की (जसुम्) हिंस्रवृत्ति को (भेद) विनष्ट कर देता है, तब (दद्भिः) दान्तों द्वारा (परिविष्टम्) घिरी (जिह्वा न) जिह्वा के समान, मेघ द्वारा घिरे जल को वायु, (आदत्) प्राप्त कर लेती है, और (उस्रियाणाम्) नदियों के (निधीन्) निधिस्वरूप जल को (आविः अकृणोत्) प्रकट कर देती है।

[पीयतः=पी पाने (दिवादि)। वलस्य=आवरण डालनेवाले मेघ की, वृ आवरणे। जसुम्=जस् हिंसायाम्। उस्रियाणाम्=नदीनाम्(निघ० २।११)। मन्त्र में बृहस्पति पद द्वारा सेनापति का भी वर्णन हुआ है, जो कि आग्नेय शस्त्रों द्वारा तथा सूर्य की तप्त किरणों द्वारा, राष्ट्र पर घेरा डाले शत्रु के घेरे को तोड़ देता है। और घिरे राष्ट्र को शत्रु से छुड़ा कर प्रजाजनों की सम्पत्तियों को सुरक्षित कर देता है। उस्रियाः=उस्रा अर्थात् किरणों के सदृश शुद्ध-पवित्र प्रजाजन।]

८१. बृहस्पतिरमत हि त्यदासां नाम स्वरीणां सदने गुहा यत्।
आण्डेव भित्त्वा शकुनस्य गर्भमुदुस्रियाः पर्वतस्य त्मनाजत् ॥७॥

(बृहस्पतिः) वायु ने (सदने) अपने निवासस्थान अन्तरिक्ष में (यत् त्यत्) जो वह (आसां स्वरीणाम्) इन घोषपूर्वक बहती हुई नदियों का (नाम) जल (गुहा) छिपा पड़ा था, उसे (अमत) जान लिया। और उस ने (त्मना) निजशक्ति द्वारा (पर्वतस्य) मेघ के (गर्भम्) गर्भ को (भित्त्वा) छिन्न-भिन्न करके (उस्रियाः) नदियों को (आजत्) प्रकट कर दिया। (इव) जैसे कि (आण्डा) अण्डों को (भित्त्वा) तोड़कर (शकुनस्य) पक्षी के (गर्भम्) गर्भस्थ या गर्भभूत बच्चे को प्रकट किया जाता है।

['बृहस्पति' का अर्थ बृहती-सेना का अधिपति भी है। इस आधि-

भौतिक दृष्टि में सेनानी ने घोष करती हुई, तथा तापक अस्त्रशस्त्रों से सम्पन्न इन शत्रु सेनाओं को, जो कि अपने सदन में छिप गई थीं, उनके 'नाम'=अर्थात् नमन को आत्मसमर्पण को 'अमत'=मान लिया, स्वीकार कर लिया। और पर्वतों के गर्भ में रहनेवाली शत्रु-प्रजा को स्वतन्त्र कर दिया। 'स्वरीणाम्'=स्वर करती हुई, आघोष या निनाद करती हुई बहती नदियां। तथा स्वरीणाम्='स्वृ' शब्दे उपतापे। शब्द करती हुई तथा तपानेवाले अस्त्रशस्त्रों से सम्पन्न शत्रु की सेनाएं।[पर्वतस्य=मेघस्य(निघ० १।१०)।]

८२. अश्नापिनद्धं मधु पर्यपश्यन्मत्स्यं न दीन उदनि क्षियन्तम्।
निष्टज्जभार चमसं न वृक्षाद् बृहस्पतिर्विरवेणा विकृत्य ॥८॥

(बृहस्पतिः) बृहती-पृथिवी के अधिपति वायु ने (अश्ना पिनद्धम्) मेघ से बन्धे पड़े (मधु) मधुर-जल को (पर्यपश्यत्) जान लिया। (न) जैसे कि (दीने उदनि) अल्प जल में (क्षियन्तम्) पड़ी (मत्स्यम्) मछली को जान लिया जाता है। वायु ने (विरवेण) विशेष गरजनावाले विद्युद्-वज्र के द्वारा (विकृत्य) मेघ को काट कर (तत्) उस मधुर-जल को (निर् जभार) निकाल लिया। (न) जैसे कि बढ़ई (वृक्षात्) वृक्ष को काट कर उस से (चमसम्) खान-पान के बर्तन निकाल लेता है, बना लेता है।

[वायु यद्यपि जड़ है, तो भी वायु का वर्णन ऐसा हुआ है मानो वह चेतन है। कवि सम्प्रदाय में जड़ वस्तु का भी वर्णन चेतनवत् किया जाता है। वेदों में परमेश्वर को कवि कहा है। यथा—**'कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः'** (यजुः ४०।८)। तथा वेद को काव्य कहा है, यथा—**'देवस्य पश्य काव्यम्'** (अथर्व० १०।८।३२)। निरुक्तकार ने भी कहा है। यथा—**'अचेतनान्यप्येवं स्तूयन्ते यथाक्षप्रभृतीन्योषधिपर्यन्तानि'** (७।२।७) इत्यादि। आधिभौतिक दृष्टि में सेनापति ने फैली हुई पर्वतश्रेणी में बन्धे पड़े मधुर-जल के स्रोत को देखा, और विद्युद्-वज्र के द्वारा पर्वतों को काट कर नदीरूप में या नहर के रूप में उस बन्धे जल को अपने राष्ट्र में प्राप्त कर लिया।

८३. सोषामविन्दत् स स्वः सो अग्निं सो अर्केण वि बबाधे तमांसि।
बृहस्पतिर्गोवपुषो वलस्य निर्मज्जानं न पर्वणो जभार ॥९॥

(सः)उस बृहस्पति अर्थात् वायु ने मेघ को काटने के पश्चात्(मन्त्र ८),

(उषाम्) उषा को (अविन्दत्) प्राप्त कराया। (सः) उसने (स्वः) तपे सूर्य को प्राप्त कराया। (सः) उसने (अग्निम्) सौराग्नि को प्राप्त कराया। (सः) उसने मेघ के कारण उत्पन्न हुए (तमांसि) अन्धकारों का (अर्केण) सूर्य के द्वारा (विबबाधे) वध किया। (बृहस्पतिः) वायु ने (गोवपुषः) जलीय शरीरवाले (वलस्य) घेरा डाले मेघ के (पर्वणः) अङ्ग-प्रत्यङ्ग से (मज्जानं न) जलरूपी मज्जा को (निर् जभार) निकाल लिया।

[आधिभौतिक अर्थ में सेनापति ने राष्ट्र पर आवरण घेरा वलय डाले शत्रु के अङ्गों को काटकर उसका मज्जा निकाल दिया, जो शत्रु कि राष्ट्रभूमि को छिन्न-भिन्न करना चाहता था। और राष्ट्र में फिर दैवी-शक्तियों को चमका दिया। गोवपुषः=गौः(=जल, उणादिकोष २।६८)+ वपुः=शरीर। तथा गौः= राष्ट्रभूमि+वपुः (वप् छेदने)।]

८४. हिमेव पर्णा मुषिता वनानि बृहस्पतिनाकृपयद् वलो गाः।
अनानुकृत्यमपुनश्चकार यात् सूर्यामासा मिथ उच्चरातः ॥१०॥

(हिमा इव) हेमन्त ऋतु द्वारा जैसे (वनानि) वनों के (पर्णा=पर्णानि) पत्ते (मुषिता=मुषितानि) मानो लूट लिये जाते हैं, वैसे (बृहस्पतिना) वायु ने (वलः=वलस्य) घेरा डालनेवाले मेघ के (गाः) जलों को (अकृपयत्) लूटकर उनपर मानो कृपा की। मेघ को वायु ने (अनानुकृत्यम्) घेरा डालने के कर्म को न कर सकने योग्य, और (अपुनः) पुनः घेरा डालने के अयोग्य (चकार) कर दिया। (यात्) तब से (सूर्यमासा=सूर्यामासौ) सूर्य और चन्द्रमस् (मिथः) साथ-साथ (उत् चरातः) आकाश में फिर उदित होने लगते हैं।

[वलः=वल्+क्विप्+षष्ठ्येकवचन। सूर्यमासा=सूर्य और मस् (=चन्द्रमस्)। आधिभौतिक में सेनापति जब घेरा डालनेवाले शत्रुओं की भूमियां जीत लेता है, तब वह उन्हें कठोर दण्ड न देकर उन पर कृपा दर्शाता है। तदनन्तर शत्रु पुनः आक्रमण कार्य न कर सकें, उन्हें ऐसा कर दिया जाता है। अर्थात् उन्हें शस्त्रास्त्रों से वञ्चित कर दिया जाता है। मन्त्र में वर्षाकाल की समाप्ति का वर्णन हुआ है।]

८५. अभि श्यावं न कृशनेभिरश्वं नक्षत्रेभिः पितरो द्यामपिंशन्।
रात्र्यां तमो अदधुर्ज्योतिरहन् बृहस्पतिर्भिनदद्रिं विदद् गाः॥११॥

(न) जैसे (श्यावम्) श्याम वर्णवाले (अश्वम्) अश्व को (पितरः) उसके पालक स्वामी, (कृशनेभिः) अग्नि-सदृश चमकीली मणियों के हारों द्वारा (अपिंशन्) सुशोभित करते हैं, वैसे (पितरः) पालक-ऋतुओं ने (कृशनेभिः नक्षत्रेभिः) कृशानु-समान चमकते नक्षत्रों द्वारा (द्याम्) द्युलोक को (अपिंशन्) सुशोभित कर दिया है। पालक-ऋतुओं ने (रात्र्याम्) रात्री में (तमः अदधुः) अन्धकार को स्थापित किया है। और (अहन्) दिन में (ज्योतिः) ज्योति को स्थापित किया है, जबकि (बृहस्पतिः) वायु ने (अद्रिम्) मेघ को (भिनत्) छिन्न-भिन्न करके (गाः) जलों को (विदत्) प्राप्त किया।

[कृशन=कृशानु (=अग्नि)। मन्त्र में पालक-ऋतुओं के अनुसार, जब मेघ को छिन्न-भिन्न कर दिया, और उसके समग्र जलों को प्राप्त कर लिया, तब आकाश स्वच्छ हो गया। और दिन में सूर्य चमकने लगा, और रात्री में श्याम आकाश में अग्निमय-नक्षत्र चमकने लगे। इस प्रकार मन्त्र १० और ११ में वर्षाऋतु की समाप्ति पर दृश्यों का वर्णन हुआ है। पितरः=ऋतवः (शत० ब्रा० २।६।१।३२) में सायण। तथा 'पितृमते' की व्याख्या में पितृ=ऋतु (दयानन्द, यजु० २।२९)।]

८६. इदमकर्म नमो अभ्रियाय यः पूर्वीरन्वानोनवीति।
बृहस्पतिः स हि गोभिः सो अश्वैः स वीरेभिः स नृभिर्नो वयो धात्॥१२॥

हम उपासकों ने (इदं नमः) यह नमस्कार (अभ्रियाय) मेघों के भी स्वामी "बृहस्पति" तथा महाब्रह्माण्ड के स्वामी परमेश्वर के प्रति (अकर्म) किया है। (यः) जो परमेश्वर कि (पूर्वीः) पूर्वकालों से चली आई अनादि ऋचाओं का (अनु) निरन्तर प्रत्येक सृष्टि के आदि में (नोनवीति) बार-बार स्तवन करता है, उपदेश करता है। (सः) वह (बृहस्पतिः हि) बृहस्पति ही (गोभिः) गौओं द्वारा, (सः अश्वैः) वह ही अश्वों द्वारा, (सः वीरेभिः) वह ही वीर सन्तानों द्वारा, (सः नृभिः) वह ही नेताओं द्वारा (नः) हमें (वयः) जीवन, दीर्घायु तथा अन्न (धात्) प्रदान करता है। [वयः=अन्नम् (निघ० २।७)।]

[सूक्त के मन्त्र १, तथा १२ में 'बृहस्पति' पद द्वारा परमेश्वर का वर्णन हुआ है। और मध्य के मन्त्रों में 'बृहस्पति' पद द्वारा सेनापति तथा वायु का भी वर्णन हुआ है।]

सूक्त १७

१–११ कृष्णः, १२ वसिष्ठः । इन्द्रः । १–१० जगती, ११–१२ त्रिष्टुप् ।

८७. अच्छा म इन्द्रं मतयः स्वर्विदः सध्रीचीर्विश्वा उशतीरनूषत ।
परि ष्वजन्ते जनयो यथा पतिं मर्यं न शुन्ध्युं मघवानमूतये ॥१॥

(मे) मेरी (विश्वाः) सब प्रकार की (मतयः) मतियों ने (इन्द्रम्) परमेश्वर की (अच्छ) प्रत्यक्ष रूप में (अनूषत) स्तुतियां की हैं। मतियां जो कि (स्वर्विदः) सुख प्राप्त करातीं, (सध्रीचीः) जो कि परमेश्वर के साथ विचरतीं, (उशतीः) और परमेश्वर की ही कामना करती हैं। मेरी मतियां (परिष्वजन्ते) परमेश्वर का आलिङ्गन करती हैं। (यथा) जैसे कि (जनयः) पत्नियां (पतिम्) अपने-अपने पति का आलिङ्गन करती हैं। अर्थात् (शुन्ध्युं मर्यं न) शुद्धाचारी मानुष-पति का आलिङ्गन करती हैं, वैसे ही मेरी मतियां (मघवानम्) ऐश्वर्यशाली परमेश्वर का आलिङ्गन करती हैं, (ऊतये) ताकि मेरी रक्षा हो सके।

८८. न घा त्वद्रिगप वेति मे मनस्त्वे इत् कामं पुरुहूत शिश्रय ।
राजेव दस्म नि षदोऽधि बर्हिष्यस्मिन्त्सु सोमेऽवपानमस्तु ते ॥२॥

(पुरुहूत) हे बार-बार पुकारे गये परमेश्वर! (मे) मेरा (मनः) मन (घ) निश्चय से (त्वत् रिक्) आप से अतिरिक्त (न अप वेति) अर्थात् आप से हट कर और कहीं नहीं जाता। वह मन (त्वे इत) आप में ही (कामम्) यथेच्छ (शिश्रिय) आश्रय पाता है। (दस्म) हे पाप-क्षयकारी दर्शनीय परमेश्वर! आप (राजा इव) राजा के समान (बर्हिषि अधि) मेरे हृदयासन पर (निषदः) नितरां विराजिये। और (अस्मिन्) इस मेरे (सोमे) भक्तिरस में (ते) आप का (अवपानम्) रस-पान (अस्तु) हो।

८९. विषूवृदिन्द्रो अमतेरुत क्षुधः स इद्रायो मघवा वस्व ईशते ।
तस्येदिमे प्रवणे सप्त सिन्धवो वयो वर्धन्ति वृषभस्य शुष्मिणः ॥३॥

(इन्द्रः) परमेश्वर (अमतेः) अज्ञान का, (उत) और (क्षुधः) क्षुधा का, (विषूवृत्) भिन्न-भिन्न प्रकार से निवारण करता है। (सः) वह (मघवा) ऐश्वर्यवान् (इद्) ही (रायः वस्वः) प्राकृतिक और

आध्यात्मिक सम्पत्तियों का (ईशते) अधीश्वर है। (वृषभस्य) सम्पत्तियों की वर्षा करनेवाले, और (शुष्मिणः) बलशाली (तस्य इत्) उस ही परमेश्वर की (प्रवणे) आज्ञा में वर्तमान (सप्त सिन्धवः) सात प्रकार की नदियां (वयः) प्राकृतिक और आध्यात्मिक अन्न की (वर्धन्ति) उत्पत्ति तथा वृद्धि करती हैं।

[सप्त सिन्धवः=सात प्रकार की जलमय नदियां पृथिवी पर प्रवाहित होकर, प्राकृतिक अन्न को उत्पन्न करतीं तथा उसकी वृद्धि करती हैं, जिस के द्वारा कि क्षुधा की निवृत्ति होती है। और ७ छन्दों से युक्त वेद-वाणियां मुख में प्रवाहित होती हुई आध्यात्मिक-अन्न अर्थात् ज्ञान को उत्पन्न कर, और उसकी वृद्धि कर अज्ञान की निवृत्ति करती हैं। निम्न-लिखित मन्त्र में "सप्त सिन्धवः" पद द्वारा ७ छन्दों से युक्त वेदवाणी का ग्रहण होता है, यथा –

सुदेवो असि वरुण यस्य ते सप्तसिन्धवः ।
अनु क्षरन्ति काकुदं सूर्म्यं सुषिरामिव ॥ ऋ० ८।६९।१२ ॥

मन्त्र में 'काकुद' का अर्थ है—तालु। यथा—काकुदं तालित्याचक्षते। जिह्वा=कोकुवा, सास्मिन् धीयते। जिह्वा कोकुवा कोकूयमाना वर्णान् नुदतीति वा, कोकूयतेर्वा स्याच्छब्दकर्मणः' (निरु० ५।४।२७)।]

९०. वयो न वृक्षं सुपलाशमासदन्त्सोमास इन्द्रं मन्दिनश्चमूषदः ।
प्रैषामनीकं शवसा दविद्युतद् विदद् स्वर्मनवे ज्योतिरार्यम् ॥४॥

(न) जैसे (वयः) पक्षी (सुपलाशं वृक्षम्) उत्तम-पत्तोंवाले वृक्ष पर (आसदन्) आ बैठते हैं, वैसे (मन्दिनः) हर्षदायक (चमूषदः) भूलोक और द्युलोकव्यापी (सोमासः) भक्तिरस (इन्द्रम्) परमेश्वर में (आसदन्) आकर स्थित हो जाते हैं। (एषाम्) इन भक्तिरसों की (अनीकम्) प्राणदायिनी शक्ति, (शवसा) अपने-अपने पूर्ण बल में (प्र दविद्युतत्) प्रद्योतित हो रही है, चमक रही है। और इस प्राणदायिनी शक्ति ने (मनवे) मनुष्य के लिये (स्वः) सुख और (आर्यं ज्योतिः) परमेश्वरीय ज्योति (विदत्) प्राप्त कराई है।

[चमूषदः="यस्य विश्व उपासते प्रशिषम्" (यजु० २५।१३) अर्थात् संसार के सब पदार्थ जिस परमेश्वर के उत्तम-शासन की उपासना में लगे हुए हैं। उपासना पद द्वारा समग्र विश्व में भक्तिरस की सत्ता का

कथन किया है। तथा "तस्येमे सर्वे यातव उप प्रशिषमासते" (अथर्व १३। ३/४।१७), अर्थात् ये सब गतिमान् पदार्थ उस परमेश्वर के उत्तम-प्रशासन की उपासना कर रहे हैं। 'उपासना' पद द्वारा इन गतिमान् पदार्थों में भक्तिरस की सत्ता का कथन किया है। चमू=द्यावापृथिव्यौ (निरु० ३।३०)। अनीकम्=अन् प्राणने। आर्यम्=अर्यः ईश्वरः (निरु० १३।१।४), तस्य ज्योतिः।]

९१. कृतं न श्वघ्नी वि चिनोति देवने संवर्गं यन्मघवा सूर्यं जयत्।
न तत् ते अन्यो अनु वीर्यं शकन्न पुराणो मघवन् नोत नूतनः॥५॥

(जयत्) दुष्कर्मों पर विजय पाता हुआ मनुष्य (श्वघ्नी) भविष्य में शुभ्र दिनों की प्राप्ति करता हुआ, (न) जैसे (कृतम्) सुकृतकर्मों का (वि चिनोति) विनिश्चय करता है, या विशेष चयन करता है, इसी प्रकार अन्धकार पर (जयत्) विजय पाता हुआ (मघवा) ऐश्वर्यशाली परमेश्वर (यत्) जो (संवर्गम्) अन्धकार का सम्यक् वर्जन करनेवाले (सूर्यम्) सूर्य को साधनरूप में विनिश्चित करता है, हे परमेश्वर! (तत्) उस (ते) आप के विनिश्चय और तत्सम्बन्धी (वीर्यम्) सामर्थ्य की (अनु) अनुकृति, (अन्यः न शकत्) अन्य कोई नहीं कर सकता। (मघवन्) हे ऐश्वर्यशाली परमेश्वर! (न पुराणः) न कोई पुराना व्यक्ति, और (न उत नूतनः) न कोई नया व्यक्ति।

[श्वघ्नी=श्वः (=कल जो आयेगा)+घ्न (=हन् गतौ प्राप्तौ+ इन्।) संवर्गम्=सम्+वृज् वर्जने।]

९२. विशंविशं मघवा पर्यशायत जनानां धेना अवचाकशद् वृषा।
यस्याह शक्रः सवनेषु रण्यति स तीव्रैः सोमैः सहते पृतन्यतः॥६॥

(विशंविशम्) प्रत्येक प्रजाजन में (मघवा) ऐश्वर्यशाली परमेश्वर (पर्यशायत) पूर्णतया व्याप्त है। (वृषा) आनन्दरसवर्षी परमेश्वर (जनानाम्) प्रजाजनों की (धेनाः) बोलियों और बातचीत को (अवचाकशत्) जान रहा होता है। (शक्रः) शक्तिशाली परमेश्वर, (यस्य अह) जिस किसी उपासक के (सवनेषु) भक्तिरसों में (रण्यति) रमण करता है, उन्हें प्रसन्नता पूर्वक चाहता है। (सः) वह उपासक (तीव्रैः सोमैः) अपने वेगवान् भक्तिरसों द्वारा (पृतन्यतः) कामादि की सेना को (सहते) पराभूत कर देता है।

९३. आपो न सिन्धुमभि यत् समक्षरन्त्सोमास इन्द्रं कुल्याइव ह्रदम्।
वर्धन्ति विप्रा महो अस्य सादने यवं न वृष्टिर्दिव्येन दानुना॥७॥

(आपः) नदियों के जल (न) जैसे (सिन्धुम् अभि) समुद्र की ओर (यत्) जब (समक्षरन्) मिलकर बहते हैं, तथा (कुल्याः) नालियां (इव) जैसे (ह्रदम्) तालाब की ओर बहती हैं, वैसे ही (सोमासः) सब भक्तिरस (इन्द्रम्) परमेश्वर की ओर बहते हैं। (सादने) हृदय-सदन में परमेश्वर के स्थित हो जाने पर (विप्राः) मेधावी उपासक (अस्य) इस परमेश्वर की (महः) महिमा को (वर्धन्ति) बढ़ाते हैं। (न) जैसे कि (दिव्येन दानुना) परमेश्वर के दिव्य दान द्वारा (वृष्टिः) वर्षा (यवम्) जौ आदि को बढ़ाती है।

९४. वृषा न क्रुद्धः पतयद् रजःस्वा यो अर्यपत्नीरकृणोदिमा अपः।
स सुन्वते मघवा जीरदानवेऽविन्दज्ज्योतिर्मनवे हविष्मते॥८॥

(यः) जिस परमेश्वर ने (स्वाः) अपने (इमाः) इन (अर्यपत्नीः) परमेश्वर द्वारा पालित (अपः) सात प्राणों को (अकरोत्) रचा है, उसने ही अब (रजः) इन प्राणों के रजोगुणों को (पतयत्) गिरा दिया है, हटा दिया है। (न) जैसे कि (क्रुद्धः) क्रुद्ध हुआ (वृषा) बैल (रजः) मिट्टी को उखाड़ फेंकता है। (सुन्वते) भक्तिरस से सम्पन्न, (हविष्मते) भक्तिरस को हविरूप में लिये हुए, (जीरदानवे) और शीघ्रता से इस हवि को समर्पित कर देनेवाले (मनवे) मननशील उपासक के लिये (सः मघवा) वह ऐश्वर्यवाली परमेश्वर (ज्योतिः) अपनी ज्योति (अविदत्) प्रकट कर देता है।

[अपः="आपः आपनानि षडिन्द्रियाणि विद्या सप्तमी" (निरु० १२।४।३८)। जीराः=क्षिप्रनाम (निघ० २।१५)।]

९५. उज्जायतां परशुर्ज्योतिषा सह भूया ऋतस्य सुदुघा पुराणवत्।
वि रोचतामरुषो भानुना शुचिः स्वर्ण शुक्रं शुशुचीत सत्पतिः॥९॥

हे उपासक! (ज्योतिषा सह) परमेश्वरीय ज्योति के साथ-साथ (परशुः) तेरा परशु भी (उद् जायताम्) ऊंचा उठे। तू (पुराणवत्)

प्राचीन अर्थात् अनादिकाल के ऋषियों की तरह (ऋतस्य) सच्चाई का (सुदुघा) सुगमता से दोहनेवाला (भूयाः) हो जा। ताकि (भानुना) परमेश्वरीय-प्रभा द्वारा तू (अरुषः) चमकता हुआ (वि रोचताम्) खूब अधिक चमके। और (सत्पतिः) सच्चा-पति परमेश्वर तुझे (स्वः न) सूर्य के समान (शुचिः) पवित्र तथा (शुक्रं शुशुचीत) ज्योतिर्मय रूप में चमका दे।

[परशुः=''प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते'' (मुण्डक २।५।४) में ओ३म्-जप को धनुष् कहा है। इसी ओ३म्-जप को मन्त्र में परशु कहा है। परशु=कुल्हाड़ा। अथवा परशु का अभिप्राय है तीव्र प्रयत्न।]

९६. गोभिष्टरेमामतिं दुरेवां यवेन क्षुधं पुरुहूत विश्वाम्।
वयं राजभिः प्रथमा धनान्यस्माकेन वृजनेना जयेम ॥१०॥

(गोभिः) वेदवाणियों द्वारा हम (दुरेवाम्) दुष्परिणामी (अमतिम्) कुमति को (तरेम) दूर करें। तथा गौओं के सात्विक दूध द्वारा मति की हीनता को दूर करें। और (यवेन) जौ आदि सात्विक अन्नों द्वारा (विश्वां क्षुधम्) सब प्रकार की क्षुधा को दूर करें। तथा (वयम्) हम उपासक (राजभिः) योगिराजों की सहायता द्वारा, तथा (अस्माकेन वृजनेन) निज शक्तियों द्वारा (प्रथमा धनानि) श्रेष्ठ आध्यात्मिक-धनों पर (जयेम) विजय पायें। [मन्त्र में अभ्यासियों के लिये वेदस्वाध्याय तथा सात्विक खान-पान का विधान किया है।]

९७. बृहस्पतिर्नः परि पातु पश्चादुतोत्तरस्मादधरादघायोः।
इन्द्रः पुरस्तादुत मध्यतो नः सखा सखिभ्यो वरिवः कृणोतु ॥११॥

(बृहस्पतिः) बृहती-वेदवाणी का आचार्य, तथा (इन्द्रः) परमेश्वर (पश्चात्) पश्चिम से, (उत) और (उत्तरस्मात्) उत्तर से, (अधरात्) दक्षिण से, (पुरस्तात्) पूर्व से, (उत) और (मध्यतः) मध्यभाग से, हम पर आक्रमण करनेवाले और (अघायोः) हमारी हत्या चाहनेवाले पापों से (नः) हमारी (परिपातु) पूर्णतया रक्षा करें। और बृहस्पति तथा इन्द्र, इनमें से प्रत्येक (सखा) हमारा सखा बनकर (नः सखिभ्यः) हम सखाओं के लिये (वरिवः) आध्यात्मिक-धन (कृणोतु) सम्पन्न करे।

९८. बृहस्पते युवमिन्द्रश्च वस्वो दिव्यस्येशाथे उत पार्थिवस्य।
धत्तं रयिं स्तुवते कीरये चिद् यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥१२॥

(बृहस्पते) हे बृहती-वेदवाणी के आचार्य! (च इन्द्रः) और परमेश्वर! (युवम्) आप दोनों, (दिव्यस्य) आध्यात्मिक (उत) और (पार्थिवस्य) प्राकृतिक (वस्वः) धनों के (ईशाथे) अधीश्वर हैं। आप दोनों (स्तुवते) स्तुति करनेवाले (कीरये) स्तोता को (रयिम्) आध्यात्मिक और प्राकृतिक दोनों प्रकार के ऐश्वर्य (धत्तम्) प्रदान कीजिये। (यूयम्) हे सब दिव्य शक्तियो! तुम सब मिलकर (नः) हम उपासकों की (सदा पात) सदा रक्षा करते रहो, (स्वस्तिभिः) कल्याणमयी विधियों द्वारा।

[कीरिः=स्तोता (निघ० ३।१६); कीर्तन करनेवाला।]

दूसरा अनुवाक समाप्त ॥

सूक्त १८

१–३ मेधातिथिः प्रियमेधश्च; ४–६ वसिष्ठः। इन्द्रः। गायत्री।

९९. वयमु त्वा तदिदर्था इन्द्र त्वायन्तः सखायः।
कण्वा उक्थेभिर्जरन्ते ॥१॥

(इन्द्र) हे परमेश्वर! (कण्वाः) समाधि में निमीलितनेत्र योगी (त्वायन्तः) आपको चाहते हुए (उक्थेभिः) अपनी प्रशंसनीय स्तुतियों से (त्वा) आपकी (जरन्ते) सदा स्तुति करते रहते हैं। (तद् इद् अर्थाः) यह ही उनकी अभ्यर्थना है। उसी प्रकार (वयम् उ त्वा) हम लोग भी आपको ही चाहते हैं, और (सखायः) अपनी स्तुतियों के द्वारा आपके मित्र बनना चाहते हैं। [कण्वाः=कण निमीलने। कणति निमीलति असौ कण्वः। (उणादि० १।१५१)।]

१००. न घेमन्यदा पपन वज्रिन्नपसो नविष्टौ।
तवेदु स्तोमं चिकेत ॥२॥

(वज्रिन्) हे न्यायवज्रधारी! (अपसः) कर्मयोग या क्रियायोग सम्बन्धी (नविष्टौ) स्तुति-यज्ञ में (अन्यत्) मैं आपसे भिन्न किसी की (न घ ईम्) कभी भी नहीं (आ पपन) स्तुति करता हूं। और (स्तोमम्) स्तुति-मन्त्रों द्वारा मैं (तव इत् उ) आपकी ही (चिकेत) स्तुति करना जानता हूं।

१०१. इच्छन्ति देवाः सुन्वन्तं न स्वप्नाय स्पृहयन्ति ।
यन्ति प्रमादमतन्द्राः ॥३॥

(देवाः) देव लोग (सुन्वन्तम्) भक्ति रसवाले उपासक को (इच्छन्ति) चाहते हैं, (स्वप्नाय) सोनेवाले को (न स्पृहयन्ति) नहीं चाहते। देवलोग (अतन्द्रा) निद्रा और सुस्ती से अलग होते हैं। वे (प्रमादम्) भक्तिरस की उग्र मस्तीवाले को, उसकी सहायता के लिये (यन्ति) सदा प्राप्त होते हैं।

१०२. वयमिन्द्र त्वायवोऽभि प्र णोनुमो वृषन् ।
विद्धी त्वस्य नो वसो ॥४॥

(इन्द्र) हे परमेश्वर ! (वयम्) हम उपासक (त्वायवः) केवल आपकी प्राप्ति के अभिलाषी हैं। (वृषन्) हे आनन्दरसवर्षी ! (अभि) साक्षात् (प्र नोनुमः) हम आपकी उत्कृष्ट-स्तुतियां करते हैं। (वसो) हे सर्वत्र वसनेवाले ! (अस्य) इस मेरी, और (नः) हम सब की स्तुतियों को आप (विद्धि तु) जानिये।

१०३. मा नो निदे च वक्तवेऽर्यो रन्धीरराव्णे ।
त्वे अपि क्रतुर्मम ॥५॥

(अर्यः) हे परमेश्वर ! आप सर्वाधीश हैं। (निदे) आपकी निन्दा करनेवाले, (च) और (वक्तवे) बकवासी, तथा (अराव्णे) अदानी के (रन्धीः मा नः) वश में हमें न कीजिये। (मम) मुझ उपासक के (क्रतुः) कर्म और प्रज्ञायें (अपि) भी (त्वे) आपके प्रति समर्पित हैं।

१०४. त्वं वर्मासि सप्रथः पुरोयोधश्च वृत्रहन् ।
त्वया प्रति ब्रुवे युजा ॥६॥

(त्वम्) हे परमेश्वर ! आप (वर्म असि) हमारी कवच हैं, आभ्यन्तर शत्रुओं को आप ही निवारित करते हैं। (वृत्रहन्) हे पापों का हनन करनेवाले ! (च) और (पुरोयोधः) हमारे सामने उपस्थित पापों के साथ आप ही युद्ध करते हैं। (त्वया युजा) आपके सहयोग द्वारा मैं (प्रतिब्रुवे) पापों को फटकार देता हूं।

सूक्त-१६

१—७ विश्वामित्रः । इन्द्रः । गायत्री ।

१०५. वार्त्रहत्याय शवसे पृतनाषाह्याय च ।
इन्द्र त्वा वर्तयामसि ॥१॥

(वार्त्रहत्याय) पाप-वृत्रों के हनन के लिये, (शवसे) इस निमित्त आप से बल की प्राप्ति के लिये (च) और (पृतनाषाह्याय) कामादि की समग्र सेना के पराभव के लिये, (इन्द्र) हे परमेश्वर ! हम (त्वा) आप को (वर्तयामसि) अपनी ओर प्रवृत्त करते हैं।

१०६. अर्वाचीनं सु ते मन उत चक्षुः शतक्रतो ।
इन्द्र कृण्वन्तु वाघतः ॥२॥

(शतक्रतो) हे सर्वशक्तिमन् या सैंकड़ों अद्‌भुत कर्मोंवाले ! (इन्द्र) हे परमेश्वर ! (वाघतः) उपासना-यज्ञ के ऋत्विक् (ते) आप के (मनः) मन को (उत) और (चक्षुः) आप की कृपादृष्टि को (अर्वाचीनम्) हमारी ओर अर्थात् हम शिष्य उपासकों की ओर (सु) सुगमतापूर्वक (कृण्वन्तु) कर दें। अर्थात् वे ऋत्विक् हमें साधनामार्ग पर प्रेरित करें। ताकि आप की कृपादृष्टि हम नव-उपासकों की ओर भी हो सके।

[वाघतः=ऋत्विजः (निघ० ३।१५)।]

१०७. नामानि ते शतक्रतो विश्वाभिर्गीर्भिरीमहे ।
इन्द्राभिमातिषाह्ये ॥३॥

(शतक्रतो) हे विश्वकर्मन् या सैंकड़ों अद्‌भुत कर्मोंवाले ! (विश्वाभिः) सब (गीर्भिः) वैदिक-स्तुतिवाणियों द्वारा (ते) आप के ही (नामानि) नाना नामों का (ईमहे) हम कीर्त्तन करते हैं। (इन्द्र) हे परमेश्वर ! ताकि हम (अभिमातिषाह्ये) स्वाभिमानों को पराभव कर सकें।

[परमेश्वर के प्रत्येक नाम द्वारा, उस-उस नाम से प्रतिपाद्य प्रत्येक गुण-कर्म निरतिशयी हैं। उपासक उन नामों का स्तवन करता हुआ, प्रत्येक नाम द्वारा प्रतिपाद्य गुण-कर्मों की दृष्टि से अपने आप को अतिहीन अनुभव करता है। इस प्रकार उसका स्वाभिमान टूट जाता है। "शतक्रतो" द्वारा

यह दर्शाया है कि परमेश्वर के गुणकर्म सैंकड़ों प्रकार के हैं । इसलिये प्रत्येक गुण-कर्म की दृष्टि से उसके नाम भी सैंकड़ों हैं । ऋग्वेद में कहा है कि "एकं सद्विप्राः बहुधा वदन्ति" (ऋ० १।१६४।४६) । अर्थात् परमेश्वर तो एक ही है, परन्तु मेधावी ऋषि उसके नाम नाना कहते हैं ।]

१०८. पुरुष्टुतस्य धामभिः शतेन महयामसि ।
इन्द्रस्य चर्षणीधृतः ॥४॥

(पुरुष्टुतस्य) बहुत नामों द्वारा स्तुति पाए,(चर्षणीधृतः)तथा समग्र प्रजा का धारण-पोषण करनेवाले, (इन्द्रस्य) परमेश्वर के (शतेन) सैंकड़ों (धामभिः) नामों द्वारा (महयामसि) उस की महिमा का हम स्तवन करते हैं । [धामभिः=नामभिः । यथा "धामानि त्रयाणि भवन्ति स्थानानि नामानि जन्मानि" (निरु० ९।१।२७) ।]

१०९. इन्द्रं वृत्राय हन्तवे पुरुहूतमुप ब्रुवे । भरेषु वाजसातये ॥५॥

(भरेषु) देवासुर-संग्रामों में (वाजसातये) बल-प्राप्ति के लिये, (वृत्राय हन्तवे) तथा पाप-वृत्रों के हनन के लिये (पुरुहूतम्) नाना नामों द्वारा पुकारे गए (इन्द्रम्) परमेश्वर को (उप) उपासनाविधि द्वारा (ब्रुवे) मैं कहता हूं कि—

११०. वाजेषु सासहिर्भव त्वामीमहे शतक्रतो ।
इन्द्र वृत्राय हन्तवे ॥६॥

(शतक्रतो)हे सैंकड़ों अद्‌भुत कर्मोंवाले (इन्द्र) परमेश्वर ! (वाजेषु) देवासुर-संग्रामों में आसुरभावों और आसुरकर्मों का आप (सासहिः भव) पूर्णतया पराभव कीजिये । (वृत्राय हन्तवे) आसुरी पापों के हनन के लिये (त्वाम्) आप से (ईमहे) याचना करते हैं ।

[ईमहे=याच्ञाकर्मा (निघं० ३।१९)।]

१११. द्युम्नेषु पृतनाज्ये पृत्सुतूर्षु श्रवःसु च ।
इन्द्र साक्ष्वाभिमातिषु ॥७॥

(इन्द्र) हे परमेश्वर ! (द्युम्नेषु) योगज विभूतिरूपी धनों की प्राप्ति के निमित्त, (पृतनाज्ये) मनुष्य जिनमें घृताहुति के रूप में आहुत हुए जा रहे हैं, ऐसे देवासुर संग्राम के निमित्त, (पृत्सुतूर्षु) देवासुर-संग्रामों में असुरों की हिंसा के निमित्त,(च श्रवःसु) और देवासुर-संग्रामों में विजय-यशों की प्राप्ति के निमित्त, तथा (अभिमातिषु) अभिमान को भावनाओं के जागरित हो जाने पर (साक्ष्व) आप हमें सहायकरूप में प्राप्त हूजिये ।

[पृतनाज्ये=पृतना=मनुष्यनाम (निघ० २।३)+आज्य (=घी) अर्थात् युद्धाग्नि, जिसमें कि मनुष्यों की आहुतियां पड़ती हैं । पृत्सु=संग्राम-नाम(निघं० २।१७)+तूर्षु (तुर्वि हिंसायाम्) । साक्ष्व=सक्षतिः गतिकर्मा (निघं० २।१४)।]

सूक्त २०

१–४ विश्वामित्रः, ५–७ गृत्समदः । इन्द्रः । गायत्री ।

११२. शुष्मिन्तमं न ऊतये द्युम्निनं पाहि जागृविम् ।
इन्द्र सोमं शतक्रतो ॥१॥

(शतक्रतो इन्द्र) हे सैंकड़ों अद्‌भुत कर्मोंवाले परमेश्वर ! (शुष्मिन्तमम्) अतिबलशाली, (द्युम्निनम्) यशःप्रदायी, (जागृविम्) तथा सदा जागरूक (सोमम्) हमारे भक्तिरस की (पाहि) आप रक्षा कीजिये । (न ऊतये) ताकि हमारी रक्षा हो सके ।

११३. इन्द्रियाणि शतक्रतो या ते जनेषु पञ्चसु ।
इन्द्र तानि त आ वृणे ॥२॥

(शतक्रतो इन्द्र) हे सैंकड़ों अद्‌भुत कर्मोंवाले परमेश्वर ! (पञ्चसु) विस्तृत (जनेषु) प्रजाजनों में (या ते इन्द्रियाणि) आपने जो इन्द्रियां प्रदान की हुई हैं, (तानि) वे बनी रहें । (ते) आप से यह वर(आ वृणे) मैं मांगता हूं । तथा पांच जनक-तत्त्वों अर्थात् पृथिवी अप् तेज वायु आकाश में जो आप की शक्तियां हैं, वे मेरे शारीरिक पांच तत्त्वों में बनी रहें । यह वर मैं आप से मांगता हूं ।

११४. अगन्निन्द्र श्रवो बृहद् द्युम्नं दधिष्व दुष्टरम् ।
उत ते शुष्मं तिरामसि ॥३॥

(इन्द्र) हे परमेश्वर ! आप की कृपा से (बृहद् श्रवः) महायश (अगन्) हमें मिला है । आप हम में (द्युम्नम्) ऐसा आध्यात्मिक-धन (दधिष्व) स्थापित कीजिये, (दुष्टरम्) कि आसुरीभाव उसे दबा न सकें, जो कि उन के लिये दुर्लङ्घ्य हो । (उत) तदनन्तर (ते) आप के दिये (शुष्मम्) बल को (तिरामसि) हम और अधिक बढ़ाते हैं ।

[तिरते=प्रवर्धयते (निरु० ११।१'६)।]

११५. अर्वावतो न आ गह्यथो शक्र परावतः ।
उ लोको यस्ते अद्रिव इन्द्रेह तत आ गहि ॥४॥

(अर्वावतः) अवरा अर्थात् अपरा विद्यावाले (नः) हम उपासकों को (शक्र) हे शक्तिशालिन् ! (आ गहि) आप प्राप्त हूजिये । (अथ उ) और (परावतः) पराविद्यावाले हम उपासकों को आप प्राप्त हूजिये । (अद्रिवः इन्द्र) हे पाप-भक्षी परमेश्वर ! (यः) जो (ते) आप का (उ) वह अज्ञातरूप (लोकः) तुरीयावस्था का लोक है, (ततः) वहां से (इह) इस मेरे हृदय में (आ गहि) आ विराजिये ।

[अद्रिव=अत्तः (निरु० ४।१।४) । परमेश्वर अपराविद्यावाले या पराविद्यावाले किसी भी उपासक को प्राप्त हो सकता है । परमेश्वर की प्राप्ति के लिये चित्त का निष्पाप होना आवश्यक है । अवराविद्यावाला भी, यदि वह निष्पाप है, तो परमेश्वर-प्राप्ति का अधिकारी है । परमेश्वर सर्वव्यापक है, अतः किसी आधिदैविक या दैशिक दृष्टि के किसी लोक से उसका आना नहीं बनता । जगत् के निर्माण धारण तथा प्रलय में परमेश्वर निष्काम तथा निरीह रहता है । इसलिये जगत् के नियन्त्रण के साथ सम्बन्ध रहते भी परमेश्वर की तुरीयावस्था कायम रहती है । जैसे जीवात्मा की सुषुप्ति-अवस्था में भी, उस के शरीर की अनैच्छिक-क्रियाएं होती रहती हैं ।]

११६. इन्द्रो अङ्ग महद् भयमभी षदप चुच्यवत् ।
स हि स्थिरो विचर्षणिः ॥५॥

(अङ्ग) हे प्रिय उपासक ! (इन्द्रः) परमेश्वर (महद् भयम्) महाभयस्वरूप है । (अभिषद्) वह सर्वाधिष्ठाता है, और (अप चुच्यवत्) सर्व-पराभवी है । (सः हि) वह ही (स्थिरः) एक स्थिर अर्थात् एकरस कूटस्थ है । (विचर्षणिः) विविध जगत् का द्रष्टा है ।

[भयम् भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः ।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ॥
तै. उप. वल्ली २, अनुवा. ८, खं. १ ।]

११७. इन्द्रश्च मृळयाति नो न नः पश्चादघं नशत् ।
भद्रं भवाति नः पुरः ॥६॥

(इन्द्रः) परमेश्वर (नः) हमें जब (मृलयाति) सुखी कर देता है, आनन्दरस द्वारा आनन्दित कर देता है, (पश्चात्) तत्पश्चात् (नः) हमें (अघम्) पाप (न नशत्) नहीं प्राप्त होता । क्योंकि (नः) हमारे (पुरः) सामने वह परमेश्वर (भद्रं भवति) सदा सुखदायी और कल्याणकारी रूप में रहता है ।

११८. इन्द्र आशाभ्यस्परि सर्वाभ्यो अभयं करत् ।
जेता शत्रून् विचर्षणिः ॥७॥

(इन्द्रः) वह परमेश्वर (सर्वाभ्यः) सब (आशाभ्यः परि) दिशाओं से (अभयम्) हमें भयरहित (करत्) कर देता है । वह (शत्रून्) हमारे सब शत्रुओं पर (जेता) विजय पाए हुए है । (विचर्षणिः) वह विविध जगत् का द्रष्टा है ।

सूक्त २१

१—११ सव्यः । इन्द्रः । १—९ जगती; १०—११ त्रिष्टुप् ।

११९. न्यू३षु वाचं प्र महे भरामहे गिर इन्द्राय सदने विवस्वतः ।
नू चिद्धि रत्नं ससतामिवाविदन्न दुष्टुतिर्द्रविणोदेषु शस्यते ॥१॥

(विवस्वतः) सूर्य के (सदने) सदन अर्थात् पृथिवीलोक में रहते हुए हम उपासक, (महे इन्द्राय) महान् परमेश्वर के प्रति (वाचम्) अपने स्तुतिवचन और (गिरः) वैदिक स्तुतिवचन (नि) नितरां तथा (सु) उत्तम-विधि से (प्र भरामहे) भेंट करते हैं । (नु चित् हि) निश्चय से ही वह परमेश्वर उन सुस्त उपासक व्यक्तियों की (रत्नम्) आध्यात्मिक-सम्पत्तियों को (अविदत्) हर लेता है । (इव) जैसे कि वह (ससताम्)

स्वप्नशील अनुद्यमी व्यक्तियों की प्राकृतिक सम्पत्तियों को हर लेता है। (दुष्टुतिः) अविधिपूर्वक की गई स्तुति दुःस्तुति है, वह (द्रविणोदेषु) सर्वस्व समर्पित करनेवाले उपासकों में (न शस्यते) प्रशंसित नहीं है।

[ससताम्=सस् स्वप्ने। द्रविणोदेषु=द्रविणम् (=धनम्)+दा (=दातारः)।]

१२०. दुरो अश्वस्य दुर इन्द्र गोरसि दुरो यवस्य वसुन इनस्पतिः।
शिक्षानरः प्रदिवो अकामकर्शनः सखा सखिभ्यस्तमिदं गृणीमसि ॥२॥

(इन्द्र) हे परमेश्वर! आप (अश्वस्य) अश्व या मन की प्राप्ति के (दुरः) द्वार (असि) हैं, साधन हैं। आप (गोः) गौओं या इन्द्रियों की प्राप्ति के (दुरः) द्वार हैं। आप (यवस्य) जौं आदि अन्न तथा (वसुनः) सब प्रकार के ऐश्वर्यों की प्राप्ति के (दुरः) द्वार हैं। (इनस्पतिः) आप सब के स्वामी तथा पालक हैं। हे परमेश्वर! आप (शिक्षानरः) वैदिक शिक्षाओं के नेता हैं, (प्रदिवः) आप पुराण पुरुष हैं, (अकामकर्शनः) कामनाओं के वशवर्ती नहीं हैं। आप (सखिभ्यः) उपासक सखाओं के लिये (सखा) सखा हैं। (तम्) उस आप के प्रति (इदम्) इस सब कुछ को (गृणीमसि) हम अर्चनारूप में भेंट करते हैं।

[प्रदिवः=पुराण नाम (निघ० ३ २७)। गृणाति=अर्चतिकर्मा (निघ० ३।१४)।]

१२१. शचीव इन्द्र पुरुकृद् द्युमत्तम तवेदिदमभितश्चेकिते वसु।
अतः संगृभ्याभिभूत आ भर मा त्वायतो जरितुः काममूनयीः॥३॥

(शचीव) हे प्रज्ञा-वाणी-सत्कर्मों के स्वामिन्! (पुरुकृत्) हे सुखों से भरपूर जगत् के कर्त्ता! तथा (द्युमत्तम इन्द्र) हे सर्वातिशायी द्युति से सम्पन्न परमेश्वर! (अभितः) सब ओर समक्षरूप में (इदम्) ये (वसु) विभूतियां जो (चेकिते) दृष्टिगोचर हो रही हैं, वे (तव) आपकी हैं। (अभिभूते) हे सर्वत्र सत्तावाले! (अतः) इन विभूतियों में से कतिपय विभूतियों का (संगृभ्य) संग्रह करके (आभर) मुझे प्रदान कीजिये। (त्वायतः) आपको चाहनेवाले (जरितुः) आप के स्तोता की (कामम्) कामना को (मा ऊनयीः) न्यून न कीजिये, असफल न कीजिये।

[अभि+भूति (=भू सत्तायाम्+क्तिन्)।]

१२२. एभिर्द्युभिः सुमना एभिरिन्दुभिर्निरुन्धानो अमतिं गोभिरश्विना।
इन्द्रेण दस्युं दरयन्त इन्दुभिर्युतद्वेषसः समिषा रभेमहि ॥४॥

हे उपासक! (एभिः) इन (द्युभिः) ज्ञान से द्योतमान (गोभिः) वेदवाणियों द्वारा तू (सुमनाः) अपने मन को स्वच्छ कर। और (एभिः) इन (इन्दुभिः) सरस (गोभिः) वेदवाणियों द्वारा तू (अमतिम्) अपने अज्ञान को (निरुन्धानः) निरुद्ध कर, हटा। हम सब उपासक (अश्विना) कालाश्व के अधिष्ठाता (इन्द्रेण) परमेश्वर की सहायता द्वारा, तथा (इन्दुभिः) सरस वेदवाणियों द्वारा (दस्युम्) उपक्षयकारी काम आदि को (दरयन्तः) विदीर्ण करते हुए, (युतद्वेषसः) तथा द्वेष भावनाओं से पृथक् रहते हुए, (सम्) सब मिलकर (इषा) परमेश्वरीयेच्छा के अनुकूल (रभेमहि) सत्कार्यों में प्रयत्न करते रहें।

[इन्दुभिः=इन्दुः उनत्तेर्वा (निरु० १०।४।४१); उन्द् क्लेदने। इषा=इष् इच्छायाम्। युत=यु अभिश्रणे। अश्विना=अश्व (=काल), 'कालो अश्वो वहति सप्तरश्मिः' (अथर्व० १९।५३।१) में काल को अश्व कहा है। अथवा मन्त्र के पूर्वार्ध का अर्थ निम्न प्रकार का है। यथा— "इन आध्यात्मिक अर्थात् योगजन्य प्रकाशों द्वारा, तथा इन सरस भक्ति-रसों द्वारा प्रसन्नचित्त हो, तथा वेदवणियों द्वारा अज्ञान का निरोध कर।"]

१२३. समिन्द्र राया समिषा रभेमहि सं वाजेभिः पुरुश्चन्द्रैरभिद्युभिः।
सं देव्या प्रमत्या वीरशुष्मया गोअग्रयाश्वावत्या रभेमहि ॥५॥

(इन्द्र) हे परमेश्वर! (राया) योगज-विभूति को प्राप्त करके (सम् रभेमहि) हम इकट्ठे होकर सत्कर्मों में प्रवृत्त हों। (इषा) आपकी इच्छा के अनुसार (सम्) हम इकट्ठे होकर सत्कर्मों में प्रवृत्त हों। (वाजेभिः) आध्यात्मिक बलों की प्राप्ति द्वारा, तथा (पुरुश्चन्द्रैः) बहुत चमकते (अभिद्युभिः) दिव्य प्रकाशों की प्राप्ति के द्वारा (सम्) हम मिल कर सत्कर्मों में प्रवृत्त हों। (देव्या) दिव्य तथा (वीरशुष्मया) धर्मवीरों के बलों से सम्पन्न, तथा (गोअग्रया) वाणियों में सर्वाग्रणी वेदवाणियों से सम्पन्न, और (अश्वावत्या) अश्व अर्थात् मानसिक बल से सम्पन्न (प्रमत्या) सम्मति से प्रेरित होकर (सम्) हम मिलकर (रभेमहि) सत्कर्मों को आरम्भ करें।

१२४. ते त्वा मदा अमदन् तानि वृष्ण्या ते सोमासो वृत्रहत्येषु सत्पते ।
यत् कारवे दश वृत्राण्यप्रति बर्हिष्मते नि सहस्राणि बर्हयः ॥६॥

(सत्पते) हे सच्चे पति ! (ते) उन हमारी भक्ति की (मदाः) मस्तियों ने, (तानि) उन (वृष्ण्या) हमारे भक्तिरसवर्षी कर्मों ने, तथा (ते) उन हमारे (सोमासः) भक्तिरसों ने (वृत्रहत्येषु) हमारे पाप-वृत्रों के हनन कार्यों में (त्वा) आपको (अमदन्) प्रसन्न कर दिया है। (बर्हिष्मते) क्योंकि पापों की जड़ काटने में लगे हुए (कारवे) स्तुतिकर्त्ता उपासक के, (सहस्राणि) अति प्रबल (दश वृत्राणि) १० पापों को (अप्रति) विना विरोध के, अर्थात् आसानी से (यत्) जो आपने (नि बर्हयः) काट दिया है।

[**वृष्ण्या=वृष्ण्यानि=वर्षकर्माणि** (निरु० १०।१।१०)। **कारवे=कारुः स्तोता** (निघ० ३।१६)। दश वृत्राणि=दस इन्द्रियों के दस प्रकार के राजस कर्म। **सहस्राणि=यौगिकवृष्टया "सहस्रं सहस्वत्"** (निरु० ३।२।१०)। अथवा—सहस्रम्=बहुत। बर्हिः, बर्हयः=नि बृह्=To destroy, Remove (आपटे)।]

१२५. युधा युधमुप घेदेषि धृष्णुया पुरा पुरं समिदं हंस्योजसा ।
नम्या यदिन्द्र सख्या परावति निबर्हयो नमुचिं नाम मायिनम् ॥७॥

(इन्द्र) हे परमेश्वर ! (युधा) देवासुर-संग्राम में युद्ध करनेवाले (धृष्णुया) हठीले कामादि के साथ (युधम्) युद्ध करना, आप (उप एषि) स्वीकार कर लेते हैं। (घ इत्) अवश्य ही स्वीकार कर लेते हैं। और (पुरा) अनादिकाल से (इदं पुरम्) कामादि की इस पुरी को (ओजसा) निज ओज द्वारा (सम् हंसि) आप सम्यक् प्रकार से हनन कर देते हैं। (यद्) जबकि आप (नम्या) रात्रिकाल में (सख्या) निज सखिभाव के कारण (परावति) पराविद्यावाले उपासक में स्थित (नमुचिम्) और उसे न छोड़नेवाले (मायिनं नाम) प्रसिद्ध मायावी अर्थात् छल-कपट से युक्त कामादि की (निबर्हयः) जड़ काट देते हैं।

[पुरम्=कामादि की पुरी हैं रजोगुण और तमोगुण, जो कि चित्त पर राज्य कर रहे होते हैं। नम्याः=रात्रि के १२ बजे के उपरान्त, अविकाल में उपासना के परिपक्व हो जाने पर परमेश्वर सखा बन कर उपासक का उपकार करता है। [**नम्या=रात्रि** (निघ० १।७)।]

१२६. त्वं करञ्जमुत पर्णयं वधीस्तेजिष्ठयातिथिग्वस्य वर्तनी ।
त्वं शता वङ्गृदस्याभिनत् पुरोऽनानुदः परिषूता ऋजिश्वना ॥८॥

(अतिथिग्वस्य) जिनके आगमन की कोई नियत तिथि नहीं, ऐसे योगीराजों की सेवा के लिये उनके प्रति गमन करनेवाले उपासक की (तेजिष्ठया) तीव्र संवेगवाली (वर्तनी) चित्तवृत्ति तथा उसके व्यवहार द्वारा, हे परमेश्वर ! आपने उसके (करञ्जम्) वैषयिक-सुखों में मनोरञ्जन का, तथा (पर्णयम्) पत्ते के सदृश चञ्चल चेष्टाओं का (वधीः) वध कर दिया है, विनाश कर दिया है। (ऋजिश्वना) ऋजु अर्थात् सत्यमार्ग पर चलनेवाले मनरूपी अश्ववाले उपासक द्वारा (परिषूताः) धकेल दी गईं, (अनानुदः) और पुनः प्रेरणा प्रदान की शक्ति से रहित, (वङ्गृदस्य) कुटिल गतियों=वक्र गतियों के प्रदाता कामादि के (शता पुरः) सैकड़ों गढ़ों को (त्वम्) हे परमेश्वर ! आपने (अभिनत्) तोड़-फोड़ दिया है।

[करञ्जम्=क=वैषयिक सुखभोग+रञ्जन। पर्णयम्=पर्ण (=पत्ता) की गति, अस्थिर गति, चञ्चलता। अतिथिग्वस्य=अतिथिं प्रति गच्छति इति अतिथिगुः, तस्य। (वङ्गृदस्य) वक्रगतिप्रदातुः। ऋजिश्वना=ऋजु+अश्व (=मन)।]

१२७. त्वमेतां जनराज्ञो द्विर्दशाबन्धुना सुश्रवसोपजग्मुषः ।
षष्टिं सहस्रा नवतिं नव श्रुतो नि चक्रेण रथ्या दुष्पदावृणक् ॥९॥

(अबन्धुना) सांसारिक तथा बन्धु-बान्धवों के बन्धन से रहित, (सुश्रवसा) वैदिक सदुपदेशों से सम्पन्न, (जनराज्ञः) उत्पन्न शरीर के राजा जीवात्मा को (उपजग्मुषः) प्राप्त हुए, (द्विः दश) ५ ज्ञानेन्द्रियों, ५ कर्मेन्द्रियों तथा ५ स्थूलभूतों, ५ सूक्ष्मभूतों को, तथा जन्म-जन्मान्तरों से (षष्टिं सहस्रा) सोए पड़े हज़ारों संस्कारों को, और (नवतिं नव)एक वर्ष मातृ-गर्भ में तथा ९९ वर्ष तदुपरान्त, इस प्रकार वर्तमान जीवन के १०० वर्षों में संचित हुए (एतान्) इन संस्कारों को, (त्वम्) हे परमेश्वर ! आपने (नि अवृणक्) नितरां कुचल दिया है, जैसे कि (दुष्पदा) दुर्गति प्राप्त करानेवाले (रथ्या चक्रेण) रथ के चक्र द्वारा वस्तु कुचल दी जाती है।

[अभिप्राय यह है कि इन्हें कुचल कर जीवात्मा को मुक्त कर दिया है।]

१२८. त्वमाविथ सुश्रवसं तवोतिभिस्तव त्रामभिरिन्द्र तूर्वयाणम् ।
त्वमस्मै कुत्समतिथिग्वमायुं महे राज्ञे यूने अरन्धनायः ॥१०॥

(इन्द्र) हे परमेश्वर ! (त्वम्) आपने (तव ऊतिभिः) अपने रक्षा-साधनों द्वारा, तथा (तव त्रामभिः) अपनी पालक शक्तियों द्वारा, (सुश्रवसम्) वैदिक सदुपदेशों से सम्पन्न, तथा (तूर्वयाणम्) अपने शरीर-रथ को योगमार्ग पर शीघ्र चलानेवाले उपासक की (आविथ) सदा रक्षा की है। (महे) महाशक्तिवाले, (राज्ञे) शरीर इन्द्रियों मन तथा बुद्धि के राजा, (यूने) सदा युवा (अस्मै) इस जीवात्मा के लिये (त्वम्) आपने (कुत्सम् आयुम्) अविद्यामूलोच्छेदक मनुष्यशरीरधारी महायोगी को, तथा (अतिथिग्वम्) अतिथिरूप में प्राप्त होनेवाले सद्गुरु के सेवक को (अरन्धनायः) उसके वशीभूत कर दिया है।

[कुत्सम्=कृन्ततेः, कृत् छेदने। वज्र समान, अविद्यामूल के उच्छेदक को। कुत्स=वज्र (निघ० ७।२०)। अतिथिग्वम्=(मन्त्र संख्या ९); अतिथि+गाङ् गतौ+उ। आयु=मनुष्य (निघ० २।३)।]

१२९. य उद्‌चीन्द्र देवगोपाः सखायस्ते शिवतमा असाम ।
त्वां स्तोषाम त्वया सुवीरा द्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः ॥११॥

(उद्‌चि) उच्च-स्वरों की स्तुतियों में, (इन्द्र) हे परमेश्वर ! (ये) जो हम (ते) आप के (सखायः) सखा उपासक, (देवगोपाः) आप देव द्वारा सुरक्षित हुए-हुए, (शिवतमाः) शिवतमस्वरूप (असाम) हो गये हैं, वे हम (त्वाम्) आपकी ही (स्तोषाम) स्तुतियां करते हैं, और (त्वया) आपकी कृपा से (सुवीराः) उपासना मार्ग में उत्तम वीर बन कर (प्रतरं द्राघीयः आयुः) बहुत लम्बी आयु (दधानाः) धारण करें।

सूक्त २२

१-३ त्रिशोकः, ४-६ प्रियमेधः । इन्द्रः । गायत्री ।

१३०. अभि त्वा वृषभा सुते सुतं सृजामि पीतये ।
तृम्पा व्यश्नुही मदम् ॥१॥

(वृषभ) हे आनन्दरसवर्षी ! (आ सुते) भक्तिरस के पूर्णतया

तय्यार हो जाने पर, मैं उपासक (सुतम्) तय्यार किये भक्तिरस को (पीतये) आप की स्वीकृति के लिये (त्वा अभि) आपके प्रति (सृजामि) समर्पित करता हूं। (तृम्प) आप उसके द्वारा तृप्त हूजिये। और मुझमें (मदम्) आनन्दरस की मस्ती (व्यश्नुही) व्याप्त कर दीजिये, भर दीजिये।

१३१. मा त्वा मूरा अविष्यवो मोपहस्वान आ दभन् ।
माकीं ब्रह्मद्विषो वनः ॥२॥

हे उपासक ! (अविष्यवः) चापलूस लोग (त्वा) तुझे, तेरे उपासना मार्ग से (मा आ दभन्) च्युत न करें। (मा) और न (उपहस्वानः) तेरे उपासनामार्ग का उपहास करनेवाले (मूराः) मूर्ख लोग तुझे तेरे उपासना मार्ग से च्युत करें। तू (ब्रह्मद्विषः) ब्रह्मद्वेषी जन का (वनः) संसर्ग (मा कीम्) न किया कर।

[अविष्यवः=अव् (To Praise आपटे)।]

१३२. इह त्वा गोपरीणसा महे मदन्तु राधसे ।
सरो गौरो यथा पिब ॥३॥

हे उपासक ! (इह) इस उपासना-मार्ग में, (गोपरीणसाः) स्तोताओं द्वारा परिगत अर्थात् घिरे हुए गुरुजन, (त्वा) तुझे (महे राधसे) महाधन मोक्ष की प्राप्ति के लिये (मदन्तु) प्रगतिशील करें। तू (पिब) भक्तिरस का पान कर। (यथा) जैसे कि (गौरः) तृषित मृग (सरः) तालाब के जल का पान करता है। [मदन्तु=मद् गतौ। परीणस=परि+नस् (=गतौ)। गो=स्तोता (निघ० ३।१६)।]

१३३. अभि प्र गोपतिं गिरेन्द्रमर्च यथा विदे ।
सूनुं सत्यस्य सत्पतिम् ॥४॥

हे उपासक ! (यथा विदे) यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति के लिये (गिरा) वेदवाणियों द्वारा (इन्द्रम्) परमेश्वर की (अभि) प्रत्यक्षरूप में (प्र अर्च) अर्चना किया कर। जो परमेश्वर कि (गोपतिम्) वेदवाणियों का पति है, (सत्पतिम्) सभी सत्-पदार्थों का पति है, (सत्यस्य सूनुम्) और वेदवाणियों द्वारा सत्यज्ञान का प्रेरक है।

१३४. आ हरयः ससृज्रिरेऽरुषीरधि बर्हिषि। यत्राभि संनवामहे॥५॥

हे परमेश्वर ! (बर्हिषि अधि) हृदयाकाश में आपकी (अरुषीः) चमकीली (हरयः) क्लेशहारी किरणें (आ ससृज्रिरे) सर्वत्र प्रकट हो गई हैं। (यत्र) जिस हृदयाकाश में (अभि) प्रत्यक्षतया (सम्) सम्यक् रूप में (नवामहे) हम आपकी स्तुतियां करते हैं।

१३५. इन्द्राय गाव आशिरं दुदुह्रे वज्रिणे मधु ।
यत् सीमुपह्वरे विदत् ॥६॥

(वज्रिणे इन्द्राय) न्यायवज्रधारी परमेश्वर के लिये, (गावः) स्तुतियां करनेवाले उपासकों ने (मधु) मधुर, (आशिरम्) तथा परिपक्व भक्तिरसरूपी-दुग्ध का (दुदुह्रे) दोहन किया है। (यत्) जिस भक्तिरस को उपासकों ने (उपह्वरे) पर्वतों की गुफाओं में अभ्यास द्वारा (विदत्) पाया है। (सीम्) और जो भक्तिरस उपासकों के जीवन में फैल गया है।

[गावः=गौः=स्तोता (निघ० ३।१६)। उपह्वरे="उपह्वरे गिरीणाम्" (साम, प्र० १, अर्ध प्र० १, द० ५, मं० ६)।]

सूक्त २३

१–९ विश्वामित्रः। इन्द्रः। गायत्री।

१३६. आ तू न इन्द्र मद्र्यग्घुवानः सोमपीतये ।
हरिभ्यां याह्यद्रिवः ॥१॥

(इन्द्र) हे परमेश्वर ! (हुवानः) पुकारे गए आप (मद्र्यक्) मुझ उपासक की ओर आइये, (सोमपीतये) मेरे भक्तिरस के पान के लिये। (अद्रिवः) हे पापों का भक्षण करनेवाले ! (हरिभ्याम्) ऋक् और साम की स्तुतियों और गानों द्वारा, आप (नः) हमारी ओर (तू) शीघ्र (आ याहि) प्रवृत्त हूजिये। [अद्रिः=अत्तेः (निरु० ४।१।४)।]

१३७. सत्तो होता न ऋत्वियस्तिस्तिरे बर्हिरानुषक् ।
अयुञ्जन् प्रातरद्रयः ॥२॥

हे परमेश्वर ! (अद्रयः) पापभक्षी अर्थात् निष्पाप हृदयोंवाले उपासकों

ने (प्रातः) प्रातःकाल की उपासना में (अयुञ्जन्) योगविधि द्वारा आपको अपने साथ योगयुक्त कर लिया है। और उन्होंने (बर्हिः) हृदयासनों को आपके लिये (आनुषक्) निरन्तर (तिस्तिरे) बिछा रखा है। (ऋत्वियः) मुझे भी यह उपासनाकाल प्राप्त हुआ है, और मैं (सत्तः) उपासना में स्थित होकर (होता न) होता-ऋत्विक् के सदृश आपका आह्वान कर रहा हूं।

१३८. इमा ब्रह्म ब्रह्मवाहः क्रियन्त आ बर्हिः सीद ।
वीहि शूर पुरोलाशम् ॥३॥

(ब्रह्मवाहः) ब्रह्म को प्राप्त करानेवाली (इमा) ये (ब्रह्म) ब्राह्मी-स्तुतियां (क्रियन्ते) की जा रही हैं। (बर्हिः) हृदयासन पर (आ सीद) आ विराजिये। (शूर) हे पराक्रमशील ! (पुरोडाशम्) देय भक्तिरस आपके समक्ष है, इसे आप (वीहि) स्वीकार कीजिये।

[पुरोलाशम्=पुरोडाशम्=पुरः देयम्। दाश्टृ दाने।]

१३९. रारन्धि सवनेषु ण एषु स्तोमेषु वृत्रहन् ।
उक्थेष्विन्द्र गिर्वणः ॥४॥

(वृत्रहन् इन्द्र) घेरा डाले हुए पापों का हनन करनेवाले हे परमेश्वर! (गिर्वणः) तथा वैदिक वाणियों द्वारा भजने योग्य हे परमेश्वर! (णः=नः) हमारे (एषु) इन (सवनेषु) भक्ति-यज्ञों में, (स्तोमेषु) सामगानों में, तथा (उक्थेषु) स्तुतियों के उच्चारणों में (रारन्धि) आप हमें प्रसन्न कीजिये, या आप प्रसन्न हूजिये, या हमें योग-साधना में सिद्ध कीजिये।

१४०. मतयः सोमपामुरुं रिहन्ति शवसस्पतिम् ।
इन्द्रं वत्सं न मातरः ॥५॥

(मातरः) माताएं (सोमपाम् वत्सं न) जैसे दुग्धपायी बच्चे के साथ (रिहन्ति) स्नेह करती हैं, वैसे (मतयः) मननशील उपासक (उरुम्) महान् (शवसः पतिम्) बलों के स्वामी, और (सोमपाम्) भक्तिरसपायी (इन्द्रम्) परमेश्वर के साथ (रिहन्ति) स्नेह करते हैं।

[सोम=दुग्ध; यथा—"सोमो दुग्धाभिरक्षाः" (ऋ० ९।१०७।९)। अर्थात् दोही गई गौओं से सोम क्षरित हुआ है।]

१४१. स मन्दस्वा ह्यन्धसो राधसे तन्वा महे।
न स्तोतारं निदे करः ॥६॥

हे परमेश्वर ! (सः) वे आप (अन्धसः) भक्तिरसरूपी अन्न रस को ग्रहण कर (मन्दस्व हि) प्रसन्न हूजिये, ताकि मैं उपासक (तन्वा) शारीरिक परिश्रम द्वारा (महे राधसे) महासिद्धि अर्थात् मोक्ष को प्राप्त कर सकूं। (स्तोतारम्) अपने स्तोता को (निदे) निन्दा का पात्र (न करः) न होने दीजिये।

१४२. वयमिन्द्र त्वायवो हविष्मन्तो जरामहे। उत त्वमस्मयुर्वसो ॥७॥

(इन्द्र) हे परमेश्वर ! (वयम्) हम उपासक (त्वायवः) आपको चाहते हैं, इसलिये (हविष्मन्तः) भक्तिरस की हवियां लिये हम (जरामहे) आपकी स्तुतियां कर रहे हैं। (उत) तथा (वसो) हे सर्वत्र बसे सम्पत्ति-स्वरूप परमेश्वर ! (अस्मयुः) आप भी हमारी चाहना कीजिये।

[**जरामहे=जरिता=स्तोता** (निघ० ३।१६) तथा **जरति जरते= अर्चतिकर्मा** (निघ० ३।१४)।]

१४३. मारे अस्मद् वि मुमुचो हरिप्रियार्वाङ् याहि ।
इन्द्र स्वधावो मत्स्वेह ॥८॥

(इन्द्र) हे परमेश्वर ! (अस्मद् आरे) हम से दूर (मा) न हूजिये, न हमें (वि मुमुचः) छोड़ दीजिये। (हरिप्रिय) हे मनोहारी भक्तिरस के प्यारे ! (अर्वाङ् याहि) हमारे अभिमुख रहिये। (स्वधावः) हे भक्तिरस-रूपी अन्न के स्वामिन् ! (इह) इन हमारे भक्तिरसों में (मत्स्व) प्रसन्न रहिये। [**स्वधा=अन्न** (निघं० २।८)।]

१४४. अर्वाञ्चं त्वा सुखे रथे वहतामिन्द्र केशिना ।
घृतस्नू बर्हिरासदे ॥९॥

(केशिना) प्रकाश को प्राप्त हुई हमारी ज्ञानेन्द्रियां और कर्मेन्द्रियां (घृतस्नू) तथा जल के सदृश प्रवाहरूप में बहते हुए हमारे भक्तिरसों को आपकी ओर प्रवाहित करती हुई हमारी ज्ञानेन्द्रियां और कर्मेन्द्रियां (सुखे रथे) हमारे सुखमय शरीर-रथों में (त्वा) आपको (अर्वाञ्चम्) हमारी

ओर (वहताम्) प्रेरित करें। ताकि आप (बर्हिः) हमारे हृदयासनों पर (आ सदे) आ विराजें। [मन्त्र में इन्द्रियों को अश्वरूप, तथा शरीर को रथरूप में वर्णित किया है। घृतस्नू=घृत=घृ क्षरणे; स्नु प्रस्रवणे। घृत= उदक (निघ० १।१२)।]

सूक्त २४

१—९ विश्वामित्रः । इन्द्रः । गायत्री ।

१४५. उप नः सुतमा गहि सोममिन्द्र गवाशिरम् ।
हरिभ्यां यस्ते अस्मयुः ॥१॥

(इन्द्र) हे परमेश्वर ! आप (हरिभ्याम्) ऋक् और साम की स्तुतियों और सामगानों द्वारा (नः) हम उपासकों के (सुतम्) निष्पन्न और (गवाशिरम्) वेदोक्त विधियों द्वारा परिपक्व (सोमम्) भक्ति-रस के (उप) समीप (आ गहि) आइये। (यः) जो भक्तिरस कि ते केवल आपके लिये निष्पादित हुआ है, ताकि (अस्मयुः) आप हमारी कामना करें, हमें अपना लें। [**गवाशिरम्=गौः वाक्** (निघ० १।११)+शृ पाके।]

१४६. तमिन्द्र मदमा गहि बर्हिष्ठां ग्रावभिः सुतम् ।
कुविन्न्वस्य तृष्णवः ॥२॥

(इन्द्र) हे परमेश्वर ! (ग्रावभिः) स्तोताओं द्वारा (सुतम्) निष्पादित, (बर्हिष्ठाम्) हमारे रक्तों के कण-कण में स्थित, (तं मदम्) उस प्रसन्नताप्रद भक्तिरस को (आ गहि) आप प्राप्त कीजिये। प्रतिफल में हम स्तोता आपके (अस्य) इस आनन्दरस की (तृष्णवः) तृष्णावाले हैं।

[आ गहि=गम् धातु का अर्थ है 'गति'। और गति के तीन अर्थ होते हैं—ज्ञान गमन और प्राप्ति। यहां 'प्राप्ति' अर्थ लिया गया है। **बर्हिष्ठाम्=बर्हिः उदकम्** (निघ० १।१२)। अथर्ववेद १०।२।११ में 'आपः' पद द्वारा 'रक्त' का वर्णन हुआ है। यथा—

को अस्मिन्नापो व्यदधात् विषूवृतः पुरूवृतः सिन्धुसृत्याय जाताः ।
तीव्रा अरुणा लोहिनीस्ताम्रधूम्रा ऊर्ध्वा अवाचीः पुरुषे तिरश्चीः ॥

अर्थात् किसने इस पुरुष में शरीरव्यापी (आपः) जल स्थापित किये हैं, जो कि विविध रूपोंवाले, राशि में प्रभूत हैं, और हृदय-सिन्धु में सरण करते हैं,

जो स्वाद में नमकीन; तथा रंग में धूसर लाल। तथा ताम्बे के धूए जैसे नीले हैं। जो पुरुष में ऊपर-नीचे तथा आर-पार की नाड़ियों में प्रवाहित हो रहे हैं। ग्रावभिः=ग्रावाणः गृणातेर्वा (निरु० ६।१।६)। अथवा बर्हिषि=हृदयाकाश में।]

१४७. इन्द्रमित्था गिरो ममाच्छागुरिषिता इतः ।
आवृते सोमपीतये ॥३॥

(इत्था) वस्तुतः (इतः) इस मेरे हृदय से (इषिताः) निकली हुई, तथा एषणाओं से भरी हुई (मम गिरः) मेरी स्तुतियां (इन्द्रम् अच्छ) परमेश्वर की ओर (अगुः) प्रवृत्त हुई हैं। ताकि स्तुतियां (सोमपीतये) भक्तिरस के पान के लिये (आवृते) परमेश्वर का मेरी ओर आवर्तन करें, झुकाव करें। [इत्था=सत्यम् (निघ० ३।१०)।]

१४८. इन्द्रं सोमस्य पीतये स्तोमैरिह हवामहे ।
उक्थेभिः कुविदागमत् ॥४॥

(सोमस्य) भक्तिरस के (पीतये) स्वीकार करने के लिये (स्तोमैः) सामगानों द्वारा, तथा (उक्थेभिः) वैदिक सूक्तों की स्तुतियों द्वारा (इह) इस हृदय में (इन्द्रं हवामहे) हम परमेश्वर का आह्वान करते हैं। इस विधि से परमेश्वर (कुविद्) बार-बार (आगमत्) हमें दर्शन देता है।

१४९. इन्द्र सोमाः सुता इमे तान् दधिष्व शतक्रतो ।
जठरे वाजिनीवसो ॥५॥

(इन्द्र) हे परमेश्वर! (इमे) ये (सोमाः) भक्तिरस (सुताः) तय्यार हैं। (शतक्रतो) हे सैंकड़ों अद्भुत कर्मों के कर्त्ता! तथा (वाजिनीवसो) हे आध्यात्मिक उषाओं की सम्पत्तिवाले! (तान्) उन भक्तिरसों को (दधिष्व) आप अपने में धारण कीजिये, जैसे कि बुभुक्षित व्यक्ति अन्न को (जठरे) अपने पेट में धारण करता है।

१५०. विद्मा हि त्वा धनंजयं वाजेषु दधृषं कवे ।
अधा ते सुम्नमीमहे ॥६॥

(कवे) हे वेदकाव्यों के कवि! (हि विद्मा त्वा) हम आपको निश्चय-

पूर्वक जानते हैं कि आपने (धनंजयम्) सांसारिक और आध्यात्मिक धनों पर विजय पाई हुई है, और (वाजेषु) देवासुर-संग्रामों में (दधृषम्) आप आसुरी भावनाओं का धर्षण करनेवाले हैं (अधा) इसलिये (सुम्नम्) आप से सुख की, तथा आपकी प्रसन्नता की (ईमहे) हम प्रार्थनाएं करते हैं।

[वाजे=संग्राम (निघ० २।१७)।]

१५१. इममिन्द्र गवाशिरं यवाशिरं च नः पिब ।
आ गत्या वृषभिः सुतम् ॥७॥

(इन्द्र) हे परमेश्वर! (वृषभिः) भक्तिरसों की वर्षा करनेवाले उपासकों द्वारा (सुतम्) निष्पादित (इमम्) इस (नः) हमारे भक्तिरस का (पिब) आप पान कीजिये। जैसे कि कोई अभ्यागत अतिथि (आगत्य) आकर हमारे तय्यार किये (गवाशिरम्) पकाए हुए गोदुग्ध का, तथा (यवाशिरम्) पकाई जौं की लप्सी का पान करता है।

१५२. तुभ्येदिन्द्र स्व ओक्ये३ सोमं चोदामि पीतये ।
एष रारन्तु ते हृदि ॥८॥

(इन्द्र) हे परमेश्वर! (तुभ्येत्) आपके लिये ही, मैं उपासक (स्वे ओक्ये) अपने हृदय-गृह में (सोमं) भक्तिरस को (चोदामि) प्रेरित करता हूं, (पीतये) ताकि आप इसे स्वीकार करें। (हृदि) मेरे हृदय में स्थित (एषः) यह भक्तिरस (ते) आपके लिये (रारन्तु) प्रसन्नतादायक हो।

१५३. त्वां सुतस्य पीतये प्रत्नमिन्द्र हवामहे ।
कुशिकासो अवस्यवः ॥९॥

(इन्द्र) हे परमेश्वर! (कुशिकासः) भक्ति और योग के विषयों पर प्रकाश डालनेवाले, (अवस्यवः) तथा राग-द्वेष से आत्मरक्षा चाहनेवाले हम उपासक (सुतस्य पीतये) निष्पादित भक्तिरस के पानार्थ (त्वा प्रत्नम्) आप पुराण पुरुष का (हवामहे) आह्वान करते हैं।

[कुशिकः="क्रोशतेर्वा स्यात् प्रकाशयतिकर्मणः, साधु विक्रोशयिताऽर्थानामिति वा" (निरु० २।७।२५)। जो वस्तु-तत्त्वों का प्रकाश करे, या सम्यक् प्रकार से पदार्थों की व्याख्या करे, उसे 'कुशिक' कहते हैं।]

सूक्त २५

१—६ गोतमः, ७ अष्टकः । इन्द्रः । १—६ जगती; ७ त्रिष्टुप् ।

१५४. अश्वावति प्रथमो गोषु गच्छति सुप्रावीरिन्द्र मर्त्यस्तवोतिभिः ।
तमित्पृणक्षि वसुना भवीयसा सिन्धुमापो यथाभितो विचेतसः ॥१॥

(अश्वावति) सूर्य से सम्बद्ध भूमण्डल में रहनेवाला (प्रथमः) सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति (गोषु) वेदवाणियों में (गच्छति) प्रगति प्राप्त करता है, वेदवाणियों के रहस्यार्थों को जान पाता है। (इन्द्र) हे परमेश्वर ! (मर्त्यः) ऐसा मनुष्य (तव ऊतिभिः) आपके रक्षा-साधनों द्वारा (सु प्रावीः) उत्तम रक्षा पाता है। (तम् इत्) उसे ही आप (भवीयसा) प्रभूत (वसुना) वैदिक ज्ञान-सम्पत्तियों द्वारा (पृणक्षि) पालित तथा पूरित करते हैं। (यथा) जैसे कि (अभितः) समुद्र के चारों ओर बहनेवाली (विचेतसः) अचेतन (आपः) नदियां (सिन्धुम्) समुद्र को जलों से पालित तथा पूरित करती हैं।

[अश्वावति—अश्व=आदित्य । यथा—'एको अश्वो वहति सप्तनामा' (ऋ० १।१६४।२) पर निरुक्तकार कहते हैं कि—'एकोऽश्वो वहति सप्तनामा 'आदित्यः' 'सप्तास्मै रश्मयो रसानभिसन्नामयन्ति' (४।४।२७) । प्रथमः=वेदों के रहस्यार्थों के ज्ञान के लिये व्यक्ति की 'श्रेष्ठता और अरिप्रता' (=पाप-शून्यता) की आवश्यकता होती है। यथा—'यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत्प्रेणा तदेषां निहितं गुहाविः' (ऋ० १०।७१।१)। इसी प्रकार वैदिक ज्ञानरस का स्थिर रूप से पान करते रहना, तथा वेद का सतत स्वाध्याय ये भी कारण हैं वेदों के रहस्यार्थों के ज्ञान में (ऋ० १०।७१।५; ६)। गोषु=गौः=वाक् (वेदवाणी, निघ० १।११)।]

१५५. आपो न देवीरुप यन्ति होत्रियमवः पश्यन्ति विततं यथा रजः ।
प्राचैर्देवासः प्र णयन्ति देवयुं ब्रह्मप्रियं जोषयन्ते वराइव ॥२॥

(आपः न) जलों के सदृश विशुद्ध और पवित्र करनेवाली (देवीः) दिव्य वेदवाणियां, स्वाध्यायकर्त्ता के (होत्रियम्) स्वाध्याय-यज्ञ में (उप यन्ति) स्वयं उपस्थित हो जाती हैं। तब स्वाध्याय करनेवाले (विततम्) वेदवाणियों में व्याप्त (अवः) रक्षक परमेश्वर का ही वर्णन (पश्यन्ति) स्पष्टतया देखते हैं। (यथा) जैसे कि सर्वसाधारण जन (विततं रजः)

व्याप्त आकाश को स्पष्टतया (पश्यन्ति) देखते हैं। (देवयुम्) परमेश्वर देव की अभीप्सावाले, (ब्रह्मप्रियम्) और ब्रह्म के प्यारे उपासक को (प्राचैः) आगे-आगे बढ़ने के उपायों द्वारा (देवासः) योगाचार्य देव (प्रणयन्ति) योगमार्ग पर आगे-आगे ले चलते, और उसके साथ प्रणय अर्थात् प्रेम करने लगते हैं, (जोषयन्ते) और उसकी मार्ग-प्रदर्शन द्वारा सेवा करते हैं। (इव) जैसे कि (वराः) नव-विवाहित पुरुष नव-विवाहित अपनी पत्नियों के साथ प्रणय करते, और वस्तुओं के प्रदान द्वारा उनकी सेवा करते हैं।

[होत्रियम्; होत्रा=वाक् (निघ० १।११); होत्रा=यज्ञ (निघ० ३।१७)।]

१५६. अधि द्वयोरदधा उक्थ्यं१ वचो यतस्रुचा मिथुना या सपर्यतः ।
असंयत्तो व्रते ते क्षेति पुष्यति भद्रा शक्तिर्यजमानाय सुन्वते ॥३॥

(या मिथुना) जो पति-पत्नी (यतस्रुचा) यज्ञिय-स्रुच् पकड़ कर आहुतियों द्वारा (सपर्यतः) परमेश्वर की परिचर्या करते हैं, (द्वयोः अधि) उन दोनों में हे परमेश्वर ! आप (उक्थ्यम्) वैदिक सूक्तरूपी (वचः) वचन अर्थात् मन्त्र (अदधाः) निहित कर देते हैं, अर्थात् वे वैदिक मन्त्रों द्वारा आपकी स्तुतियां करने लग जाते हैं। हे परमेश्वर ! (ते) आपके दर्शाए (व्रते) व्रतों में (असंयत्तः) जो प्रयत्न नहीं करता, वह (क्षेति) क्षीण होता जाता है। और जो (ते) आपके दर्शाए (व्रते) व्रतों में (क्षेति) निवास करता है, अर्थात् तदनुकूल अपना जीवन बना लेता है, वह (पुष्यति) पुष्टि प्राप्त करता है। और उस (सुन्वते) भक्तिरसवाले (यजमानाय) यज्ञशील व्यक्ति को (भद्रा) सुखदायिनी और कल्याणकारिणी (शक्तिः) शक्ति प्राप्त होती है।

[स्रुच्=यज्ञ का चमचा, जिस के द्वारा अग्नि में घृताहुति दी जाती है। असंयत्तः=अ+सम्+यत्(=प्रयत्ने)+क्त। क्षेति=क्षय; निवास।]

१५७. आदङ्गिराः प्रथमं दधिरे वय इद्धाग्नयः शम्या ये सुकृत्यया ।
सर्वं पणेः समविन्दन्त भोजनमश्वावन्तं गोमन्तमा पशुं नरः ॥४॥

(आत्) तदनन्तर अर्थात् सुखदायिनी और कल्याणकारिणी शक्ति को प्राप्त करके (अङ्गिराः) प्राणायामाभ्यासी (नरः) उपासक-नेताओं ने (प्रथमं वयः) सर्वश्रेष्ठ आध्यात्मिक अन्न अर्थात् परमेश्वर को (दधिरे)

योगविधि द्वारा धारण किया। (ये) जिन्होंने कि (शम्या सुकृत्यया) योगविधि की शान्तिप्रद उत्तम क्रियाओं द्वारा (इद्धाग्नयः) परमेश्वरीय-ज्योति को प्रदीप्त किया। मानो उन अभ्यासियों ने (पणेः) वेदवक्ता परमेश्वर से (सर्वं भोजनम्) सब प्रकार के भोजन (अश्वावन्तम्) अश्वों समेत तथा (गोमन्तम्) गौओं समेत, और (पशुम्) सब प्रकार की पशु-सम्पत्ति को (सम् अविन्दन्त) प्राप्त कर लिया। अर्थात् परमेश्वरीय ज्योति प्राप्त होने पर सब कुछ प्राप्त हो गया।

[**वयः=अन्नम्** (निघ० २।७)। परमेश्वर आध्यात्मिक अन्न है, जिसे पाकर आत्मा तृप्त हो जाती है। कहा है कि '**अहमन्नम्, अहमन्नादः**' (तै० उप० ३।१०।६), परमेश्वर कहता है कि 'मैं अन्न हूं, और मैं अन्नाद भी हूं। उपासकों के लिये परमेश्वर 'अन्न' है। प्रलय में सब को अन्तर्लीन कर लेने पर वह 'अन्नाद' है। इसी प्रकार वेदान्त में परमेश्वर को 'अत्ता' कहा है। **अत्ता चराचरग्रहणात्** (वेदान्त १।२।९)। पणेः=पण् स्तुतौ। प्रथमं वयः=अथवा वे सर्वश्रेष्ठ जीवन को धारण करते हैं।]

१५८. यज्ञैरथर्वा प्रथमः पथस्तते ततः सूर्यो व्रतपा वेन आजनि।
आ गा आजदुशना काव्यः सचा यमस्य जातममृतं यजामहे ॥८॥

(प्रथमः) सर्वश्रेष्ठ अनादि तथा (अथर्वा) सदा एकरस में स्थित कूटस्थ परमेश्वर ने (यज्ञैः) यज्ञस्वरूप कर्तव्य कर्मों के उपदेश द्वारा (पथः) वर्णाश्रमियों के जीवन-मार्गों का (तते) विस्तार से वर्णन किया। और एतदर्थं (उशना) प्रजा के सुख और कल्याण की कामनावाले परमेश्वर ने (सचा) एक साथ (गाः) वेदवाणियों को (आ) पूर्णरूप में (आजत्) प्रकट किया। (काव्यः) परमेश्वर सर्वश्रेष्ठ कवि है, (ततः) उसी परमेश्वर से (व्रतपाः) व्रतपति (वेनः) और कान्तिमान् (सूर्यः) सूर्य (आजनि) उत्पन्न हुआ। (यमस्य) सर्वनियन्ता परमेश्वर के (जातम्) सुप्रसिद्ध (अमृतम्) अमृतस्वरूप का (यजामहे) हम यजन करते हैं, उस स्वरूप के साथ हम अपना संग करते हैं।

[अभिप्राय यह है कि परमेश्वर ज्ञान-प्रदाता, सृष्टि रचयिता, तथा सर्वनियन्ता है। अतः उसी की उपासना कर के अमृतत्व की प्राप्ति होती है। (व्रतपाः) अग्नि वायु सूर्य तथा ग्रह आदि अपने-अपने नियत कर्मों में सदा स्थित रहते हैं, अतः ये व्रतपति हैं, व्रतपा हैं। उशनाः=वष्टि कामयते]।

१५९. बर्हिर्वा यत् स्वपत्याय वृज्यतेऽर्को वा श्लोकमाघोषते दिवि।
ग्रावा यत्र वदति कारुरुक्थ्यस्तस्येदिन्द्रो अभिपित्वेषु रण्यति ॥९॥

(दिवि) द्युलोक में (अर्कः) सूर्य, जिस परमेश्वर की (श्लोकम्) कीर्त्ति की (आ घोषते) सर्वत्र घोषणा कर रहा है, उस (स्वपत्याय) स्वभूत परमेश्वर की प्राप्ति के लिये, (यत्) जब (बर्हिः) द्रव्ययज्ञ के साधनभूत कुशा आदि के काटने का (वृज्यते) परित्याग कर दिया जाता है, तथा (उक्थ्यः) प्रशंसनीय (कारुः) स्तोता (यत्र) जब (ग्रावा) परमेश्वर-सम्बन्धी ही स्तुतियां करता, और (वदति) मानो परमेश्वर के साथ संवाद करने लगता है, तब (इन्द्रः) परमेश्वर (तस्य) उस उपासक के (पित्वेषु) भक्तिरसरूपी अन्नों में (अभि रण्यति) अभिरमण करने लगता है।

[स्वपत्याय=स्वभूत+पत् (गतौ, प्राप्तौ)। **ग्रावा=गृणातेर्वा** (निरु० ९।१।६)। **कारुः=स्तोता** (निघ० ३।१६)। **पित्वेषु=पितु=अन्न** (निघ० २।७)। वृज्यते=परमेश्वर की प्राप्ति में द्रव्ययज्ञ बाधक हैं।]

१६०. प्रोग्रां पीतिं वृष्ण इयर्मि सत्यां प्रयै सुतस्य हर्यश्व तुभ्यम्।
इन्द्र धेनाभिरिह मादयस्व धीभिर्विश्वाभिः शच्या गृणानः ॥१०॥

(हर्यश्व) प्रत्याहार-सम्पन्न इन्द्रियाश्वों के हे स्वामिन्! (प्रयै) आपके प्रति प्रयाण करने के निमित्त, मैं उपासक (वृष्णे तुभ्यम्) आनन्द-रसवर्षी आपके लिये (सुतस्य) उत्पन्न भक्तिरस के (सत्याम्) वास्तविक (उग्रां पीतिम्) उग्र-पान को (प्र इयर्मि) प्रेरित करता हूं। (इन्द्र) हे परमेश्वर! (धेनाभिः) आनन्दरसरूपी दुग्ध पिलानेवाली वेदवाणियों द्वारा (इह) इस जीवन में (मादयस्व) मुझे तृप्त कर दीजिये। मैं उपासक (विश्वाभिः धीभिः) अपनी समग्र बुद्धिशक्तियों तथा कर्मशक्तियों द्वारा, तथा (शच्या) वाणी द्वारा (गृणानः) आप की स्तुतियां कर रहा हूं।

[उग्रां पीतिम्=Strong drink तीव्रसंवेगी भक्तिरस का पान। **धेना=(धेट् पाने) वाक्** (निघ० १।११)। **धीभिः=धीः=प्रज्ञा, कर्म** (निघ० ३।९; २।१)। **शच्या=शची=वाक्** (निघ० १।११)।]

सूक्त २६

१-३ शुनःशेपः; ४-६ मधुच्छन्दाः। इन्द्रः। गायत्री।

१६१. योगेयोगे तवस्तरं वाजेवाजे हवामहे। सखाय इन्द्रमूतये ॥१॥

(सखायः) हे योगाभ्यास के साथियो ! (ऊतये) आत्मरक्षार्थ (योगे-योगे) प्रत्येककाल के योगाभ्यास में, या योग की प्रत्येक भूमि में, तथा (वाजे-वाजे) प्रत्येक देवासुर-संग्राम में, (तवस्तरम्) प्रगति तथा वृद्धि देनेवाले (इन्द्रम्) परमेश्वर का (हवामहे) हम आह्वान करते हैं ।

१६२. आ घा गमद् यदि श्रवत् सहस्रिणीभिरूतिभिः ।
वाजेभिरुप नो हवम् ॥२॥

(यदि श्रवत्) यदि परमेश्वर हमारी प्रार्थनाओं को स्वीकार कर लेता है, तो वह (घ) निश्चय से (सहस्रिणीभिः ऊतिभिः) हजारों प्रकार के रक्षा-साधनों के साथ, तथा (वाजेभिः) हजारों प्रकार के बलों समेत (नः) हमारी (हवम्) प्रार्थनाओं के होते (उप) हमारे समीप (आ गमत्) आ उपस्थित होता है । [श्रद्धा भक्ति तथा आत्मसमर्पणपूर्वक की गई प्रार्थनाओं को परमेश्वर सुनता है । और सुनकर प्रत्यक्ष दर्शन देकर क्षात्र और बलप्रदान करता है ।]

१६३. अनु प्रत्नस्यौकसो हुवे तुविप्रतिं नरम् ।
यं ते पूर्वं पिता हुवे ॥३॥

(तुविप्रतिम्) सब शक्तियों के प्रतिनिधिरूप, तथा (नरम्) जगत् के नेता परमेश्वर को (प्रत्नस्य) पुराकाल से माने हुए (ओकसः) हृदय-गृह से (अनु) निरन्तर अर्थात् सदा, हे पुत्र ! मैं तेरा पिता, (हुवे) तेरी सहायता के लिये बुलाता हूं । (यम्) जिस परमेश्वर का कि (ते पिता) तेरे पिता मैंने (पूर्वम्) पहले अपने जीवन में (हुवे) आह्वान कर लिया है, प्रत्यक्ष कर लिया है ।

[मन्त्र में पिता अपने पुत्र को आश्वासन देता है कि तू जिस योग-मार्ग पर आरूढ़ हुआ है, तेरी सफलता के लिये मैं परमेश्वर की सहायता की प्रार्थना करता हूं । निश्चय जान कि तुझे परमेश्वर की सहायता मिलेगी । क्योंकि मैंने अपने जीवन में इसका अनुभव कर लिया है ।]

१६४. युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं चरन्तं परि तस्थुषः ।
रोचन्ते रोचना दिवि ॥४॥

(ब्रध्नम्) महान् (अरुषम्) रोष-क्रोध से रहित अर्थात् शान्त-

स्वरूप, (परिचरन्तम्) तथा सर्वगत परमेश्वर को, (तस्थुषः) ध्यानावस्थित योगिजन (युञ्जन्ति) योगविधि द्वारा अपने साथ युक्त कर लेते हैं । इसी परमेश्वर के प्रकाश से (दिवि) द्युलोक में (रोचना) चमकते नक्षत्र-तारागण (रोचन्ते) चमक रहे हैं । तथा इसी परमेश्वर की रुचिकर दीप्तियां मस्तिष्क में चमकने लगती हैं । [ब्रध्न =महान् (निघ० ३।३)।]

१६५. युञ्जन्त्यस्य काम्या हरी विपक्षसा रथे ।
शोणा धृष्णू नृवाहसा ॥५॥

(काम्या =काम्यौ) योग-साधना के लिये चाही गई, (हरी) चित्त को विषयों से हर लेनेवाली, (विपक्षसा) सुषुम्णा-नाड़ी के अलग-अलग दो पार्श्वों में लगी हुई, (शोणा) भूरे और पीले से रंगों वाली, (धृष्णू) मजबूत, (नृवाहसा) योगिजनों को उनके उद्देश्य तक पहुंचानेवाली इडा और पिङ्गला नाड़ियों को (अस्य) इस परमेश्वर के (रथे) रमणीय स्वरूप में (युञ्जन्ति) योगिजन योगविधि द्वारा युक्त अर्थात् सम्बद्ध करते हैं ।

१६६. केतुं कृण्वन्नकेतवे पेशो मर्या अपेशसे । समुषद्भिरजायथाः ॥६॥

(मर्याः) हे उपासक जनो !, देखो कि योगविधि द्वारा युक्त किया गया परमेश्वर (उषद्भिः) उषाकालों के साथ-साथ (सम् अजायथाः) हम योगिजनों में सम्यक्-प्रकट हो गया है । वह (अकेतवे) प्रज्ञानरहित उपासक के लिये (केतुम्) प्रज्ञान (कृण्वन्) प्रकट करता है । और (अपेशसे) जिस पर आध्यात्मिक रंग-रूप नहीं चढ़ा उस पर (पेशः) नया आध्यात्मिक रंग रूप चढ़ा देता है । [पेशः=रूपम् (निघ० ३।७)।]

सूक्त २७

१-६ गोषूक्ती तथा अश्वसूक्ती । इन्द्रः । गायत्री ।

१६७. यदिन्द्राहं यथा त्वमीशीय वस्व एक इत् ।
स्तोता मे गोषखा स्यात् ॥१॥

(इन्द्र) हे परमेश्वर ! (यथा) जैसे (त्वम्) आप (एक इत) अकेले ही (वस्वः) वैदिक ज्ञान-सम्पत्ति के (ईशीय) अधीश्वर हैं, वैसे (यद्) यदि (अहम्) मैं आप का उपासक, वैदिक ज्ञान-सम्पत्ति का

अधीश्वर बन जाऊं, तो (मे) मेरा (स्तोता) शिष्य (गोषखा) वेदवाणी का सखा (स्यात्) हो जाता, । अर्थात् वह वेदवाणी के रहस्यार्थों का ज्ञाता हो जाता । [उपासक परमेश्वर से शिकायत करता है कि मैं आप का स्तोता हूं, परन्तु आप की कृपा अभी तक नहीं हुई कि मैं भी वेदवाणी के रहस्यार्थों को जान पाता ।]

१६८. शिक्षेयमस्मै दित्सेयं शचीपते मनीषिणे ।

यदहं गोपतिः स्याम् ॥२॥

(शचीपते) हे प्रज्ञा और वेदवाणियों के पति ! (यद्) जो (अहम्) मैं (गोपतिः) वेदवाणियों का और समग्र पृथिवी का पति (स्याम्) होऊं, तो मैं (अस्मै) इस (मनीषिणे) बुद्धिमान् मनस्वी अपने स्तोता को (शिक्षेयम्) वेदवाणियों में शिक्षित करुं, और इसे (दित्सेयम्) पार्थिव-सम्पत्तियों का दान भी करूं ।

[उपासक वेदज्ञान और पार्थिव सम्पत्ति, इन दोनों का पति होना चाहता है। इसीलिये उसे "मन्त्र २" के अनुसार वेदवाणी के रहस्यार्थों का परिज्ञान नहीं होने पाया। कहावत है कि सरस्वती और लक्ष्मी, ये दोनों इकठ्ठी नहीं रहतीं। उपासक पार्थिव सम्पत्तियों की भी गर्धा रखता है, और वैदिक रहस्यार्थों की भी । इसलिये वह असफल है । [गो=वाक्=वेदवाणी (निघ० १।११); तथा पृथिवी (निघ० १।१)।]

१६९. धेनुष्ट इन्द्र सूनृता यजमानाय सुन्वते ।

गामश्वं पिप्युषी दुहे ॥३॥

(इन्द्र) हे परमेश्वर ! (ते) आप की (पिप्युषी) ज्ञान से परिपुष्ट, (सूनृता) प्रिय तथा सत्यरूपा (धेनुः) वेदवाणी (सुन्वते) भक्तिरसवाले (यजमानाय) स्वाध्याय-यज्ञ के रचयिता के लिये, (गाम् अश्वम्) गौ और अश्व का ज्ञान (दुहे) प्रदान करती है ।

गौः=गच्छति यो यत्र यया वा सा गौः=पशुः, इन्द्रियं, सुखं, किरणः, वज्रं, चन्द्रमा, भूमिः, वाणी जलं वा(उणा० कोष २।६७) वैदिक पुस्तकालय, अजमेर । अश्व=इन्द्रियां, मन, सूर्य, वह्नि, अश्व, पशु, वीर्य आदि । वेदवाणी इन सब विषयों का ज्ञान प्रदान करती है ।

१७०. न ते वर्तास्ति राधस इन्द्र देवो न मर्त्यः ।

यद् दित्ससि स्तुतो मघम् ॥४॥

(इन्द्र) हे परमेश्वर ! (स्तुतः) स्तुतियां पाकर आप (यद् मघम्) जो धन (दित्ससि) देना चाहते हैं, उस (ते) आप के (राधसः) धन में (वर्ता) रुकावट डालनेवाला (न देवः अस्ति) न कोई देव है, और (न मर्त्यः) न कोई मनुष्य । [वर्ता=निवारणकर्त्ता ।]

१७१. यज्ञ इन्द्रमवर्धयद् यद् भूमिं व्यवर्तयत् ।

चक्राण ओपशं दिवि ॥५॥

(ओपशम्) सौरमण्डल के शिरोभूषणरूप सूर्य को (दिवि) द्युलोक में (चक्राणः) प्रकट करते हुए परमेश्वर ने (यद्) जो (भूमिम्) भूमि को (व्यवर्तयत्) सूर्य के चारों ओर वृत्ताकार-कक्षा में घुमाया है, इससे (यज्ञः) संसार-यज्ञ (इन्द्रम्) परमेश्वर की महिमा को (अवर्धयत्) बढ़ा रहा है ।

१७२. वावृधानस्य ते वयं विश्वा धनानि जिग्युषः ।

ऊतिमिन्द्रा वृणीमहे ॥६॥

(इन्द्र) हे परमेश्वर ! (वावृधानस्य) संसार की वृद्धि करते हुए, तथा (विश्वा धनानि) संसार के सभी प्रकार के धनों पर (जिग्युषः) विजय पाए हुए (ते) आपके (वयम्) हम उपासक, आप से (ऊतिम्) सुरक्षा का (आवृणीमहे) वर मांगते हैं ।

सूक्त २८

१-४ गोषूक्ती तथा अश्वसूक्ती । इन्द्रः । गायत्री ।

१७३. व्यन्तरिक्षमतिरन्मदे सोमस्य रोचना ।

इन्द्रो यदभिनद् वलम् ॥१॥

(इन्द्रः) परमेश्वर ने (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष को (वि अतिरत्) विशेषरूप में फैलाया है । और (रोचना) द्युलोक के चमकते सूर्य-नक्षत्र-तारागणों को विविधरूप में फैलाया है । तथा (सोमस्य मदे) भक्तिरस की प्रसन्नता में उसने (वलम्) उपासक के अज्ञानकारी आवरण को (अभिनत्) छिन्न-भिन्न कर दिया है। [आवरण=रजोगुण और तमोगुण।]

१७४. उद् गा आजदङ्गिरोभ्य आविष्कृण्वन् गुहा सतीः ।

अर्वाञ्चं नुनुदे वलम् ॥२॥

(अङ्गिरोभ्यः) प्राणायाम के अभ्यासियों के लिये परमेश्वर ने (गाः) ज्ञान की किरणों को (उद्आजत्) उद्बुद्ध कर दिया है । अर्थात् (गुहाः सतीः) हृदय की गुफा में छिपी हुई ज्ञान की किरणों को (आविष्कृण्वन्) परमेश्वर ने आविष्कृत कर दिया है, प्रकट कर दिया है । और ज्ञान-किरणों पर पड़े (वलम्) आवरण को, रजस् और तमस्रूपी आवरण को परमेश्वर ने मानो (अर्वाञ्चं नुनुदे) नीचे पटक दिया हैं । [**अङ्गिरसः=प्राणाविद्याविदः** (महर्षि दयानन्द, ऋ० १।६२।३) । वलम्=आवृत्य स्थितम् (सायण)। प्राणायाम के परिपक्व हो जाने पर चित्त पर पड़ा आवरण क्षीण हो जाता है । यथाः—"**ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्**" (योग० २।५२)।]

१७५. इन्द्रेण रोचना दिवो दृल्हानि दंहितानि च ।
स्थिराणि न पराणुदे ॥३॥

(इन्द्रेण) परमेश्वर ने (दिवः) मस्तिष्क के सहस्रार-चक्र में प्रकट हुई (दृल्हानि रोचना) दृढ़ दीप्तियों को (दृंहितानि) और सुदृढ़ कर दिया है, (स्थिराणि) इन्हें स्थिर कर दिया है । (न पराणुदे) अब ये दीप्तियां हटाई नहीं जा सकतीं ।

[मन्त्र २०।२८।२ के "**अर्वाञ्चं नुनुदे**", और मन्त्र २०।२८।३ के "**न पराणुदे**" में भावसाम्य है । अर्थात् रजस् और तमस्रूपी आवरण को परमेश्वर ने हटा दिया है, और सात्विक प्रकाशों को स्थिर कर दिया है । योगिराज श्री जगन्नाथ पथिक "सन्ध्यायोग" में लिखते हैं कि "नक्षत्रों से भरे गगन के समान भासनेवाला "**सहस्रार-चक्र**" है", पृ० १६७ । मन्त्र का आधिदैविक अर्थ निम्नलिखित है:—"परमेश्वर ने द्युलोक के चमकते हुए नक्षत्रों=ताराओं को, जो कि दृढ़ रूप में स्थित हैं, उन्हें खूब दृढ़ कर दिया है । वे द्युलोक में स्थिर हैं, और अपनी-अपनी सापेक्ष स्थिति से विच्युत नहीं होते" ।]

१७६. अपामूर्मिर्मदन्निव स्तोम इन्द्राजिरायते ।
वि ते मदा अराजिषुः ॥४॥

(अपाम्) जलों की (ऊर्मिः) तरङ्गों के (इव) सदृश (स्तोमः) सामगान की तरङ्गें, (इन्द्र) हे परमेश्वर ! (मदन्) आप को प्रसन्न करती हुई (अजिरायते) नदी के प्रवाह के सदृश प्रवाहित हो रही हैं । और (मदाः ते) मुझ उपासकों में मस्ती देनेवाले आप के आनन्दरस (वि) विशेषरूप में (अराजिषुः) मुझ उपासक पर राज्य कर रहे हैं ।

[**अजिरायते=अजिरा (=नदी, निघ० १।१३)+क्यच् ।**]

सूक्त २९

१-५ गोषूक्ती तथा अश्वसूक्ती । इन्द्रः । गायत्री ।

१७७. त्वं हि स्तोमवर्धन इन्द्रास्युक्थवर्धनः ।
स्तोतृणामुत भद्रकृत् ॥१॥

(इन्द्र) हे परमेश्वर ! (त्वम् हि) आप ही (स्तोमवर्धनः) हमारे सामगानों में उत्तरोत्तर वृद्धि करते। और आप ही (उक्थवर्धनः) हम उपासकों द्वारा की गई स्तुतियों में उत्तरोत्तर वृद्धि करते (असि) हैं । (उत) तथा आप ही (स्तोतृणाम्) स्तोताओं को (भद्रकृत्) सुख देते और उनका कल्याण करते हैं ।

१७८. इन्द्रमित् केशिना हरी सोमपेयाय वक्षतः ।
उप यज्ञं सुराधसम् ॥२॥

(केशिना) ज्ञान और भक्ति का प्रकाश देनेवाले (हरी) चित्तहारी ऋक् और साम की स्तुतियां तथा भक्तिगान (सोमपेयाय) हमारे भक्ति-रसों की स्वीकृति के लिये (इन्द्रम्) परमेश्वर को (इत्) अवश्य (सुराधसम्) उत्तम आराधनाओं से सम्पन्न (यज्ञम्) हमारे उपासना-यज्ञ में (उप वक्षतः) प्रकट कर देते हैं ।

१७९. अपां फेनेन नमुचेः शिर इन्द्रोदवर्तयः ।
विश्वा यदजय स्पृधः ॥३॥

(इन्द्र) हे परमेश्वर ! शरीर में रहनेवाले (अपाम्) रस-रक्तरूपी जलों के (फेनेन) वीर्यरूपी फेन द्वारा आपने (नमुचेः) न मुक्त होनेवाले, न छूटनेवाले पाप-वृत्र के (शिरः) सिर को (उदवर्तयः) काट दिया है । (यत्) क्योंकि पापों के मूलभूत (स्पृधः) स्पर्धा आदि (विश्वाः) सब दुर्वृत्तियों पर (अजयः) आप ने हमें विजय दिलाई है । [अभिप्राय यह है कि ऊर्ध्वरेता उपासक स्पर्धा आदि दुर्वृत्तियों पर जब विजय पा लेता है,

तब दृढ़मूल पापों का भी वह उच्छेद कर लेता है। परन्तु इस प्रयत्न में परमेश्वर की कृपा का आह्वान आवश्यक है।]

१८०. मायाभिरुत्सिसृप्सत इन्द्र द्यामारुरुक्षतः ।
अव दस्यूँरधूनुथाः ॥४॥

(इन्द्र) हे परमेश्वर ! (मायाभिः) आप की वैदिक-प्रज्ञाओं के सहारे (उत् सिसृप्सतः) सुषुम्णानाड़ी के ऊपर की ओर सर्पण करनेवाले, शनैः शनैः ऊर्ध्वगति करनेवाले, और (द्याम्) शिरस्थ सहस्रार-चक्र की ओर (आरुरुक्षतः) आरोहण करनेवाले उपासक के (दस्यून्) उपक्षय-कारी अविद्या और तज्जन्य अस्मिता और राग-द्वेष आदि को आपने (अवधूनुथाः) पृथक् कर दिया है। [माया=प्रज्ञा (निघ० ३।९)।]

१८१. असुन्वामिन्द्र संसदं विषूचीं व्यनाशयः ।
सोमपा उत्तरो भवन् ॥५॥

(इन्द्र) हे परमेश्वर ! (विषूचीम्) विषूचिका-रोग के सदृश विनाश करनेवाली, (असुन्वाम्) भक्तिरस से रहित, (संसदम्) अपितु सांसारिक-भोगों में ही स्थित हुई नास्तिकता-वृत्ति को (व्यनाशयः) आपने विनष्ट कर दिया है। (सोमपाः) आप हमारे भक्तिरस का पान कीजिये। और (उत्तरः भवन्) और उत्कृष्ट तैरानेवाली नौका बन कर हमें भव-सागर से तैराइये। [तरः=तरस्=A float, raft (आपटे)।]

सूक्त ३०

१-५ बरुः वा सर्वहरिः । हरिः (इन्द्रः) । जगती ।

१८२. प्र ते महे विदथे शंसिषं हरी प्र ते वन्वे वनुषो हर्यतं मदम् ।
घृतं न यो हरिभिश्चारु सेचत आ त्वा विशन्तु हरिवर्पसं गिरः ॥१

हे परमेश्वर ! (महे) बड़ी-बड़ी (विदथे) ज्ञान-गोष्ठियों में, मैं उपासक (ते हरी) आप के दिये पापहारी ऋग्वेद और सामवेद की (प्रशंसिषम्) प्रशंसा करता हूं, उनका महत्त्व दर्शाता हूं। (वनुषः) भजनीय (ते) आपके (हर्यतम्) वाञ्छनीय (मदम्) आनन्दरस की, (प्रवन्वे) मैं भक्तिपूर्वक याचना करता रहता हूं। (यः) जो आप कि (हरिभिः) पापहारी ऋग्वेदीय स्तुतियों तथा सामवेद के सामगानों के

कारण, हम उपासकों पर (घृतं न) घृत के सदृश पुष्टिदायक (चारु) और रुचिकर आनन्दरस (सेचते) सींचते रहते हैं। उस (त्वा) आप (हरिवर्पसम्) मनोहारी रूपवाले में (गिरः) हमारी स्तुतियां (आ विशन्तु) प्रवेश पा जांय।

१८३. हरिं हि योनिमभि ये समस्वरन् हिन्वन्तो हरी दिव्यं यथा सदः ।
आ यं पृणन्ति हरिभिर्न धेनव इन्द्राय शूषं हरिवन्तमर्चत ॥२॥

(हरी) ऋग्वेदीय स्तुतियों और सामगानों को (हिन्वन्तः) प्रस्तुत करते हुए (ये) जो उपासक, (हरिम्) चित्तहारी (योनिम्) जगद्-योनि परमेश्वर का (अभि) साक्षात् (समस्वरन्) आह्वान करते हैं, (यथा) मानो कि वह परमेश्वर ही उनका एकमात्र (दिव्यं सदः) दिव्य आश्रय है। और (यम्) जिसे कि उपासक (हरिभिः) ऋग्वेदीय स्तुतियों तथा सामगानों द्वारा (आ पृणन्ति) तृप्त करते हैं, (न) जैसे कि (धेनवः) दुधार गौएं हमें तृप्त करती हैं। ऐसे (इन्द्राय) परमेश्वर के लिये हे उपासको ! वे तुम (हरिवन्तम्)परमेश्वर से प्राप्त (शूषम्) बल को (अर्चत) अर्चनारूप में भेंट कर दो।

१८४. सो अस्य वज्रो हरितो य आयसो हरिर्निकामो हरिरा गभस्त्योः ।
द्युम्नी सुशिप्रो हरिमन्युसायक इन्द्रे नि रूपा हरिता मिमिक्षिरे ॥३॥

(सः) वह परमेश्वर (अस्य) इस उपासक का मानो (वज्रः) वज्र है, (यः) जो कि (हरितः) उपासक के कामादि शत्रु का हरण करता है, और (आयसः) लोहसमान सुदृढ़ है। (हरिः) पापहारी परमेश्वर उपासक की (निकामः) कामना का अन्तिम ध्येय है। (हरिः) पापहारी परमेश्वर ही उपासक के (गभस्त्योः) हाथ आदि कर्मेन्द्रियों का विषय होता है। तब उपासक (द्युम्नी) द्युतिमान् यशस्वी तथा (सुशिप्रः) सुमुख हो जाता, और (हरिमन्युसायकः) पापहारी परमेश्वर के मन्युरूपी बाण द्वारा कामादि का विनाश कर देता है। (इन्द्रे) परमेश्वर में (हरिता रूपा) सब मनोहारी रूप (नि मिमिक्षिरे) संमिश्रित हैं, अर्थात् सूर्य चान्द तारागण आदि सभी स्वरूप विश्वकर्मा परमेश्वर के ज्ञान में निहित रहते हैं। [गभस्तयः= अंगुली नाम (निघ०२।५)। गभस्ती=बाहुनाम (निघ०२।४८)।]

१८५. दिवि न केतुरधि धायि हर्यतो विव्यचद् वज्रो हरितो न रंह्या ।
तुददहिं हरिशिप्रो य आयसः सहस्रशोका अभवद्धरिंभरः ॥४॥

(दिवि) द्युलोक में (न) जैसे (केतुः) ज्ञान का हेतु सूर्य (अधिधायि) सौर-लोक के अधिष्ठातृरूप में स्थापित है, वैसे (दिवि) मस्तिष्क (केतुः) प्रज्ञावान् तथा (हर्यतः) कान्तिमान् परमेश्वर (अधिधायि) अधिष्ठातृरूप में स्थित है। (हरितः) हरण करनेवाले (वज्रः) विद्युद्-वज्र (न) के सदृश, परमेश्वर का (वज्रः) न्याय-वज्र (रंह्या) वेग से (विव्यचत्) छिपे-छिपे प्रहार करता है। परमेश्वर का (यः) जो (आयसः) लोहसमान सुदृढ़ (वज्रः) न्याय-वज्र है, जो कि (हरिशिप्रः) पापहारी स्वरूपवाला है, वह (अहिम्) उपासक के सांप की तरह विषैले-पापों को (तुदत्) व्यथित कर देता है। तब उपासक, जो कि (हरिंभरः) परमेश्वर को भक्तिरसों की भेटों द्वारा भर देता है, (सहस्रशोकाः) हजारों का आश्रय (अभवत्) बन जाता है। [सहस्रशोकाः=सहस्रश+ओकस् (गृह, आश्रय)।]

१८६. त्वंत्वमहर्यथा उपस्तुतः पूर्वेभिरिन्द्र हरिकेश यज्वभिः ।
त्वं हर्यसि तव विश्वमुक्थ्यमसामि राधो हरिजात हर्यतम् ॥५

(हरिकेश) हे मनोहारी या पापहारी प्रकाशवाले परमेश्वर! (त्वम्) आप और (त्वम्) आप ही, (पूर्वेभिः) अनादिकाल के (यज्वभिः) उपासना-यज्ञों के यजमानों द्वारा (अहर्यथाः) चाहे गये हैं। और (उपस्तुतः) उपासना-विधि से स्तुतियां पाते रहे हैं। (त्वम्) आप (हर्यसि) उपासकों को चाहते हैं। (तव) आपका (विश्वम्) संसार (उक्थ्यम्) प्रशंसनीय है। (हरिजात) ऋक् की स्तुतियों तथा साम के गानों द्वारा प्रकट हुए हे परमेश्वर! आपकी (हर्यतम्) मनोहारी (राधः) सम्पत्ति (असामि) अनन्त है।

सूक्त ३१

१-५ वरुः वा सर्वहरिः । हरिः (इन्द्रः) । जगती ।

१८७. ता वज्रिणं मन्दिनं स्तोम्यं मद इन्द्रं रथे वहतो हर्यता हरी ।
पुरूण्यस्मै सवनानि हर्यत इन्द्राय सोमा हरयो दधन्विरे ॥१॥

(मदे) परमेश्वर के प्रसन्न हो जाने पर (ता हर्यता हरी) वे

मनोहारी ऋग्वेदीय-स्तुतियां तथा सामगान, (वज्रिणम्) पापों के विनाश के लिये वज्रधारी, (मन्दिनम्) आनन्दमय, तथा (स्तोम्यम्) प्रशंसनीय (इन्द्रम्) परमेश्वर का (रथे) उपासक के शरीर-रथ में (वहत) वहन करते हैं। हे उपासको! (अस्मै) इस परमेश्वर के लिये, (पुरूणि) भक्तिरस से पूरित (सवनानि) भक्ति-यज्ञों को (हर्यत) समर्पित करो। (इन्द्राय) परमेश्वर के लिये (हरयः) परमेश्वर को स्वाभिमुख करनेवाले (सोमाः) भक्तिरस (दधन्विरे) प्रवाहित हो रहे हैं।

[रथे=परमेश्वर, उपासक के शरीर-रथ का स्वामी बनकर, उपासक को प्रेरणाएं देने लगता है। दधन्विरे=धवि गतौ।]

१८८. अरं कामाय हरयो दधन्विरे स्थिराय हिन्वन् हरयो हरी तुरा ।
अर्वद्भिर्यो हरिभिर्जोषमीयते सो अस्य कामं हरिवन्तमानशे ॥२॥

(हरयः) परमेश्वर को स्वाभिमुख करनेवाले भक्तिरस, जब परमेश्वर की ओर (दधन्विरे) प्रवहित होने लगते हैं, तब वे भक्तिरस (स्थिराय कामाय) उपासक की स्थिर मोक्ष-कामना की पूर्ति के लिये (अरम्) पर्याप्त हो जाते हैं। (हरयः) जब ये भक्तिरस वास्तव में परमेश्वर को स्वाभिमुख कर लेते हैं, तब परमेश्वर उपासक के (हरी) ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियरूपी अश्वों को (तुरा) त्वरया अर्थात् शीघ्रता से (हिन्वन्) निज प्रेरणाओं द्वारा प्रेरित करने लगता है। (यः) जो परमेश्वर (अर्वद्भिः) उपासक के इन ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियरूपी अश्वों के साथ (जोषम् ईयते) प्रेम करने लगता है, (सः) वह परमेश्वर (अस्य) इस उपासक की (हरिवन्तं कामम्) परमेश्वर-प्राप्ति की कामना को (आनशे) प्राप्त करा देता है, पूर्ण कर देता है।

१८९. हरिश्मशारुर्हरिकेश आयसस्तुरस्पेये यो हरिपा अवर्धत ।
अर्वद्भिर्यो हरिभिर्वाजिनीवसुरति विश्वा दुरिता पारिषद्धरी ॥३

जिस परमेश्वर का (आयसः) लोहसमान सुदृढ़ न्याय-वज्र, (हरिश्मशारुः) हरेभरे अर्थात् युवा शरीरों का भी विनाश करता, (हरिकेशः) तथा प्रत्याहार-सम्पन्न उपसकों को ज्ञान का प्रकाश देता, तथा (यः) जो न्याय-वज्र (हरिपाः) इन्द्रियाश्वों का रक्षक होकर (पेये) आनन्दरसरूपी पेय के निमित्त, उपासक को (तुरः) शीघ्र (अवर्धत)

आगे बढ़ाता, तथा (यः) जो न्याय-वज्र (हरिभिः) प्रत्याहार-सम्पन्न (अर्वद्भिः) इन्द्रियाश्वों के कारण उपासकों के लिये (वाजिनीवसुः) आध्यात्मिक-उषा की सम्पत्ति को लिये रखता है, वह (हरी) दोनों प्रकार के अर्थात् ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियरूपी अश्वों को (विश्वा दुरिता) सब दुरितों से (अति पारिषत्) पार कर देता है। [हरि+श्म (=शरीर)+शारुः (शृणाति)। हरिकेशः=हरि+केशः (केशाः=रश्मयः)।]

१९०. स्रुवेव यस्य हरिणी विपेततुः शिप्रे वाजाय हरिणी दविध्वतः ।
प्र यत्कृते चमसे मर्मृजद्धरी पीत्वा मदस्य हर्यत न्धसः ॥४॥

(इव) जैसे (हरिणी) मनोहारी (स्रुवा=स्रुवौ) दो स्रुव घृताहुति के लिये (वि पेततुः) अलग-अलग परन्तु एक साथ यज्ञाग्नि की ओर प्रवृत्त होते हैं, वैसे (दविध्वतः) पापरूपी शत्रुओं को स्वयं कम्पा देनेवाले (यस्य) जिस उपासक के (हरिणी) मनोहारी (शिप्रे) दो हनु अर्थात् जबाड़े (वाजाय) प्रभु से शक्ति पाने के लिये, प्रभु के गीत गाते हुए (विपेततुः) अलग-अलग परन्तु एकसाथ प्रवृत्त होते हैं। और (यत्कृते) जिस उपासक के लिये (चमसे) उसके हृदय-चमस में स्थित (मदस्य) प्रसन्नतादायक और (हर्यतस्य) कमनीय (अन्धसः) भक्तिरस को (पीत्वा) पीकर परमेश्वर, उपासक के (हरी) ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय-रूपी अश्वों को (प्र मर्मृजत्) खूब मांज देता है, स्वच्छ कर देता है—[अगले मन्त्र में अन्वय।]

१९१. उत स्म सद्म हर्यतस्य पस्त्योऽरत्यो न वाजं हरिवाँ अचिक्रदत् ।
मही चिद्धि धिषणाहर्यदोजसा बृहद् वयो दधिषे हर्यतश्चिदा ॥५

(उत) तब (पस्त्यः) गृहवासी (न) जैसे (सद्म) अपने निवास-गृह की (अचिक्रदत्) बार-बार प्रशंसा करता है, वैसे (हरिवान्) हरि का भक्त उपासक (अत्यः) अश्व के सदृश सक्रिय होकर (हर्यतस्य) काम्य परमेश्वर की (वाजम्) शक्तियों का (अचिक्रदत्) बार-बार कथन करता है। तब (धिषणा) उपासक की वाणी (ओजसा) ओजस्विती होकर (अहः) दिन प्रतिदिन (मही चित् हि) पूजनीया होती जाती है। (यद्) जबकि हे उपासक! तू (हर्यतः) काम्य-परमेश्वर के (बृहद् वयः) महान् आनन्दरसरूपी अन्न को (दधिषे) अपने में धारण कर लेता है। [हर्यतः=

हर्य+शतृ। पस्त्यः=पस्त्यम् (=गृह, निघ० ३।४)। पस्त्यः, अर्शाद्यच्=गृहस्वामी।]

सूक्त ३२

१-३ बरुः वा सर्वहरिः। हरिः (इन्द्रः)। १ जगती; २-३ त्रिष्टुप्।

१९२. आ रोदसी हर्यमाणो महित्वा नव्यंनव्यं हर्यसि मन्म नु प्रियम् ।
प्र पस्त्यमसुर हर्यतं गोराविष्कृधि हरये सूर्याय ॥१॥

हे परमेश्वर! आप (रोदसी) द्युलोक और भूलोक को (महित्वा) निज महिमा द्वारा (आ) पूर्णतया (हर्यमाणः) कान्तिमय करते हुए (नव्यं नव्यम्) नई-नई (प्रियं मन्म) प्रिय स्तुतियों को (हर्यसि) चाहते हैं। (असुर) हे प्रज्ञा और प्राणों के दाता! (हरये) इन्द्रियों को विषयों से हरनेवाले (सूर्याय) आदित्य ब्रह्मचारी के लिये आप (गोः) वाणियों के (हर्यतम्) वाञ्छनीय (पस्त्यम्) गृह अर्थात् वेद को (प्र आविष्कृधि) प्रकृष्टरूप में आविष्कृत कीजिये।

[परमेश्वर ने द्युलोक और भूलोक को पूर्णतया कान्ति-सम्पन्न किया है। इसलिये कवि लोग इस कान्ति से मोहित होकर नित्य नई-नई स्तुतिपरक रचनाएं करते रहते हैं। मन्मभिः=मननीयैः स्तोत्रैः (निरु० १०।१।५)।]

१९३. आ त्वा हर्यन्तं प्रयुजो जनानां रथे वहन्तु हरिशिप्रमिन्द्र ।
पिबा यथा प्रतिभृतस्य मध्वो हर्यन् यज्ञं सधमादे दशोणिम् ॥२

(इन्द्र) हे परमेश्वर! (जनानाम्) उपासकजनों के (प्रयुजः) स्तुति-प्रयोग, (हर्यन्तम्) कामनावाले तथा (हरिशिप्रम्) मनोहारी ज्योतिवाले (त्वा) आपको, (रथे) उपासकजनों के शरीर-रथों में (आ वहन्तु) उनके स्वामीरूप में आवाहन करें, प्रार्थनाएं करें कि आप ही हमारे शरीर-रथों के प्रेरक हों। हे परमेश्वर! (दशोणिम्) जिस उपासना-यज्ञ में दस इन्द्रियों की दस दुर्वासनाएं न्यून हो चुकी हैं, क्षीण हो चुकी हैं, उस (यज्ञम्) उपासना-यज्ञ को (हर्यन्) चाहते हुए आप, (सधमादे) पारस्परिक-प्रसन्नता के निमित्त आप (प्रतिभृतस्य) प्रस्तुत (मध्वः) मधुर भक्तिरस का (यथा) यथातथा (पिब) ग्रहण कीजिये। [अभिप्राय यह है कि आप मधुर भक्तिरस के ग्रहण द्वारा

प्रसन्न हूजिये, और हम आपके आनन्दरस द्वारा प्रसन्न हों। शिप्रम्=शिपयः=रश्मयः+र(=वाला)। दशोणिम्=दश+ऊन परिहाणे।]

१९४. अपाः पूर्वेषां हरिवः सुतानामथो इदं सवनं केवलं ते।
ममद्धि सोमं मधुमन्तमिन्द्र सत्रा वृषं जठर आ वृषस्व ॥३॥

(हरिवः) हे इन्द्रियाश्वों के स्वामिन्! आपने (पूर्वेषाम्) अनादि-काल से उपासकों के (सुतानाम्) भक्तिरसों का (अपाः) पान किया है। (अथो) अब (इदम्) यह (सवनम्) हमारा भक्तिरस भी (केवलं ते) केवल आप के लिये ही हैं। (इन्द्र) हे परमेश्वर! (मधुमन्तम्) मधुर (सोमम्) भक्तिरस को (ममद्धि) प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार कीजिये। और (सत्रा) वास्तव में (वृषम्) बलप्रद आनन्दरस को (जठरे) हम वृद्ध-उपासकों पर (आ वृषस्व) बरसाइये। [सत्रा=सत्यम् (निघ० ३।१०)।]

सूक्त ३३

१-३ अष्टकः। इन्द्रः। त्रिष्टुप्।

१९५. अप्सु धूतस्य हरिवः पिबेह नृभिः सुतस्य जठरं पृणस्व।
मिमिक्षुर्यमद्रय इन्द्र तुभ्यं तेभिर्वर्धस्व मदमुक्थवाहः ॥१॥

(हरिवः) हे इन्द्रियाश्वों के, या ऋक्-साम की स्तुतियों के स्वामिन्! (अप्सु) जलों में (धूतस्य) धोकर निर्मल की गई वस्तु के सदृश पवित्र, अर्थात् रजस् और तमस् के मलों से रहित, (नृभिः) उपासक-नेताओं द्वारा (सुतस्य) निष्पादित भक्तिरस का, (इह) इस हमारे भक्तियज्ञ में (पिब) आप पान कीजिये। और (जठरम्) समग्र अन्तरिक्ष को सुखों से पूरित कर दीजिये। (अद्रयः) पर्वतों के सदृश उपासना-व्रतों में सुदृढ़ उपासकों ने (इन्द्र) हे परमेश्वर! (यम्) जिस भक्तिरस को (तुभ्यम्) आपके लिये (मिमिक्षुः) सींचा है, (तेभिः) उन भक्तिरसों को स्वीकार करके आप (उक्थवाहः) स्तुतियों के वाहक उपासकों की (मदम्) प्रसन्नता को (वर्धस्व) बढ़ाइये।

[जठरम्='अन्तरिक्षमुतोदरम्' (अथर्व १०।७।३२), अन्तरिक्ष परमेश्वर का उदर है, जठर है। मिमिक्षुः=मिह सेचने ?।]

१९६. प्रोग्रां पीतिं वृष्ण इयर्मि सत्यां प्रयै सुतस्य हर्यश्व तुभ्यम्।
इन्द्र धेनाभिरिह मादयस्व धीभिर्विश्वाभिः शच्या गृणानः ॥२॥

(हर्यश्व) प्रत्याहार-सम्पन्न इन्द्रियाश्वों के हे स्वामिन्! (प्रयै) आपके प्रति प्रयाण करने के निमित्त, मैं उपासक, (वृष्णे तुभ्यम्) आनन्द-रसवर्षी आपके लिये (सुतस्य) निष्पादित भक्तिरस के (सत्याम्) वास्तविक (उग्रां पीतिम्) उग्र-पान को (प्र इयर्मि) प्रेरित करता हूं। (इन्द्र) हे परमेश्वर! (धेनाभिः) आनन्दरसरूपी दुग्ध पिलानेवाली वेदवाणियों द्वारा (इह) इस जीवन में (मादयस्व) मुझे तृप्त कर दीजिये। मैं उपासक (विश्वाभिः धीभिः) अपनी समग्र बुद्धि-शक्तियों तथा कर्मशक्तियों द्वारा, तथा (शच्या) वाणी द्वारा (गृणानः) आप की स्तुतियां कर रहा हूं। [देखो अथर्व २०।२५।७।]

१९७. ऊती शचीवस्तव वीर्येण वयो दधाना उशिज ऋतज्ञाः।
प्रजावदिन्द्र मनुषो दुरोणे तस्थुर्गृणन्तः सधमाद्यासः ॥३॥

(शचीवः) हे प्रज्ञा वाणी तथा कर्मों के स्वामिन्! तथा (प्रजावत् इन्द्र) हे समग्र प्रजाओं के स्वामी परमेश्वर! (उशिजः) आपकी कामना-वाले, (ऋतज्ञाः) यथार्थवेत्ता (मनुषः) मननशील उपासक (तव) आपके (ऊती) रक्षण और (वीर्येण) आपके सामर्थ्य द्वारा (वयः दधानाः) दीर्घायु धारण करते हुए, (सधमाद्यासः) तथा उपासना यज्ञों में मिलकर आनन्द प्राप्त करते हुए (दुरोणे) घर-घर में (तस्थुः) स्थित हैं। और (गृणन्तः) आपके स्तुतिगान करते हैं।

तृतीय अनुवाक समाप्त ॥

सूक्त ३४

१-१८ गृत्समदः। इन्द्रः। त्रिष्टुप्।

१९८. यो जात एव प्रथमो मनस्वान् देवो देवान् क्रतुना पर्यभूषत्।
यस्य शुष्माद् रोदसी अभ्यसेतां नृम्णस्य मह्ना स जनास इन्द्रः ॥१॥

(यः) जो परमेश्वर (प्रथमः) अनादि तथा सर्वप्रथम शक्ति है (मनस्वान्) मनस्वी है, (देवः) वह परमेश्वर देव (जात एव) उपासक-

देवों में प्रकट होते ही (देवान्) उपासक-देवों को (क्रतुना) प्रज्ञाओं और सत्कर्मों द्वारा (पर्यभूषत्) सब प्रकार से विभूषित कर देता है। तथा (यस्य) जिसके (शुष्मात्) बल से (रोदसी) द्युलोक और भूलोक (अभ्यसेताम्) भयभीत हुए-हुए अपने-अपने कर्तव्यों में स्थित हैं, (जनासः) हे सज्जनो ! (नृम्णस्य मह्ना) निजबल की महिमा द्वारा (सः इन्द्रः) वह परमेश्वर है।

१९९. यः पृथिवीं व्यथमानामदृंहद् यः पर्वतान् प्रकुपिताँ अरम्णात्।
यो अन्तरिक्षं विममे वरीयो यो द्यामस्तभ्नात् स जनास इन्द्रः॥२॥

(यः) जिसने (व्यथमानाम्) व्यथित हुई (पृथिवीम्) पृथिवी को (अदृंहत्) दृढ़ किया, ठोस किया। (यः) जिसने (प्रकुपितान्) प्रकुपित हुए (पर्वतान्) पर्वतों को (अरम्णात्) शान्त किया। (यः) जिसने (वरीयः) सर्वाच्छादक महाविस्तारी (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष को (विममे) माप रखा है। (यः) जिसने (द्याम्) द्युलोक को (अस्तभ्नात्) थाम रखा है, (जनासः) हे सज्जनो ! (सः) वह (इन्द्रः) परमेश्वर है।

[पृथिवी सूर्य से विभक्त हुई है। विभाग-काल में पृथिवी ऐसी ही दधकती-गैस रूप थी, जैसा कि सूर्य था, और अब भी है। शनैः-शनैः पृथिवी ठण्डी हुई और द्रवरूप की तरलावस्था में आई। और अधिक ठण्डी हुई तो पृथिवी तैल की सी या पिघले घी-की-सी कुछ घनावस्था में आई। इसी प्रकार शनैः शनैः अधिकाधिक घनावस्थाओं में से गुजरती हुई वर्तमान दृढ़ावस्था में आई। जबकि सूर्य अभी भी दधकती गैस रूप में प्रायः विद्यमान है। पृथिवी की तरलावस्था को मन्त्र में **"व्यथमानाम्"** शब्द द्वारा दर्शाया है। "व्यथ" का अर्थ होता है "संचलनावस्था"। जबकि पृथिवी के घटक अवयव परस्पर एक-दूसरे के साथ सुदृढ़ रूप में बद्ध नहीं थे। जैसेकि समुद्रीय जल के घटक अवयव परस्पर एक दूसरे के साथ सुदृढ़ सम्बद्ध नहीं हैं। पृथिवी की वर्तमानावस्था सुदृढ़ावस्था है, जिसे कि मन्त्र में कहा है—**"येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा"** (यजु० ३२।६)। जब पृथिवी तरलावस्था में या तैलावस्था में थी, तब पृथिवी पर पार्थिव-तरङ्गें ऊंची-ऊंची उठती थीं, जैसे कि जलीय-समुद्र में तरङ्गें उठती रहती हैं। ये पार्थिव-तरङ्गें पर्वतों के रूप में उठती रहीं, और ये तरङ्गमय-पर्वत पृथिवी के तरल द्रव में तैरते हुए अपना-अपना स्थान बदलते रहते थे। शनैः-शनैः पृथिवी ठण्डी होकर घनीभूत होती गई, और पृथिवी के साथ-साथ पार्थिव-

तरङ्गमय पर्वत भी ठण्डे होकर घनीभूत होते गए। इस घनीभूत अवस्था में भी इन पर्वतों से ज्वालाएं उठती थीं, जैसे कि ज्वालामुखी पर्वतों में अब भी ज्वालाएं उठती रहती हैं। इन पर्वतों की ऐसी अवस्थाओं को मन्त्र में "प्रकुपितान्" शब्द द्वारा सूचित किया है। और वर्तमान शान्त शान्त अवस्था को "अरम्णात्" शब्द द्वारा दर्शाया है। "अरम्णात्" में "रम्" धातु का अर्थ "क्रीड़ा" भी है, जिसके द्वारा पार्थिव तरङ्गोंवाले पर्वतों की वह अवस्था भी सूचित की है जबकि ये तरङ्गित-पर्वत, द्रवरूप पृथिवी के स्तर पर, अपने स्थान बदलते रहते थे। यह ही उनकी क्रीड़ा थी।]

२००. यो हत्वाहिमरिणात् सप्त सिन्धून् यो गा उदाजदपधा वलस्य।
यो अश्मनोरन्तरग्निं जजान संवृक् समत्सु स जनास इन्द्रः॥३॥

(यः) जिसने (अहिम्) मेघों का (हत्वा) हनन करके (सप्त सिन्धून्) सात प्रकार की स्यन्दनशील नदियों को (अरिणात्) काट बहाया है, (यः) जिसने (वलस्य) अन्तरिक्ष में आवरण डाले मेघ के (अपधा) रुके हुए (गाः) जलों को (उदाजत्) ऊपर अन्तरिक्ष से नीचे भूमि की ओर फैंका है, (यः) जिसने (अश्मनोः) फैले हुए दो मेघों के (अन्तः) बीच (अग्निम्) वैद्युताग्नि को (जजान) पैदा किया है, तथा जो (समत्सु) देवासुर-संग्रामों में (संवृक्) असुरों का सम्यक् वर्जन करता है,—(जनासः) हे सज्जनो ! (सः) वह (इन्द्रः) परमेश्वर है।

[अहि=मेघ (निघ० १।१०)। अरिणात्=रि (गतौ, रेषणे)। गाः=जल (उणा० कोष २।६७), वैदिक पुस्तकालय, अजमेर। अश्मा=मेघ (निघ० १।१०) "अश्मनोः" में द्विवचन है। अन्तरिक्ष में धन और ऋण विद्युतों से समाविष्ट दो प्रकार के मेघ जब आपस में मिलते हैं, तब वैद्युताग्नि चमकती है। संवृक्=सम्+वृज् वर्जने। अपधा=पिहित।]

२०१. येनेमा विश्वा च्यवना कृतानि यो दासं वर्णमधरं गुहाकः।
श्वघ्नीव यो जिगीवाँ लक्षमाददर्यः पुष्टानि स जनास इन्द्रः॥४॥

(येन) जिसने (इमा) इन (विश्वा) सब (भुवना) भुवनों को (च वना) गतिमान् तथा विनाशी (कृतानि) किया है; (यः) जिसने

(वर्णम्) अन्तरिक्ष में आवरण डाले हुए (दासम्) उपक्षयकारी अर्थात् न बरसनेवाले मेघ को (अधरम्) नीचे की ओर बरसाकर (गुहा अकः) पृथिवी की गुफा में लीन कर दिया है, (श्वघ्नी इव) धन प्राप्ति की इच्छा-वाले व्यक्ति के समान (यः) जिसने (लक्षम्) लाखों प्रकार की सम्पत्तियों पर (जिगीवान्) विजय पाई है। (अर्यः) और जो स्वामी (पुष्टानि) धन से परिपुष्ट व्यक्तियों को भी (आदत्) अपने में लीन कर लेता है, उनका संहार कर देता है,—(जनासः) हे सज्जनो ! (सः) वह (इन्द्रः) परमेश्वर है। [श्वघ्नी=स्वम् (धन)+हन् (गतौ, प्राप्तौ)। श्वघ्नी=स्वं हन्ति (निरु० ५।४।२२)।]

२०२. यं स्मा पृच्छन्ति कुह सेति घोरमुतेमाहुर्नैषो अस्तीत्येनम्।
यो अर्यः पुष्टीर्विज इवा मिनाति श्रदस्मै धत्त स जनास इन्द्रः॥५॥

(यम्) जिसके सम्बन्ध में (पृच्छन्ति) लोग पूछते हैं कि (कुह) कहां है (स इति) वह परमेश्वर ? (उत) और कई (ईम्) इसे (घोरम् आहुः) घोर कहते हैं, हत्यारा तथा भयानक कहते हैं, और कई (एनम्) इसे (आहुः) कहते हैं कि (एषः) यह (न अस्ति इति) है ही नहीं ; (यः अर्यः) जो स्वामी (पुष्टीः) परिपुष्ट सूर्य आदि पदार्थों या प्रजाओं को भी (विज इव) उद्वेगी विजयी राजा के समान (आ मिनाति) विनष्ट कर देता है,—(जनासः) हे प्रजाजनो ! (सः इन्द्रः) वह परमेश्वर है। [घोरम्=हन्तेरच् घुर च (उणा० कोष ५।६४)।]

२०३. यो रध्रस्य चोदिता यः कृशस्य यो ब्रह्मणो नाधमानस्य कीरेः।
युक्तग्राव्णो योऽविता सुशिप्रः सुतसोमस्य स जनास इन्द्रः॥६॥

(यः) जो (रध्रस्य) इन्द्रियों को वश में करनेवाले या स्ववशीभूत व्यक्ति को (चोदिता) प्रेरणाएं देता, (यः) जो (कृशस्य) तपःकृश व्यक्ति को प्रेरणाएं देता, (यः) जो (नाधमानस्य) याचना करनेवाले, (कीरेः) स्तुतिकर्त्ता (ब्रह्मणः) ब्रह्मवेत्ता व्यक्ति को प्रेरणाएं देता, (यः) जो (सुशिप्रः) तेजस्वी (युक्तग्राव्णः) उपयुक्त अर्थात् यथार्थ स्तुतियां करने-वाले, तथा (सुतसोमस्य) भक्तिरस सम्पन्न व्यक्ति की (अविता) रक्षा करता है,—(जनासः) हे प्रजाजनो ! (सः इन्द्रः) वह परमेश्वर है।

[रध्रस्य=रध्यतिः वशगमने (निरु० ६।६।३२)। कीरिः=स्तोता

(निघ० ३।१३)। ग्रावा=स्तोता; गृणातेः (निरु० ६।१।५)।]

२०४. यस्याश्वासः प्रदिशि यस्य गावो यस्य ग्रामा यस्य विश्वे रथासः।
यः सूर्यं य उषसं जजान यो अपां नेता स जनास इन्द्रः॥७॥

(यस्य) जिसके (प्रदिशि) निर्देश में (अश्वासः) अश्व, तथा (यस्य) जिसके निर्देश में (गावः) गौ आदि पशु, (यस्य) जिसके निर्देश में (ग्रामाः) सैनिक समूह, तथा (यस्य) जिसके निर्देश में (विश्वे रथासः) सब रथारोही विद्यमान रहते है, (यः) जिसने (सूर्यम्) सूर्य को (यः) और जिसने (उषसम्) उषा को (जजान) पैदा किया है, (यः) जो (अपाम्) मेघों, नदियों तथा समुद्र आदि जलों का (नेता) मार्गदर्शक है,—(जनासः) हे सज्जनो ! (सः इन्द्रः) वह परमेश्वर है।

[तथा अश्वासः=मन; गावः=इन्द्रियां; रथासः=शरीर-रथ; ग्रामाः=शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्गों के समूह।]

२०५. यं क्रन्दसी संयती विह्वयेते परेऽवर उभया अमित्राः।
समानं चिद् रथमातस्थिवांसा नाना हवेते स जनास इन्द्रः॥८॥

(क्रन्दसी) जिनमें आक्रन्दन हो रहा है, ऐसे द्युलोक और भूलोक (संयती) परस्पर जुटे हुए होकर, आत्मरक्षार्थ (यम्) जिसका (विह्वयेते) आह्वान करते हैं, तथा (परेऽवरे) दूर के और समीप के (अमित्राः) अमित्र राष्ट्र (उभया) ये दोनों सहायता के लिये जिसका आह्वान करते हैं, (समानं चिद्) एक जैसे (रथम्) रथों में (आतस्थिवांसा) स्थित हुए योद्धा (नाना) नानारूपों में जिसका (हवेते) आह्वान करते हैं,—(जनासः) हे प्रजाजनो ! (सः इन्द्रः) वह परमेश्वर है। [क्रन्दसी=द्यावा-पृथिव्यौ।]

२०६. यस्मान्न ऋते विजयन्ते जनासो यं युध्यमाना अवसे हवन्ते।
यो विश्वस्य प्रतिमानं बभूव यो अच्युतच्युत् स जनास इन्द्रः॥९॥

(यस्मात् ऋते) जिसकी सहायता के विना (जनासः) लोग (विजयन्ते न) विरोधी शक्तियों पर विजय नहीं पाते, (युध्यमानाः) और युद्ध करते हुए (अवसे) रक्षार्थ (यम्) जिसको (हवन्ते) पुकारते हैं, (यः) जो (विश्वस्य) समग्र संसार की (प्रतिमानम्) प्रत्येक वस्तु का निर्माण

करता (बभूव) है, (यः) जो (अच्युतच्युत्) अच्युतों को भी च्युत कर देता है,—(जनासः) हे प्रजाजनो ! (सः इन्द्रः) वह परमेश्वर है ।

२०७. यः शश्वतो मह्येनो दधानानमन्यमानाञ्छर्वा जघान ।
यः शर्धते नानुददाति शृध्यां यो दस्योर्हन्ता स जनास इन्द्रः॥१०॥

(यः) जो (शर्वा) अपने न्यायायुध द्वारा, (शश्वतः) शाश्वत काल से (महि एनः दधानान्) महापापधारी (अमन्यमानान्) अमननशील नास्तिकों का (जघान) हनन करता रहा है, (यः) जो (शर्धते) बलात्कारी को (शृध्याम्) विनाश करने की शक्ति का (न अनुददाति) अनुदान नहीं करता, (यः) जो (दस्योः) उपक्षयकारी का (हन्ता) हनन करता है,—(जनासः) हे प्रजाजनो ! (सः इन्द्रः) वह परमेश्वर है ।

२०८. यः शम्बरं पर्वतेषु क्षियन्तं चत्वारिंश्यां शरद्यन्वविन्दत् ।
ओजायमानं यो अहिं जघान दानुं शयानं स जनास इन्द्रः॥११॥

(पर्वतेषु) पर्वतों में (क्षियन्तम्) निवास किये हुए (शम्बरम्) जलमय हिमपर्वत को, (चत्वारिंश्याम्) चालीसवीं (शरदि) शरद् ऋतु में अर्थात् ४० वर्षों के पश्चात् (यः) जो (अविन्दत्) प्राप्त करता है, तथा (यः) जो (ओजायमानम्) उमड़े हुए, (दानुम्) जल देने की प्रवृत्तिवाले, (शयानम्) परन्तु अन्तरिक्ष में सोए पड़े से, अर्थात् जो अभी जलदान नहीं करता, उस (अहिम्) मेघ का (जघान) हनन करता है,—(जनासः) हे प्रजाजनो ! (सः इन्द्रः) वह परमेश्वर है ।

[शम्बरम्= उदकम् (निघ० १।१२)। मन्त्र में "शम्बर" पद द्वारा पर्वतों की घाटियों में जमे हिमपर्वतों (Glaciers) का वर्णन हुआ है। अतिशीत के कारण पर्वत-घाटियों में बहती नदी जब हिममय हो जाती है, तो उसे हिमपर्वत (Glacier) कहते हैं। यह हिमपर्वत जलमय होते हैं। मानो इन्होंने इन पर्वतों में अपना निवासगृह बना लिया है। क्योंकि ये वर्षों तक इन घाटियों में लेटे पड़े रहते हैं। लगभग ४० शरद्-ऋतुओं में एक हिम-पर्वत बन पाता है।]

२०९. यः शम्बरं पर्यतरत् कसीभिर्योऽचारुकास्नापिबत् सुतस्य ।
अन्तर्गिरौ यजमानं बहुं जनं यस्मिन्नामूर्छत् स जनास इन्द्रः॥१२॥

(यस्मिन् गिरौ अन्तः) जिस पर्वत में रहनेवाले (यजमानम्) उपासकों को, (बहुं जनम्) तथा अन्य बहुत जनों को, शम्बर ने (आमूर्छत्) जल को रोके रखने के कारण मूर्छित कर रखा था, उस (शम्बरम्) हिमपर्वत को (यः) जिसने (कसीभिः) जल को निष्कासित करनेवाली, (अचारुकास्ना) तथा अचर अर्थात् अचल, स्थिररूप में पड़नेवाली सौर-रश्मियों द्वारा (पर्यतरत्) काट दिया। और परिणाम में (सुतस्य) शम्बर से प्रकट हुए जल को (अपिबत्) पिलाया,—(जनासः) हे प्रजाजनो (सः इन्द्रः) वह परमेश्वर है। [शम्बरम्) water and mountain (आपटे)। चारु=चरतेः। अचारु=अचल, अर्थात् ग्रीष्मऋतु में शम्बर पर जब सूर्य की किरणें स्थिररूप में पड़ती हैं, तब शम्बर का जल पिघल कर बह निकलता है, और पर्वतवासी जलपान करते हैं। कास्ना=कास् दीप्तौ (आपटे)=प्रदीप्त और रश्मियों द्वारा। अपिबत्=अन्तर्भावित णिच् ।]

अथवा—मन्त्र २०८; २०९ का अभिप्राय निम्नलिखित भी सम्भव है। यथा—मन्त्र २०८ का अभिप्रायः—

जिसने, शान्तिव्रत को वरण किये हुए, पर्वतों में अभ्यास के लिये निवास करते हुए आदित्य ब्रह्मचारी को ४० वें वर्ष में प्राप्त किया; और जिसने, ओजप्रकट करते हुए, जड़ काट देनेवाले, चित्त में सोए पड़े, अर्थात् जो अभी जागरितावस्था में उद्बुद्धावस्था में नहीं आया ऐसे (अहिम्) पाप-सांप का हनन कर दिया, वह परमेश्वर है।

[शम्बरम्=शम् (शान्ति)+बरम्=(वरम्=वरण करना, स्वीकार करना)। पर्वतेषु=उपह्वरे गिरीणां संगमे च नदीनां, धिया विप्रो अजायत (यजु० २६।१५)। इस प्रकार पर्वतों में अभ्यास करने का विधान है। चत्वारिंश्यां शरदि=ब्राह्मण का उपनयन आठवें वर्ष की आयु में होना चाहिये। ऐसा आश्वलायन गृह्यसूत्रों में लिखा है। यथा अष्टमे ब्राह्मणमुपनयेत् (आश्व० १।१९।१)। तदनन्तर ४० वर्ष ब्रह्मचर्यव्रत धारण करके ब्रह्मचारी "आदित्य ब्रह्मचारी" बनता है। "शरत्" का अर्थ है—"विशीर्ण करनेवाली ऋतु"। ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्यकाल में अपनी अविद्या और तज्जन्य पापों को विशीर्ण करता रहता है, इसलिये इस काल को शरत् कहा है। दानुम्=दाप् लवणे। पाप जीवन की जड़ काट कर उसे सुखा देता है,

इसलिये वह दानु है। शयानम्=संस्काररूप में सोए पाप-संस्कारों के हनन करने को सूचित किया है।]

मन्त्र २०९ का अभिप्राय—

जिसने शासन करनेवाले, तथा गुरु के अरुचिकर मौखिक सदुपदेशों द्वारा, शान्तिव्रतधारी ब्रह्मचारी को पूर्णतया तैरा दिया, और उसे आनन्द-रस पिला दिया, तथा जिस पर्वत में अभ्यास करते हुए नाना उपासक-जनों को उसने समाधिनिद्रा में मूर्छित सा कर दिया, वह परमेश्वर है।

[अचारुकास्ना=अचारुक+आस्ना=(मुखेन)। कसीभिः=कस् (शासने)।]

२१०. यः सप्तरश्मिर्वृषभस्तुविष्मानवासृजत् सर्तवे सप्त सिन्धून्।
यो रौहिणमस्फुरद् वज्रबाहुर्द्यामारोहन्तं स जनास इन्द्रः ॥१३॥

(यः) जो (सप्तरश्मिः) सात रश्मियोंवाले सूर्य का स्वामी, (वृषभः) वर्षा करनेवाला, (तुविष्मान्) तथा बहुसम्पत्शाली परमेश्वर (सप्त सिन्धून्) सात प्रकार की नदियों को, (सर्तवे) प्रवाहित होने के लिये, (अवासृजत्) नीचे की ओर प्रकट करता है; और (यः) जिस (वज्रबाहुः) विद्युद्-वज्रधारी ने (द्याम्) द्युलोक की ओर (आरोहन्तम्) आरोहण करते हुए (रौहिणम्) मेघ को (अस्फुरत्) कम्पा कर भूमि पर फेंक दिया,—(जनासः) हे प्रजाजनो ! (सः इन्द्रः) वह परमेश्वर है।

[रौहिण=मेघ (निघ० १।१०)। तथा, सप्तरश्मिः=सप्तविध वैदिक छन्दों के द्वारा ज्ञान-रश्मियां देनेवाला। वृषभः=आनन्दरसवर्षी। सप्तसिन्धून्=५ ज्ञानेन्द्रियां, मन, बुद्धि। ज्ञानेन्द्रियों को "पञ्च स्रोतोम्बु" तथा "पञ्चबुद्ध्यादि" कहा है (श्वेता० उप० अ० १, खं० ५)। सर्तवे=सात्विक जीवन में बहने के लिये। रौहिणम्=लालवर्णवाला रजोगुण। जो रजोगुण को योगी के मस्तिष्करूपी द्युलोक में चढ़ने नहीं देता, अपितु उसे निचले जीवन तक सीमित रखता है, वह परमेश्वर है।]

२११. द्यावा चिदस्मै पृथिवी नमेते शुष्माच्चिदस्य पर्वता भयन्ते।
यः सोमपा निचितो वज्रबाहुर्यो वज्रहस्तः स जनास इन्द्रः ॥१४

(द्यावापृथिवी चित्) द्युलोक और भूलोक भी (अस्मै) इस परमेश्वर के प्रति (नमेते) नतमस्तक हैं। (अस्य) इस परमेश्वर के (शुष्मात्)

शोषकबल से (पर्वताः चित्) पर्वत भी (भयन्ते) भयभीत रहते हैं, (यः) जो कि (सोमपाः) चन्द्रमा की भी रक्षा करता है। (निचितः) जीवन में नियमतः चिनी गई यह परमेश्वराग्नि (वज्रबाहुः) मानो वज्र-धारी होकर (वज्रहस्तः) वज्र द्वारा पाप-पुञ्ज का हनन करता है, उसे भस्मीभूत कर देता है,—(जनासः) हे प्रजाजनो ! (सः इन्द्रः) वह परमेश्वर है। [हस्तः=हन्तेः प्राशुर्हनने (निरु० १।३।७)। निचितः—नि+चितः, यथा—अग्निचित्, अग्निचयन, अग्निचित्या, अर्थात् यज्ञाग्नि का चयन।]

२१२. यः सुन्वन्तमवति यः पचन्तं यः शंसन्तं यः शशमानमूती।
यस्य ब्रह्म वर्धनं यस्य सोमो यस्येदं राधः स जनास इन्द्रः ॥१५॥

(सुन्वन्तम्) भक्तिरस निष्पादन करनेवाले की (यः) जो (अवति) रक्षा करता है, (पचन्तम्) भक्तिरस को परिपक्व करनेवाले की (यः) जो रक्षा करता है, (शंसन्तम्) स्तुतिवाले की (यः) जो रक्षा करता है, (शशमानम्) शीघ्रता से आध्यात्मिक-पथ पर अग्रसर होनेवाले की (ऊती) नाना रक्षा-साधनों द्वारा (यः) जो रक्षा करता है, (यस्य) जिसका (ब्रह्म) वेद (वर्धनम्) समुन्नति-दायक है, (सोमः) उत्पन्न जगत् (यस्य) जिस का है, (इदं राधः) यह समग्र धन या सब प्रकार की आराधनायें (यस्य) जिसकी हैं,—(जनासः) हे प्रजाजनो ! (सः इन्द्रः) वह परमेश्वर है।

२१३. जातो व्यख्यत् पित्रोरुपस्थे भुवो न वेद जनितुः परस्य।
स्तविष्यमाणो नो यो अस्मद् व्रता देवानां स जनास इन्द्रः ॥१६॥

(पित्रोः) माता-पिता की (उपस्थे) गोद में खेलनेवाला (जातः) नवजात शिशु भी निज चेष्टाओं और हावभावों द्वारा मानो (व्यख्यत्) जिसके गुणों का कथन करता है, जो (परस्य) अपने से भिन्न किसी अन्य को (भुवः) पृथिवी का (जनितुः) जनयिता (न वेद) नहीं जानता, (यः) जो (अस्मत्) हम उपासकों से (स्तविष्यमाणः) स्तुति पाता हुआ (नः) हमें (वेद) जानता पहचानता है, जो (देवानाम्) सूर्य चन्द्र आदि सब दिव्य पदार्थों के (व्रता) कर्मों और गतिविधियों को (वेद) जानता है,—(जनासः) हे प्रजाजनो ! (सः इन्द्रः) वह परमेश्वर है।

२१४. यः सोमकामो हर्यश्वः सूरिर्यस्माद् रेजन्ते भुवनानि विश्वा।
यो जघान शम्बरं यश्च शुष्णं य एकवीरः स जनास इन्द्रः ।१७॥

(यः) जो (सोमकामः) भक्तिरस की कामना करता, या सौम्य-प्रकृतिवाले उपासक की कामना करता, (हर्यश्वः) प्रत्याहार-सम्पन्न इन्द्रियाश्वों का स्वामी, तथा (सूरिः) सर्वप्रेरक है, (विश्वा भुवनानि) सब भुवन (यस्मात्) जिस से (रेजन्ते) भयभीत होकर काम्पते हैं, (यः) जिस ने (शम्बरम्) वैद्युतवज्र-सम्पन्न मेघ का भी (जघान) हनन किया है, विनाश किया है, (यः) तथा जिसने (शुष्णम्) सुखा देनेवाले अर्थात् न बरसनेवाले मेघ का (जघान) हनन किया है, (यः) जो (एकवीरः) एकमात्र वीर है, (जनासः) हे प्रजाजनो! (सः इन्द्रः) वह परमेश्वर है। [(शम्बर=मेघ (निघ० १।१०)।]

२१५. यः सुन्वते पचते दुध्र आ चिद् वाजं दर्दर्षि स किलासि सत्यः ।
वयं त इन्द्र विश्वह प्रियासः सुवीरासो विदथमा वदेम ॥१८॥

हे परमेश्वर! (यः) जो आप, (सुन्वते) जो भक्तिरस का निष्पादन कर रहा है उसके लिये, (पचते) जो भक्तिरस को परिपक्व कर रहा है उस के लिये, (दुध्रे) जो अपने व्रतों में दुर्धर है उस के लिये, (वाजम्) बल और शक्ति (आ दर्दर्षि) आदर पूर्वक देते है, (सः) वे आप (किल) निश्चय से (सत्यः असि) सत्यस्वरूप हैं। (इन्द्र) हे परमेश्वर! (विश्वह) हे विश्वव्यापिन्! (वयम्) हम (ते) आप के (प्रियासः) प्रिय बने रहें। और (सुवीरासः) धर्मकार्यों में सुवीर बनकर (विदथम्) आप के ज्ञान का (आ वदेम) सर्वत्र प्रचार करते रहें। [विश्वह=विश्व+हाङ् (गतौ, सम्बुद्धौ)।]

सूक्त ३५

१—१६ नोधाः । इन्द्रः । त्रिष्टुप् ।

२१६. अस्मा इदु प्र तवसे तुराय प्रयो न हर्मि स्तोमं माहिनाय ।
ऋचीषमायाध्रिगव ओहमिन्द्राय ब्रह्माणि राततमा ॥१॥

(तवसे) वृद्धिकारक, (तुराय) शीघ्र फलदायक, (माहिनाय) महामहिम (अस्मै) इस परमेश्वर के लिये (इत्) ही, (उ) अवश्य, मैं (स्तोमम्) सामगान (प्र हर्मि) भेंट करता हूं। (न) जैसे कि अग्निहोत्र में, मैं इसी परमेश्वर के लिये (प्रयः) सामग्री आदि अन्न भेंट करता हूं। (ऋचीषमाय) ऋचाओं में समाये हुये, (अध्रिगवे) अधृत अर्थात् अबाधित गति-

वाले (इन्द्राय) परमेश्वर के लिये, (राततमा) यथार्थज्ञान-प्रदायक (ब्रह्माणि) ब्रह्म-प्रतिपादक वैदिक स्तुतियों का (ओहम्) उपहार मैं लाया हूं। [हर्मि=हृञ् हरणे। ओहम्=आ+वह् (प्रापणे)। राततमा=रा (दाने)+क्त+तमप्।]

२१७. अस्मा इदु प्रय इव प्र यंसि भराम्याङ्गूषं बाधे सुवृक्ति ।
इन्द्राय हृदा मनसा मनीषा प्रत्नाय पत्ये धियो मर्जयन्त ॥२॥

(बाधे) विघ्न-बाधाओं के बाधन के निमित्त मैं, (अस्मै इत् उ) इस ही परमेश्वर के लिये अवश्य, (प्रयः इव) भक्तिरसरूपी अन्न के सदृश, (प्रयंसि) प्रयत्नों, तथा (सुवृक्ति) दोषवर्जित (आङ्गूषम्) घोष-नाद से सम्पन्न सामगानों की (भरामि) भेंट लाता हूं, (हृदा) हार्दिक-भावनाओं के साथ, (मनसा) मानसिक विचारों के साथ, तथा (मनीषा) मानसिक इच्छाओं के साथ। (प्रत्नाय) अनादि, (पत्ये) सर्वरक्षक, (इन्द्राय) परमेश्वर की प्राप्ति के लिये, हे उपासको! तुम (धियः) अपने कर्मों और बुद्धियों को (मर्जयन्त) मार्जन द्वारा शुद्ध करो। [प्रयंसि=प्रयांसि।]

२१८. अस्मा इदु त्यमुपमं स्वर्षां भराम्याङ्गूषमास्येन ।
मंहिष्ठमच्छोक्तिभिर्मतीनां सुवृक्तिभिः सूरिं वावृधध्यै ॥३॥

(वावृधध्यै) सर्वतोन्मुखी वृद्धि के लिये,—(महिष्ठम्) पूजनीय, महादानी (सूरिम्) तथा सर्वप्रेरक परमेश्वर के प्रति,—(मतीनाम्) मतिमान् स्तोताओं की (सुवृक्तिभिः) सर्वथा दोषवर्जित (अच्छोक्तिभिः) अच्छी सूक्तियों द्वारा (भरामि) मैं स्तुतियां भेंट करता हूं। और (वावृधध्यै) सब की वृद्धि के निमित्त, मैं उपासक, (अस्मै इत् उ) इस ही परमेश्वर के प्रति (उपमम्) उपमा के योग्य, (स्वर्षाम्) तथा सुखदायक, (त्यम्) उस प्रसिद्ध (आङ्गूषम्) घोषयुक्त सामगान को, (आस्येन) मुखोच्चारण द्वारा (भरामि) भेंट करता हूं। [मुखोच्चारण द्वारा स्तुति करने से श्रोताओं की भी अध्यात्म-वृद्धि हो सकती है।]

२१९. अस्मा इदु स्तोमं सं हिनोमि रथं न तष्टेव तत्सिनाय ।
गिरश्च गिर्वाहसे सुवृक्तीन्द्राय विश्वमिन्वं मेधिराय ॥४॥

(अस्मै इत् उ) इस ही परमेश्वर की प्राप्ति के लिये मैं उपासक,

(सुवृक्ति) दोषवर्जित तथा (विश्वमिन्वम्) सब उपस्थित सज्जनों को भक्तिरस द्वारा सींचनेवाले (स्तोमम्) सामगान को (संहिनोमि) सम्यक् प्रकार से प्रेरित करता हूं, (इव तष्टा) जैसे कि कारीगर (रथं न) मानो रथ को प्रेरित होने योग्य कर देता है (तत्+सिनाय) रथसम्बन्धी स्वामी के लिये। (गिर्वाहसे) स्तुतिवाणियों को स्वीकार करनेवाले (मेधिराय) मेधावी (इन्द्राय) परमेश्वर के लिये (गिरः च) मैं सभी स्तुतियां प्रेरित करता हूं। [विश्वमिन्वम्=विश्व+मिवि (सेचने)। तत्+सिनाय =तत्+षिञ् बन्धने)।]

२२०. अस्मा इदु सप्तिमिव श्रवस्येन्द्रायार्कं जुह्वा३ समञ्जे ।
वीरं दानौकसं वन्दध्यै पुरां गूर्तश्रवसं दर्माणम् ॥५॥

(अस्मै इत् उ) इस ही परमेश्वर की प्राप्ति के लिये, (श्रवस्या) आध्यात्मिक-धन की प्राप्ति के हेतु, (जुह्वा) मैं अपनी जुहू स्थानापन्न जिह्वा द्वारा, (अर्कम्) पूजा के साधनभूत मन्त्रों को (समञ्जे) सम्यक् प्रकार से कान्तिसम्पन्न करता हूं, (इव) जैसे कि अश्वारोही (सप्तिम्) अपने अश्व को कान्तिसम्पन्न करता है, ताकि मैं (वीरम्) सर्वप्रेरक, (दानौकसम्) दानों के भण्डारी, (गूर्तश्रवसम्) दान देने में सदा उद्यत, (पुरां दर्माणम्) शरीर-पुरियों की परम्परा को विदीर्ण करनेवाले परमेश्वर की (वन्दध्यै) वन्दना कर सकूं। उसका अभिवादन और स्तवन कर सकूं।

[श्रवस्=धन (निघ० २।१०)। वीर=वि+ईर (गतौ)। गूर्त= गुरी (उद्यमने)+श्रवस् (धन)।]

२२१. अस्मा इदु त्वष्टा तक्षद् वज्रं स्वपस्तमं स्वर्यं१ रणाय ।
वृत्रस्य चिद् विदद् येन मर्म तुजन्नीशानस्तुजता कियेधाः ॥६॥

(अस्मै इत् उ) इस ही परमेश्वर की आज्ञा के पालन के लिये, (त्वष्टा) वायु, (स्वपस्तमम्) सर्वोत्तम जल देनेवाले, (स्वर्यम्) आकाशीय उपतापी (वज्रम्) वैद्युत-वज्र का (तक्षत्) निर्माण करता है, (रणाय) ताकि जल को रोकनेवाले मेघ के साथ युद्ध किया जा सके। (ईशानः चित्) शासन करनेवाला चेतन परमेश्वर (येन तुजता) जिस हिंस्र वैद्युतवज्र द्वारा, (वृत्रस्य) जल को घेरे हुए मेघ के (मर्म) मर्मस्थल को (तुजन्)

हिंसित करता है, उस वज्र को (विदत्) प्राप्त करके परमेश्वर (कियेधाः) कितने ही प्राणियों का धारण-पोषण करता है।

[त्वष्टा=माध्यमिकः त्वष्टेत्याहुः, मध्यमे च स्थाने समाम्नातः (निरु० ८।२।१४)। अतः त्वष्टा=वायुः। (स्वपस्तमम्=सु+अपः (जल, निघ० १।१२)+तमप्। स्वर्यम्=स्वः (आकाश; उपतापे (स्वृ)।]

२२२. अस्येदु मातुः सवनेषु सद्यो महः पितुं पपिवाञ्चार्वन्ना ।
मुषायद् विष्णुः पचतं सहीयान् विध्यद् वराहं तिरो अद्रिमस्ता ॥७॥

(अस्य इत् उ) इस ही (मातुः) जगन्निर्माता परमेश्वर-सम्बन्धी (सवनेषु) भक्तिरसवाले उपासना-यज्ञों में, मैं उपासक ने (सद्यः) शीघ्र ही, (महः पितुम्) महत्त्वशाली पेय अर्थात् आनन्दरस का (पपिवान्) पान किया है, जो पेय कि (चारु) रुचिकर (अन्ना) आध्यात्मिक अन्न है। (सहीयान्) पराभवकारी (विष्णुः) सर्वव्यापक परमेश्वर ने, (विध्यत्) मेरे हृदय को बींध कर, (तिरः) उसमें तिरोहित अर्थात् छिपे (पचतम्) परिपक्व-भक्तिरसरूपी (वराहम्) श्रेष्ठ आहार को (मुषायत्) मानो चुरा लिया है, और मेरे (अद्रिम्) न विदीर्ण होनेवाले क्लेशों के पर्वत को (अस्ता) तोड़ फैंका है।

[वराहम्=वराहारः, वरमाहारमाहार्षीः इति च ब्राह्मणम् (निरु० ५।१४)। मुषायत्=मालिक के पता विना मालिक के माल को हर लेना,—चोरी होती है। उपासक का धन है—'भक्ति-रस"। अप्रत्यक्ष परमेश्वर, विना पता दिये, उपासक के भक्तिरस का पान करता रहता है,—इसलिये परमेश्वर के इस पान को चोरी कहा है। [चार्वन्ना=चारूणि अन्नानि। पितुम्=अन्नम्, पिबतेः, (निरु० ९।३।२४)।]

२२३. अस्मा इदु ग्नाश्चिद् देवपत्नीरिन्द्रायार्कमहिहत्य ऊवुः ।
परि द्यावापृथिवी जभ्र उर्वी नास्य ते महिमानं परि ष्टः ॥८॥

(देवपत्नीः) परमेश्वर देव द्वारा प्रदत्त, रक्षक (ग्नाः) वेदवाणियां, (अहिहत्ये) कामादि सांपों के हननार्थ, (अस्मै इत् उ चित्) इस ही परमेश्वर के लिये (अर्कम् ऊवुः) अर्चनाओं का पट बुनती रही हैं। (जभ्रे) भरण-पोषण करनेवाले, (उर्वी) विस्तृत (द्यावापृथिवी) द्युलोक और

भूलोक, हे परमेश्वर ! (अस्य ते) इस आपकी (महिमानम्) महिमा का (परि न स्तः) मुकाबिला नहीं कर पाते । (ग्नाः=वाक् (निघ० १।११) । ऊवुः=वेञ् तन्तुसंताने ।]

२२४. अस्येदेव प्र रिरिचे महित्वं दिवस्पृथिव्याः पर्यन्तरिक्षात् ।
स्वरालिन्द्रो दम आ विश्वगूर्तः स्वरिरमत्रो ववक्षे रणाय ॥९॥

(दिवस्पृथिव्याः) द्युलोक और पृथिवीलोक से, तथा (परि अन्तरिक्षात्) अन्तरिक्ष से (अस्य इत् एव) इस ही परमेश्वर की (महित्वम्) महिमा (प्ररिरिचे) पूर्णतया रेचित हो रही हैं, प्रवाहित हो रही है। (स्वराल्=स्वराट्) निज ज्योति से सम्पन्न, (विश्वगूर्तः) विश्व में उद्यमवाला, (स्वरिः) आसुरी भावों का उपतापक या उनका सर्वश्रेष्ठ अरि अर्थात् दुश्मन, (अमत्रः) अपरिमित अर्थात् सर्वव्यापक (इन्द्रः) परमेश्वर, (रणाय) आसुरी-भावों के साथ युद्ध करने के लिये या उपासक की प्रसन्नता के लिये, (दमे) उपासक के हृदय-गृह में (आ ववक्षे) आ उपस्थित हुआ है । [स्वराल्=स्वराट् । वैदिकयंत्रालय अजमेर, तथा श्री पं० सातवलेकर औंध से प्रकाशित अथर्ववेद संहिताओं में पाठ "स्वराल्" है, जो कि स्थानीय उच्चारण-भेद के कारण अपभ्रंश पाठ है। ऐसे अपभ्रंश पाठ वेदों में कई स्थानों पर मिलते हैं। ऐसे अपभ्रंश पाठों को न छाप कर इनके स्थान में विशुद्ध सार्थक पाठ ही छापने चाहियें ।

२२५. अस्येदेव शवसा शुषन्तं वि वृश्चद् वज्रेण वृत्रमिन्द्रः ।
गा न व्राणा अवनीरमुञ्चदभि श्रवो दावने सचेताः ॥१०॥

(अस्य इत् एव) इस ही परमेश्वर की (शवसा) शक्तिरूपी (वज्रेण) वज्र द्वारा (इन्द्रः) जीवात्मा, (शुषन्तं) बलशाली (वृत्रम्) पाप-वृत्र की जड़ (विवृश्चद्) काट देता है । तब जीवात्मा (व्राणाः) राग-द्वेष आदि से आवृत (अवनीः) पृथिवीस्थ प्रजाजनों को राग-द्वेष आदि से (अमुञ्चत्) मुक्त कर देता है, (न) जैसे कि (व्राणाः) मेघ से आवृत (गाः) सूर्यरश्मियों को, या मेघीय जलों को; (इन्द्रः) मेघस्थ-विद्युद् (वज्रेण) अपने वज्र द्वारा (शुषन्तं वृत्रम्) बलवान् मेघ-वृत्र को (विवृश्चद्) काट कर (अमुञ्चत्) मुक्त कर देती है । तदनन्तर (सचेताः) सचेत हुआ जीवात्मा (दावने) आध्यात्मिक शक्ति के प्रदान के लिये (श्रवः अभि) यश प्राप्त करता है ।

२२६. अस्येदु त्वेषसा रन्त सिन्धवः परि यद् वज्रेण सीमयच्छत् ।
ईशानकृद् दाशुषे दशस्यन् तुर्वीतये गाधं तुर्वणिः कः ॥११॥

(अस्य इत् उ) इस परमेश्वर की ही (त्वेषसा) ज्योति द्वारा (सिन्धवः) समुद्र (रन्त) रमणीय बने हुये है, (यद्) जब कि परमेश्वर ने (वज्रेण) वैद्युत वज्र द्वारा इन्हें (परि) पृथिवी के चारों ओर (सीम्) सर्वत्र (अयच्छत्) प्रदान किया, या नियत कर दिया । परमेश्वर ने (ईशानकृत्) शासकों की सृष्टि भी की हुई है । परमेश्वर (दाशुषे) आत्म-समर्पण करनेवाले के लिये (दशस्यन्) अध्यात्मशक्ति प्रदान करता है। (तुर्वीतये) आध्यात्मिक मार्ग पर शीघ्र प्रगति करनेवाले के लिये, (तुर्वणिः) शीघ्र शक्ति प्रदान करनेवाला परमेश्वर (गाधं कः) अपना आश्रय प्रदान करता है । [तुर्वीतये=तुर्, त्वरा, शीघ्र+वी (गतौ) । तुर्वणिः=तुर्, त्वरा, शीघ्र+वण(संभक्तौ)।]

२२७. अस्मा इदु प्र भरा तूतुजानो वृत्राय वज्रमीशानः कियेधाः ।
गोर्न पर्व वि रदा तिरश्चेष्यन्नर्णांस्यपां चरध्यै ॥१२॥

(अर्णांसि) जलों को (इष्यन्) चाहता हुआ राजा, पृथिवी पर (अपाम्) जलों के (विचरध्यै) विचरने के लिये, (तिरश्चा) तिरछे (रदा) शस्त्रों द्वारा (न) जैसे (गोः) पृथिवी के (पर्व) अङ्गों को काटता है, और पृथिवीतल पर नहरों या नदी के रूप में जल बहा देता है, वैसे हे उपासक ! (अस्मै इत् उ) इस ही परमेश्वर की प्रसन्नता के लिये, (तूतुजानः) बल का संग्रह करता हुआ, और (कियेधाः) कितनों का ही धारण-पोषण करता हुआ, (ईशानः) इन्द्रियों और मन का अधीश्वर बनकर तू, (वृत्राय) पाप-वृत्र के हनन के लिये (वज्रम्) असङ्गरूपी दृढ़ वज्र को (प्रभर) धारणकर, या इस वज्र का पाप-वज्र पर प्रहार कर ।

["तूतुजानः और कियेधाः" का अन्वय राजा के साथ भी होता है । वृत्राय=वृत्रं हन्तुम् । रदा=रद् विलेखने; रद् क्विप्, तृतीयैकवचन । गोः=यहां गोपशु का वर्णन नहीं, क्योंकि गौ के अङ्गों का काटना जल के लिये कहा है। गोपशु के अङ्गों को काटने से जल की प्राप्ति नहीं हो सकती । जैसे राजा भगीरथ ने पर्वतों को काट कर पृथिवी तल पर गङ्गा को बहाया था, वैसा ही वर्णन मन्त्र में है । भगीरथ के कारण गङ्गा का नाम

भागीरथी पड़ा है । वज्रम्=असङ्गरूपी दृढ़ वज्र । यथा—"असङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा" (गीता १५।३) । तूतुजानः=तुज् बलादाने ।]

२२८. अस्येदु प्रब्रूहि पूर्व्याणि तुरस्य कर्माणि नव्य उक्थैः ।
युधे यदिष्णान आयुधान्यृघायमाणो निरिणाति शत्रून् ॥१३॥

हे परमेश्वर ! (नव्यः) आप ही स्तुति के योग्य हैं । आप, (तुरस्य) अध्यात्ममार्ग पर शीघ्रकारी (अस्य इत् उ) इस उपासक के प्रति, (उक्थैः) वैदिक-सूक्तियों द्वारा, (पूर्व्याणि) अनादिकाल से प्राप्त (कर्माणि) सत्कर्मों का (प्रब्रूहि) उपदेश कीजिये, (यद्) क्योंकि यह (ऋघायमाणः) आसुरी प्रवृत्तियों का विनाश चाहता हुआ, तदर्थ (आयुधानि) तदुपयोगी आयुधों को (इष्णानः) चाहता हुआ, (युधे) देवासुर-संग्राम में (शत्रून्) आसुरी शत्रुओं का (निरिणाति) वध करता है । [ऋघायमाणः =ऋ (रेषणे)+घ (हन्)+क्यच्+शानच् ।]

२२९. अस्येदु भिया गिरयश्च दृल्हा द्यावा च भूमा जनुषस्तुजेते ।
उपो वेनस्य जोगुवान ओणिं सद्यो भुवद् वीर्याय नोधाः ॥१४॥

(अस्य इत् उ) इस ही (जनुषः) जन्मदाता परमेश्वर के (भिया) भय से (गिरयः) पर्वत (दृल्हाः) अपने-अपने स्थानों में दृढ़ खड़े हैं, (च) और (द्यावा च भूमा) द्युलोक तथा भूलोक (तुजेते) अपनी-अपनी कक्षा में शीघ्रता से भ्रमण कर रहे हैं । (जोगुवानः) अव्यक्त वाणी द्वारा प्रेरणाएं देता हुआ परमेश्वर, (नोधाः) उपासक की स्तुतियां धारण करके, (वेनस्य) कामनावाले उपासक को, (वीर्याय) वीरता के लिये, (सद्यः) शीघ्र (ओणिम्) रक्षा-साधन (उप उ भुवत्) उपस्थित कर देता है । [दृल्हाः=दृढाः । जोगुवानः=गुङ् अव्यक्ते शब्दे । उपासक को परमेश्वर, उसके मन में प्रेरणाएं देता है, जिसके लिये व्यक्तवाणी की आवश्यकता नहीं होती । ओणिम्= अव् रक्षणे, अथवा ओणृ=अपनयने ; बाधाओं को हटाने के साधन । नोधाः=नवनं दधाति (निरु० ४।२।१६)।]

२३०. अस्मा इदु त्यदनु दाय्येषामेको यद् वव्ने भूरेरीशानः ।
प्रैतशं सूर्ये पस्पृधानं सौवश्व्ये सुष्विमावदिन्द्रः ॥१५॥

(भूरेः) प्रभूत सम्पत्ति का (ईशानः) स्वामी परमेश्वर (यद्) जो कि (एकः) एक ही है, वह, (एषाम्) इन उपासकों में से (अस्मै इत् उ) इस ही सच्चे उपासक को (त्यद्) उस प्रसिद्ध मोक्ष का (अनु दायी) अनुदान करता है, (यद्) जिस की कि उपासक (वव्ने) याचना करता है । (सौवश्व्ये) उत्तम किरणों अर्थात् ज्योति से सम्पन्न (सूर्ये) सहस्रार चक्ररूपी सूर्य में (एतशम्) आये हुए और असम्प्रज्ञात समाधि में मानो सोये पड़े, और (पस्पृधानम्) मुक्ति पद की स्पर्धावाले योगी की (इन्द्रः) परमेश्वर (प्र आवत्) रक्षा करता है, तथा (सुष्विम्) उसके मोक्षधन की रक्षा करता है ।

[वव्ने=वनु याचने । अश्व=किरणें । संस्कृतसाहित्य में सूर्य को "सप्ताश्व" कहते हैं । सूर्य की ७ प्रकार की किरणें ७ अश्व हैं, जो कि सूर्य के वाहक है । एतशम्=एत+श (शयन) । सुष्विम्=सु+स्व (धन)+इ (वाला, वैदिक प्रत्यय) । सौवश्व्ये=सु+अश्व+ष्यत्=सौ+अश्व+यत्=सौव् अश्व्य ("व्" का आगम, छान्दस ।]

२३१. एवा ते हारियोजना सुवृक्तीन्द्र ब्रह्माणि गोतमासो अक्रन् ।
ऐषु विश्वपेशसं धियं धाः प्रातर्मक्षू धियावसुर्जगम्यात् ॥१६॥

(इन्द्र) हे परमेश्वर ! (गोतमासः) सर्वोत्तम स्तुतियां करनेवाले स्तोता लोग, (एवा) इस प्रकार, (हारियोजना=हारियोजनानि) विषय-विहारी-इन्द्रियों को आपके साथ योगयुक्त करनेवाली, (सुवृक्ति=सुवृक्तीनि) दोषवर्जित, (ब्रह्माणि) ब्रह्म-प्रतिपादक स्तुतियां (अक्रन्) करते हैं । (एषु) इन उपासकों में आप (विश्वपेशसम्) विश्व का निरूपण करने-वाली (धियम्) यथार्थ बुद्धि का (धाः) आधान करते हैं, और (धियावसुः) बुद्धि के धनी आप (प्रातः) प्रातःकाल की स्तुतियों में (मक्षू) शीघ्र ही (आ जगम्यात्) प्रकट हूजिये ।

[गोतमासः=गौः (स्तोता, निघ० ३।१६) । गोतमासः में 'तमप्' प्रत्यय है, जो कि संज्ञावाची शब्दों में नहीं हो सकता । इसलिये 'गोतम' शब्द संज्ञावाची न होकर क्रियावाची है, स्तुति के प्रकर्ष का द्योतक है।]

सूक्त ३६

१-११ भरद्वाजः । इन्द्रः । त्रिष्टुप्

२३२. य एक इद्धव्यश्चर्षणीनामिन्द्रं तं गीर्भिरभ्यर्च आभिः ।
यः पत्यते वृषभो वृष्ण्यावान्त्सत्यः सत्वा पुरुमायः सहस्वान् ॥१॥

(यः) जो (एक इत्) एक ही, (चर्षणीनाम्) मनुष्यों द्वारा (हव्यः) स्तुति और आहुति के योग्य है, हे उपासक ! (तं इन्द्रम्) उस परमेश्वर की (आभिः गीर्भिः) इन वाणियों के द्वारा (अभ्यर्च) प्रत्यक्ष अर्चना किया कर। (वृष्ण्यावान्) सुखों की वर्षा करनेवाले साधनों का स्वामी (यः) जो कि (वृषभः) सुखों की वर्षा करता, (सत्यः) सत्यस्वरूप, (सत्वा) सत्तावान्, (पुरुमायः) बहुविज्ञ, (सहस्वान्) और सब का पराभव किये हुये है,—वह (पत्यते) सकल ऐश्वर्यों का पति है।

२३३. तमु नः पूर्वे पितरो नवग्वाः सप्त विप्रासो अभि वाजयन्तः।
नक्षद्दाभं ततुरिं पर्वतेष्ठामद्रोघवाचं मतिभिः शविष्ठम् ॥२॥

(नक्षद्-दाभम्) दम्भियों में भी व्याप्त, (ततुरिम्) शीघ्र फल-प्रदाता, (पर्वतेष्ठाम्) अपने व्रतों में पर्वत के सदृश सुदृढ़ उपासकों में स्थिति पाये हुए, (अद्रोघवाचम्) जिसकी वेदवाणी किसी के साथ द्रोह करना नहीं सिखाती, (मतिभिः) ज्ञानों की दृष्टि से (शविष्ठम्) सर्वातिशायी (तम् उ) उसी ही परमेश्वर को, (नः) हमारे (पूर्वे पितरः) पूर्व पितर, (नवग्वाः) तथा नवीन-स्तोता, और (सप्त विप्रासः) सात छन्दोमयी वेद-वाणियों वाले मेधावी, (अभि) प्रत्यक्षरूप में, (वाजयन्तः) अपनी ओर प्रेरित करते रहे हैं।

[नवग्वाः=नव+गौः (स्तोता। नक्षत्=व्याप्तिकर्मा (निघ० २।१८)। सप्तविप्रासः=सप्तभिः छन्दोभिः संस्कृताः विप्राः। अथवा 'सप्त'=ईश्वर के साथ सदा सम्बद्ध 'सपति समवैतीति' (उणा०कोष १। १५७)।]

२३४. तमीमह इन्द्रमस्य रायः पुरुवीरस्य नृवतः पुरुक्षोः।
यो अस्कृधोयुरजरः स्वर्वान् तमा भर हरिवो मादयध्यै ॥३॥

(तम्) उस (इन्द्रम्) परमेश्वर से (ईमहे) हम याचनाएं करते हैं, क्योंकि (रायः) आध्यात्मिक और प्राकृतिक सब सम्पत्तियां (अस्य) इस परमेश्वर की हैं, जो परमेश्वर कि (पुरुवीरस्य) बहुतों को वीर बनाता, धर्मवीर दानवीर आदि बनाता, (नृवतः) जो कि नर-नारियों का स्वामी, तथा (पुरुक्षोः) सभी अन्नों का अन्नपति है। (यः) जो अस्कृधोयुः) अक्षीण आयुवाला नित्य तथा सनातन है, (अजरः) जो जरारहित, (स्वर्वान्) सुख-सामग्रीवाला है,—(हरिवः) हे क्लेशहारी परमेश्वर के भक्त ! (मादयध्यै) अपनी तृप्ति के लिये (तम्) उस परमेश्वर का तू (आभर) आश्रय ले।

[अस्कृधोयुः=अकृध्वायुः, "कृधु" इति ह्रस्वनाम, निकृत्तं भवति (निरु० ६।१।३)। क्षु=अन्नम् (निघ० २।७)।]

२३५. तन्नो वि वोचो यदि ते पुरा चिज्जरितार आनशुः सुम्नमिन्द्र।
कस्ते भागः किं वयो दुध्र खिद्वः पुरुहूत पुरूवसोऽसुरघ्नः ॥४॥

(इन्द्रः) हे परमेश्वर ! (ते) आप के (जरितारः) स्तोता (यदि) यदि (पुरा) पुराकाल से, अनादिकाल से (सुम्नम्) सुख को (आनशुः) प्राप्त होते रहे हैं, (तत्) तो उस सुख के सम्बन्ध में (नः) हमें भी (विवोचः) विशेषरूप में कथन कीजिये। (दुध्र) हे दुर्धर!, (खिद्वः) हे दीन-दयालो!, (पुरुहूत) हे बहुतों द्वारा पुकारे गये!, (पुरूवसो) हे महाधनी! (असुरघ्नः) आप आसुर-प्रवृत्तियों का हनन करने वाले हैं; कहिये कि (कः ते भागः) कौनसा धन आपका भाग है?, (किं वयः) और आप का अन्न क्या है?।

[खिद्वः खिन्नः=खिद् दैन्ये+क्त, यथा पक्वः। भाग=आपका भाग है, "भक्त का आत्मसमर्पण"। वयः=अन्नम् (निघ० २।७), आपका अन्न है "भक्तिरस"। असुरघ्नः=अथवा असुरघ्नः ते; असुर घातिनः ते।]

२३६. तं पृच्छन्ती वज्रहस्तं रथेष्ठामिन्द्रं वेपी वक्वरी यस्य नू गीः।
तुविग्राभं तुविकूर्मिं रभोदां गातुमिषे नक्षते तुम्रमच्छ ॥५॥

(वेपी) उदात्तादि स्वरों की दृष्टि से सुरीले वेपनोंवाली, (वक्वरी) और यथार्थज्ञान का कथन करनेवाली (यस्य गीः) जिसकी वेदवाणी,—(वज्रहस्तम्) न्यायवज्रधारी, (रथेष्ठाम्) शरीर-रथ तथा ब्रह्माण्ड-रथ में स्थित, (तुविग्राभम्) मजबूत पकड़वाले, (तुविकूर्मिम्) महती कृति शक्ति से सम्पन्न, (रभोदाम्) शक्ति प्रदाता, (गातुम्) वेदवाणी के उपदेष्टा, (तुम्रम्) तुमुल अर्थात् महान् (तम् इन्द्रम्) उस पममेश्वर के सम्बन्ध में (पृच्छन्ती) पूछती हुई, (इषे) प्रजाजनों के अभीष्टों के लिये (नक्षते) प्राप्त हुई है।

[तुविग्राभम्=संसार में ग्रह, उपग्रह, सूर्य नक्षत्र, तारागण, विना किसी अवलम्ब के महाकाश में नियत गतियां कर रहे हैं, और स्थान भ्रष्ट नहीं होते । इसका कारण यह है कि ये सब परमेश्वर की मजबूत पकड़ में हैं । रभोदाम्=रभस् (strength; आपटे)+दा । पृच्छन्ती=जैसे कि मन्त्र ४ में "कस्ते भागः, किं वयः",—द्वारा परमेश्वर से प्रश्न किये हैं । इस इस प्रकार के प्रश्न वेदों में कई स्थानों में किये गये हैं । गातुम्=गायति सः गातुः (उणा० कोष १।७३), वैदिकयन्त्रालय, अजमेर । नक्षते=गति-कर्मा (निघ० २।१४); गतेः त्रयोऽर्थाः ज्ञानम्, गतिः, प्राप्तिश्च ।]

२३७. अया ह त्यं मायया वावृधानं मनोजुवा स्वतवः पर्वतेन ।
अच्युता चिद् वीलिता स्वोजो रुजो वि दृल्हा धृषता विरप्शिन् ।६

(मनोजुवा) मनों में प्रेरणाएं देनेवाली (अया मायया) इस प्रज्ञा-मयी वेदवाणी द्वारा, (त्यम्) उस प्रजाजन की (वावृधानम्) वृद्धि करते हुये, तथा (पर्वतेन) पर्वत के सदृश सुदृढ़ (स्वतवः) निज बल से सम्पन्न परमेश्वर के (पृच्छन्ती, मन्त्र ५) सम्बन्ध में प्रश्न करती हुई वेदवाणी कहती है कि '(स्वोजः) हे निज ओजवाले ! (विरप्शिन्) हे महान् ! आप ने (धृषता) अपने पराभवकारी पराक्रम द्वारा, (अच्युता) न च्युत होनेवाले (दृल्हा चित्) सुदृढ़ लोक-लोकान्तरों को भी, (वीलिता) कम्पित कर दिया है, और (विरुजः) उन को भग्न कर दिया है [महा प्रलय में ।]

[माया=प्रज्ञा (निघ० ३।९) । तवः=बल (निघ० २।९) । वीलिता =वि+इर् (गतौ; कम्पते)+इट्+क्त ।]

२३८. तं वो धिया नव्यस्या शविष्ठं प्रत्नं प्रत्नवत् परितंसयध्यै ।
स नो वक्षदनिमानः सुब्रह्मेन्द्रो विश्वान्यति दुर्गहाणि ॥७॥

हे नवीन उपासको ! (वः) तुम्हारे ज्ञान के लिये हम गुरुजन,(प्रत्न-वत्) अनादिकाल परम्परा द्वारा प्राप्त ऋषियों के सदृश, (नव्यस्या धिया) सदा नवीन रहनेवाली प्रज्ञामयी वेदवाणी द्वारा (शविष्ठम्) महाबलशाली (प्रत्नम्) अनादि (तम्) उस परमेश्वर को (परितंसयध्यै) उस की विभूतियों के वर्णन से विभूषित करते हैं । (सः) वह (अनिमानः) माप-तोल से रहित, (सुब्रह्मा)श्रेष्ठ ब्रह्म (इन्द्रः) परमेश्वर, (नः) हमें (विश्वानि)

सब (अति दुर्गहाणि) अति दुरवगाह्य, अति दुर्गम अर्थात् अतिगहन वैदिक रहस्य (आ वक्षत्) प्राप्त कराता है ।

२३९. आ जनाय द्रुह्वणे पार्थिवानि दिव्यानि दीपयोऽन्तरिक्षा ।
तपा वृषन् विश्वतः शोचिषा तान् ब्रह्मद्विषे शोचय क्षामपश्च ॥८

हे परमेश्वर ! आप, (द्रुह्वणे) पापों के साथ द्रोह करनेवाले, उन के हनन की अभिलाषा करनेवाले (जनाय) मनुष्य के लिये (पार्थिवानि दिव्यानि अन्तरिक्षा=अन्तरिक्षस्थानि) पृथिवी सम्बन्धी, द्युलोक सम्बन्धी और अन्तरिक्ष सम्बन्धी ज्ञान-विज्ञानों को (दीपयः) दीपित कर दीजिये । (वृषन्) हे आनन्दरस वर्षी ! (तान्) उन जनों को आप (विश्वतः) सब प्रकार से (शोचिषा) ज्ञान-दीप्ति द्वारा (तपा) ऐश्वर्ययुक्त कर दीजिये । और (ब्रह्मद्विषे) आप ब्रह्म के साथ द्वेष करनेवाले नास्तिक के लिये, (क्षाम्) पृथिवी को (अपः च) और जलों को (शोचय) सुखा दीजिये ।

['ब्रह्मद्विषे और सुब्रह्म' (मन्त्र ७) दोनों पक्षों में ब्रह्म शब्द समान है । तपा=तप ऐश्वर्ये ।]

२४०. भुवो जनस्य दिव्यस्य राजा पार्थिवस्य जगतस्त्वेषसंदृक् ।
धिष्व वज्रं दक्षिण इन्द्र हस्ते विश्वा अजुर्य दयसे वि मायाः ॥९॥

हे परमेश्वर ! (त्वेषसंदृक्) ज्योतिर्मय आप, (जनस्य) उत्पन्न प्राणियों के, (दिव्यस्य पार्थिवस्य जगतः) तथा द्युलोक और पृथिवी लोक रूपी जगत् के (राजा भुवः) राजा हुये हैं । (इन्द्र) हे परमेश्वर (वज्रम्) न्यायवज्र का (धिष्व) आप धारण कर रहे हैं, जैसे कि योद्धा (दक्षिणे हस्ते) अपने दाहिने हाथ में वज्र धारण करता है । (अजुर्य) हे अजर अमर अविनाशिन् ! आप (विश्वाः) सब प्रकार के (मायाः) छलकपटरूपी कर्मों का (वि दयथे) विनाश करते हैं, अथवा सब प्रज्ञाओं के दाता है ।

[मायाः=छलटपट, तथा प्रज्ञा (निघ० ३।९) । दयसे=हिंसा तथा दान ।]

२४१. आ संयतमिन्द्र णः स्वस्तिं शत्रुतूर्याय बृहतीममृध्राम् ।
यया दासान्यार्याणि वृत्रा करो वज्रिन्त्सुतुका नाहुषाणि ॥१०॥

(इन्द्र) हे परमेश्वर ! (शत्रुतूर्याय) कामादि शत्रुओं के विनाश के लिये, आप (नः) हमें (संयतम्) इन्द्रिय-संयम तथा (बृहतीं स्वस्तिम्) महाकल्याण का मार्ग (आ करः) प्राप्त कराइये (अमृध्राम्) ऐसा संयम तथा महाकल्याण मार्ग प्राप्त कराइये जिससे कामादि के साथ पुनः संग्राम करना न पड़े । (वज्रिन्) हे न्याय वज्रधारी ! ऐसा संयम और स्वस्तिमार्ग प्राप्त कराइये, (यया) जिस द्वारा कि (दासानि) उपक्षयकारी तथा (वृत्रा) उन्नति को रोकनेवाले (नाहुषाणि) मनुष्यों को भी, आप (आर्याणि) आर्य अर्थात् ईश्वरभक्त (करः) कर देते हैं । (सुतुका) और उनकी सन्तानों को भी आप श्रेष्ठ आर्य बना देते हैं ।

[अमृध्राम्=अ+मृध=संग्रामनाम (निघ० २।१७) । नाहुषाणि=मनुष्यनाम (निघ० २।३) ।आर्यः=ईश्वरपुत्रः (निरु० ६।५।२६) । तुक्=अपत्यनाम (निघ० २।२)।]

२४२. स नो नियुद्भिः पुरुहूत वेधो विश्ववाराभिरा गहि प्रयज्यो ।
न या अदेवो वरते न देव आभिर्याहि तूयमा मद्र्यद्रिक् ॥११॥

(पुरुहूत) हे बहुतों के द्वारा पुकारे गए ! (वेध) हे पापों को वेधने वाले !, (प्रयज्यो) हे उत्तम यज्ञियभावनाओं को चाहने वाले ! (सः) वे आप, (विश्ववाराभिः) सब पापों का निवारण करनेवाली (नियुद्भिः) असंख्यात शक्तियों समेत (नः) हमें (आ गहि) प्राप्त हूजिये, (याः) जिन शक्तियों को (न अदेवः) न कोई अदेव, (न देवः) और न कोई देव (वरते) निवारण कर सकता है, (आभिः) इन शक्तियों समेत आप (तूयम्) शीघ्र (मद्र्यद्रिक्) मुझ उपासक की ओर (आ याहि) आइये । [मद्र्यद्रिक्—मद् (=अस्मद्)+अद्रि (आगम)+अञ्ज (गतौ)।]

सूक्त ३७

१–११ वसिष्ठ । इन्द्रः । त्रिष्टुप् ।

२४३. यस्तिग्मशृङ्गो वृषभो न भीम एकः कृष्टीश्च्यावयति प्र विश्वाः ।
यः शश्वतो अदाशुषो गयस्य प्रयन्तासि सुष्वितराय वेदः ॥१॥

(तिग्मशृङ्गः) तीक्ष्ण सींगोंवाले (वृषभः) बैल के (न) सदृश, या तीक्ष्ण किरणोंवाले और वर्षा करने सूर्य के सदृश (यः) जो आप (भीमः) भयप्रद हैं, वे आप (एकः) अकेले ही (विश्वाः) सब (कृष्टीः) प्रजाजनों को (प्रच्यावयसि) विचलित कर देते हैं । (यः) जो आप (शश्वतः) शाश्वत काल से (अदाशुषः) अदानी के (गयस्य) धन के (प्रयन्ता असि) नियन्ता हैं, वे आप (वेदः) अदानी के धन को (सुष्वितराय) इतरों के के प्रति दे देते हैं, प्रेरित कर देते हैं ।

[कृष्टीः=मनुष्यनाम (निघ० २।३)। गयस्य=धननाम (निघ० २।१०) । वेदः=धननाम (निघ० २।१०) । सुष्वितराय=सु+षणु(दाने) इतराय; अथवा सु+षु (प्रेरणे) +इतराय] ।

२४४. त्वं ह त्यदिन्द्र कुत्समावः शुश्रूषमाणस्तन्वा समर्ये ।
दासं यच्छुष्णं कुयवं न्यस्मा अरन्धय आर्जुनेयाय शिक्षन् ॥२॥

(इन्द्र) हे परमेश्वर ! (तन्वा) अपनी व्यापकता के कारण (त्वम्) जब आप, कहीं भी रहते उपासक की प्रार्थना को (शुश्रूषमाणः) सुन लेते हैं, स्वीकार कर लेते हैं, तब आप, (त्यत्) उस (कुत्सम्) वैद्युत-वज्र के सदृश अपने पापों की जड़ काटनेवाले उपासक की (समर्ये) उसके देवासुर-संग्राम में (ह) अवश्य (आवः) रक्षा करते हैं । और (आर्जुनेयाय) शुक्ल सात्त्विक और सत्यमय कर्मों का उपार्जन करनेवाले (अस्मै) इस उपासक के लिये (शिक्षन्) सत् शिक्षा देते हुये, आपने (दासम्) उपासक का क्षय करनेवाले और उसे (शुष्णम्) शोषण करनेवाले तामस और राजस कर्मों का (अरन्धयः) विनाश कर दिया है, (यत्) जैसे कि मेघीय-विद्युत् (कुयवम्) जौ आदि अन्न को कुत्सितावस्था में कर देनेवाले, और (शुष्णम्) उसे सुखा देनेवाले तथा (दासम्) उसका क्षय कर देनेवाले मेघ का (अरन्धयः) हिंसन करती है ।

[तन्वा=तनु विस्तारे, (अर्थात्) व्यापकता । कुत्सम्=कृन्ततेः (निरु० ३।२।११), तथा कुत्सः=वज्र (निघ० २।२०) । आर्जुनेयाय=अर्जुन=शुक्ल (निरु० २।६।२१) ; तथा ऋजु=अर्ज (सत्यमार्ग,ऋजु-मार्ग तथा अर्ज, अर्जने,अर्जन करना, उपार्जन करना । समर्ये=संग्रामनाम (निघ० २।१७)।]

२४५. त्वं धृष्णो धृषता वीतहव्यं प्रावो विश्वाभिरूतिभिः सुदासम् ।
प्र पौरुकुत्सिं त्रसदस्युमावः क्षेत्रसाता वृत्रहत्येषु पूरुम् ॥३॥

(वृष्णो) पापों का वर्षण करनेवाले हे परमेश्वर ! (त्वम्) आपने (धृषता) अपने धर्षण सामर्थ्य द्वारा (वीतहव्यम्) प्राकृतिक आहुतियां छोड़कर आत्म समर्पण की आहुतियां करनेवाले की (प्रावः) रक्षा की है, और (सुदासम्) उत्तम दानी की रक्षा (विश्वाभिः ऊतिभिः) सब प्रकार के रक्षासाधनों द्वारा की है। आपने (त्रसदस्युम्) उपक्षयकारी प्रवृत्तियों को मानो त्रस्त करनेवाले, भ भीत करनेवाले, (पौरुकुत्सिम्) पुरुकुत्स की सन्तान की(प्र आवः) रक्षा की है। तथा (क्षेत्रसाता=क्षेत्रसातौ) कर्मक्षेत्रशरीर परम्परा के विनाश के निमित्त जिसने (वृत्रहत्ये) पाप-वृत्रों के हनन में (पूरुम्) पूर्ण सफलता प्राप्त की है, उसकी भी आपने रक्षा की है।

[सुदासम् =सु+दासृ दाने। पुरुकुत्सः =नाना पापों भी जड़ काटने वाला। कुत्स (मन्त्र २)। त्रसदस्युम्=त्रस्=त्रास, भय+दसु उपक्षये। क्षेत्रसाता=क्षेत्र (शरीर)+साति(विनाश)। पुरुम्=पृ पूरणे।]

२४६. त्वं नृभिर्नृमणो देववीतौ भूरीणि वृत्रा हर्यश्व हंसि ।
त्वं नि दस्युं चुमुरिं धुनिं चास्वापयो दभीतये सुहन्तु ॥४॥

(हर्यश्व) हे प्रत्याहार-सम्पन्न इन्द्रियाश्वों के स्वामिन् ! (नृभिः) उपासक नेताओं द्वारा (देववीतौ) आप देव के प्रति आत्मसमर्पण कर देने पर, (त्वम्) आप उनके (भूरीणि) प्रभूत (वृत्रा) पाप-वृत्रों का (हंसि) हनन कर देते हैं, (नृमणः) क्योंकि उपासक-नेताओं के प्रति आपका मन, सदैव झुका रहता है। (दभीतये) दम्भ, छल कपट आदि दुर्भावनाओं से भीत उपासक के लिये, (त्वम्) आपने, (दस्युम्) उपक्षयकारी (सुहन्तु) तथा घातक (चुमुरिम्) डरपोकपन और (धुनिम्) अनवस्थिति के कारणों को (नि अस्वापयः) नितरां सुला दिया है।

["दभीति" पद द्वारा उपासक के "सात्त्विकभाव" को सूचित किया है। वह सत्याचारी है इसलिये दम्भ भावनाओं से रहित है। चुमुरि का अर्थ होता है "हिरन"। यह स्वभावतः डरपोक होता है। डरपोकपन तमोगुण का परिणाम है। इसलिये चुमुरि पद द्वारा "तमोगुण" को सूचित किया है। धुनि का अर्थ है कम्पन, अनवस्थिति, चित्त में स्थिरता का अभाव, चञ्चलता। इस द्वारा "रजोगुण" को सूचित किया है। "अस्वापयः" पद द्वारा तमोगुण और रजोगुण को नितरां सुला देने का वर्णन किया है। ऐसी स्वप्नावस्था कि जिससे तमोगुण और रजोगुण पुनः

जागरित न हो सकें। इस स्वप्नावस्था का वर्णन योगदर्शन में भी हुआ है। यथा:—"अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्" (योग द० २।४)। इसमें राग-द्वेष आदि वृत्तियों के प्रसुप्त हो जाने की अवस्था का वर्णन हुआ है। इन वृत्तियों की जागरित अवस्था को "उदार" कहा है।]

२४७. तव च्यौत्नानि वज्रहस्त तानि नव यत्पुरो नवतिं च सद्यः ।
निवेशने शततमाविवेषीरहं च वृत्रं नमुचिमुताहन् ॥५॥

(वज्रहस्त) हे न्यायवज्रधारी परमेश्वर ! (यत्) चूंकि (तव) आपने, (नवतिम्) धर्मकर्म से इन्कार करनेवाली (तानि) उन (नव पुरः) नौ पुरियों को, कोशों को, (सद्यः) शीघ्र (च्यौत्नानि) विनाशी कर दिया है, इसलिये (अहम्) मैं न (नमुचिम्) न छोड़नेवाले (वृत्रम्) पाप-वृत्र का (अहन्) हनन कर दिया है, और फलतः (निवेशने) मेरे शरीर-गृह में, शारीरिक कोशों में, आपने (शततमा) सैकड़ों सत्कर्म (आविवेषीः) प्रविष्ट कर दिये हैं।

[नवतिम्=न+वत्। नव पुरः=९ कोश। प्रायः ५ कोशों का वर्णन हुआ है। अन्नमयकोश, प्राणमयकोश, मनोमयकोश, आनन्दमय कोश, और विज्ञानमयकोश। अवान्तरभेद से इन कोशों को ९ भी कहा है। यथा:—"तस्येमे नव कोशा विष्टम्भा नवधा हिताः" (अथर्व० १३।४।(१)।१०)। ये ९ कोश हैं, (१) स्थूलशरीर; (२) स्थूलशरीर को रचनेवाले ५ भूत; (३) पंच तन्मात्राएं; (४) कर्मेन्द्रियां; (५) ज्ञानेन्द्रियाँ, (६) मन; (७) अहंकार; (८) बुद्धि; (९) चित्।

२४८. सना ता त इन्द्र भोजनानि रातहव्याय दाशुषे सुदासे ।
वृष्णे ते हरी वृषणा युनज्मि व्यन्तु ब्रह्माणि पुरुशाक वाजम् ॥६॥

(इन्द्र) हे परमेश्वर ! (रातहव्याय) जिसने अपने सर्वस्व को हव्य-रूप में आपके प्रति समर्पित कर दिया है, जो (दाशुषे) सदादानी, और (सुदासे) सात्त्विकदानी है, उसके लिये,—(ते) आप के (ता भोजनानि) वे योग्य पदार्थ (सना) सदा उपस्थित रहते हैं। हे परमेश्वर ! मैं उपासक (हरी) प्रत्याहार सम्पन्न अपने कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रियरूपी (वृषणा) शक्तिशाली अश्वों को, (वृष्णे ते) आनन्दरसवर्षी आप के लिये, (युनज्मि) योगविधि द्वारा आपके साथ युक्त करता हूं। (पुरुशाक) हे महाशक्तियों

वाले परमेश्वर ! (ब्रह्माणि) मेरी ब्राह्मी-स्तुतियां (वाजं व्यन्तु) सशक्त हो जांय। [परमेश्वर के नाम पर जो अपना सर्वस्व समर्पण कर देता है, उसके लिये प्रजा द्वारा प्रत्येक प्रकार की सेवाएं सदा उपस्थित रहती हैं।]

२४९. मा ते अस्यां सहसावन् परिष्टावघाय भूम हरिवः परादै ।
त्रायस्व नोऽवृकेभिर्वरूथैस्तव प्रियासः सूरिषु स्याम ॥७॥

(सहसावन्) हे पापों का पराभव करनेवाले ! (हरिवः) हे प्रत्याहार सम्पन्न इन्द्रियाश्वों के स्वामिन् ! (ते) आपकी (अस्याम्) इस (परिष्टौ) परिस्तुति में, (अघाय) पापों के वश में (मा भूम) नहीं हम होने पाते। (मा परादै) कृपया हमें पापरूपी शत्रुओं के वशीभूत न होने दीजिये, या इस सम्बन्ध में आप हमारा परित्याग न कीजिये ; अपितु (अवृकेभिः) हिंसा से बचानेवाली (वरूथैः) निज कवचों द्वारा (नः) हमारा (त्रायस्व) परित्राण कीजिये, ताकि (सूरिषु) आपके स्तोतृवर्ग में हम स्तोता भी (तव) आपके (प्रियासः स्याम) प्रिय बने रहें।

[परिष्टौ=परि+ष्टु(स्तुतौ) । वरूथैः=वरूथ=Anarmour, a coat A moil (आपटे), अर्थात् कवच, जो कि शरीर का आवरण करती है। वरूथ को वेद में वर्म भी कहा है। यथाः—"प्रजापतेरावृतो ब्रह्मणा वर्मणाहम्" तथा "परीतो ब्रह्मणा वर्मणाहम्" (अथर्व० १७।१।२७,२८)। इन मन्त्रों में ब्रह्म अर्थात् परमेश्वर और मन्त्रों को वर्म अर्थात् कवच कहा है। ब्रह्म अर्थात् परमेश्वर और मन्त्र उपासक की कवच बनकर, उसकी रक्षा करते हैं। अवृकेभिः ; परादै=वृक आदाने (भ्वादि), वृक, आदान करता है, भेड़ बकरी का। परादै=पर (शत्रु)+आदा। अर्थात् पापरूपी शत्रु हमारा आदान न करें. हम उनके वश में न होने पाएं। इस प्रकार "वृक और परादै", । इन दोनों शब्दों में "आदान" अर्थ समान है।

२५०. प्रियास इत् ते मघवन्नभिष्टौ नरो मदेम शरणे सखायः ।
नि तुर्वशं नि याद्वं शिशीह्यतिथिग्वाय शंस्यं करिष्यन् ।८॥

(मघवन्) हे धनपते ! (ते) आपके (इत्) ही (प्रियासः) प्यारे बनकर, (अभिष्टौ) आप की साक्षात् स्तुतियां करते हुए, (नरः) हम उपासक नर-नारियां, (सखायः) परस्पर सखा बनकर, (शरणे) आपकी शरण में (मदेम) आनन्दित रहें। (अतिथिग्वाय) अतिथिरूप में प्राप्त सद्गुरु की शरण में जानेवाले उपासक की (शंस्यम्) कीर्ति को (करिष्यन्) बढ़ाते हुये आपने, (तुर्वशम्) शीघ्र इन्द्रियों को वश में करनेवाले को,—ऐसे उपासक के प्रति (निशिशीहि) शिष्यरूप में प्रदान किया है, और (याद्वम्) अभ्यासमार्ग में प्रयत्नशील व्यक्ति को भी (निशिशीहि) ऐसे उपासक के प्रति शिष्यरूप में प्रदान किया है। [अभिष्टौ=अभि+ष्टुञ् स्तुतौ ।]

२५१. सद्यश्चिन्नु ते मघवन्नभिष्टौ नरः शंसन्त्युक्थशास उक्था ।
ये ते हवेभिर्वि पणीँरदाशन्नस्मान् वृणीष्व युज्याय तस्मै ॥९॥

(मघवन्) हे धनपते ! सांसारिक और आध्यात्मिक धन के स्वामिन् !, (उक्थशासः) सूक्तों द्वारा स्तुतियां करनेवाले (नरः) उपासक नेता लोग, (सद्यः चित् नू) शीघ्र ही अर्थात् अल्पायु में ही, (ते अभिष्टौ) आपकी स्तुतियों के निमित्त, (उक्था=उक्थानि) वैदिक सूक्तों को (शंसन्ति) गायन करने लगते हैं। (ये ते) जो आप के हम उपासक, (हवेभिः) आह्वान-पूर्वक, (पणीन्) स्तुतियां (वि अदाशन्) आपके प्रति समर्पित कर रहे हैं; उन (अस्मान्) हम उपासकों को, आप (वृणीष्व) वर लीजिये, स्वीकार कीजिये। ताकि (तस्मै) उस प्रसिद्ध (युज्याय) सायुज्य-मुक्ति को हम प्राप्त कर सकें।

[पणीन्=पण् स्तुतौ । यथा—पणते, पणस्यति, पणायति, पणायते=अर्चतिकर्मा (निघ० ३।१४)। अदाशन्=दाशृ दाने। वृणीष्व= यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः (कठ० १।२।२२) अर्थात् परमेश्वर जिसे वर लेता है, वह उपासक परमेश्वर को पा लेता है। युज्याय=सायुज्याय, अर्थात् योगविधि द्वारा परमेश्वर के साथ योग अर्थात् सम्बन्ध प्राप्त कर लेना। यथाः— "आत्मनात्मानमभि संविवेश" (यजु० ३२।११) ; अर्थात् जीवात्मा निज-आत्मस्वरूप से परमात्मा में प्रवेश पा जाता है। इस सायुज्य-मुक्ति का क्रम निम्नलिखित है। यथा—"तदपश्यत्, तदभवत्, तदासीत्" (यजु० ३२।१२); अर्थात् योगी पहले परमात्मा का दर्शन पाता है, फिर उसके दर्शन में तद्रूप हो जाता है, तल्लीन हो जाता है, तदनन्तर उसमें चिरस्थित हो जाता है। आसीत्=सम्भवतः आसीत (आस् उपवेशने)। यह चिर-स्थिति ही सायुज्य-मुक्ति है।

२५२. एते स्तोमा नरां नृतम तुभ्यमस्मद्र्यञ्चो ददतो मघानि ।
तेषामिन्द्र वृत्रहत्ये शिवो भूः सखा च शूरोऽविता च नृणाम् ॥१०॥

(नरांभृतम) हे नेताओं में सर्वश्रेष्ठ नेता ! (तुभ्यम्) आपके लिये (अस्मद्र्यञ्चः) हम उपासकों द्वारा भेंट किये गये (एते स्तोमाः) ये सामगान, हमें (मघानि) आध्यात्मिक ऐश्वर्य (ददतः) प्रदान करते हैं। (इन्द्र) हे परमेश्वर ! (तेषाम्) उन उपासकों के (वृत्रहत्ये) पाप-वृत्रों के हनन-कार्य में आप (शिवः) उनके लिये कल्याणकारी (भूः) हूजिये। (च) और (शूरः) आप पराक्रमकारी, (नृणाम्) उपासक नेताओं के, (सखा अविता) सहायक मित्र और रक्षक हूजिये।

२९३. नू इन्द्र शूर स्तवमान ऊती ब्रह्मजूतस्तन्वा वावृधस्व।
उप नो वाजान् मिमीह्युपस्तीन् यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥११॥

(शूर इन्द्र) हे पराक्रमी परमेश्वर ! (ब्रह्मजूतः) हमारी ब्राह्मी स्तुतियों द्वारा प्रेरित हुये आप, (स्तवानः) हमें जीवनमार्गों का उपदेश देते हुये, (तन्वा) अपनी सर्वत्र विस्तृत (ऊती) रक्षाओं द्वारा (नू वावृधस्व) हमें अवश्य बढ़ाइये। तथा (उपस्तीन्) आपके आश्रय में रहनेवाले (नः) हम उपासकों को (वाजान्) बल और शक्तियां (उप मिमीहि) प्रदान कीजिये। तथा हे उपासक नेताओ ! (मन्त्र १०) (यूयम्) आप सब, (नः) हम शिष्यरूप उपासकों की, (स्वस्तिभिः) कल्याणमार्गों द्वारा, (सदा पात) सदा रक्षा करते रहिये।

[मिमीहि=मी गतौ, उपगतान् कुरु।]

चतुर्थ अनुवाक समाप्त ॥

——०——

सूक्त ३८

१-३ इरम्बिठिः, ४-६ मधुच्छन्दाः। इन्द्रः। गायत्री।

२९४. आ याहि सुषुमा हि त इन्द्र सोमं पिबा इमम्।
एदं बर्हिः सदो मम ॥१॥

(इन्द्र) हे परमेश्वर ! (आ याहि) आइये, दर्शन दीजिये। (हि) निश्चय से (ते) आपके लिये (सोमम्) भक्तिरस का (सुषुम) हमने निष्पादन किया हुआ है। (इमम्) इस भक्तिरस को (पिब) स्वीकार कीजिये, और (मम) मेरे (इदं बर्हिः) इस हृदयासन पर (आ सदः) आ विराजिये।

२९५. आ त्वा ब्रह्मयुजा हरी वहतामिन्द्र केशिना।
उप ब्रह्माणि नः शृणु ॥२॥

(इन्द्र) हे परमेश्वर ! (ब्रह्मयुजा) आप ब्रह्म के साथ मिला देने वाले, (केशिना) और आपके स्वरूप पर प्रकाश डालनेवाले, (हरी) मनोहारी ऋक् की स्तुतियां, तथा सामवेद के सामगान, (त्वा) आपको (आ वहताम्) हमें प्राप्त करा दें। हे परमेश्वर ! तब आप (नः) हमारी (ब्रह्माणि) ब्राह्मी-स्तुतियों और ब्राह्म-सामगानों को, (उप) हमारे हृदयों में साक्षात् उपस्थित होकर, (शृणु) सुनिये।

२९६. ब्रह्माणस्त्वा वयं युजा सोमपामिन्द्र सोमिनः।
सुतावन्तो हवामहे ॥३॥

(इन्द्र) हे परमेश्वर ! (सोमिनः) भक्तिरसवाले, (सुतावन्तः) अपनी सन्तानों समेत (वयम्) हम (ब्रह्माणः) ब्रह्मोपासक, (युजा) योगविधियों द्वारा, (सोमपाम् त्वा) भक्तिरस स्वीकार करनेवाले आपको (हवामहे) पुकार रहे हैं।

२९७. इन्द्रमिद् गाथिनो बृहदिन्द्रमर्केभिरर्किणः।
इन्द्रं वाणीरनूषत ॥४॥

(गाथिनः) सामगान करनेवाले सामगानों द्वारा, (अर्किणः) ऋग्वेदी (अर्केभिः) ऋग्वेद की स्तुतियों द्वारा, (इन्द्रम् इत्) परमेश्वर का ही (बृहत् अनूषत) महास्तवन करते हैं, और (वाणीः) यजुर्वेद और अथर्ववेद की वाणियां भी (इन्द्रम् अनूषत) परमेश्वर का ही महास्तवन करती हैं।

२९८. इन्द्र इद्धर्योः सचा संमिश्ल आ वचोयुजा।
इन्द्रो वज्री हिरण्ययः ॥५॥

(इन्द्रः इत्) परमेश्वर ही (हर्योः) ऋग्वेद की स्तुतियों और सामगानों में, (आ) पूर्णतया और (सम्) सम्यक्रूप में (सचा मिश्लः) समवाय सम्बन्ध से मिश्रित हुआ हुआ है, चूंकि (वचोयुजा) ऋक् और साम का जोड़ा परमेश्वर का ही प्रवचन करता है। (इन्द्रः) परमेश्वर (वज्री) न्यायवज्रधारी है, (हिरण्ययः) हिरण्यसदृश बहुमूल्य सम्पत्तिवाला है, या सब का हित करनेवाला तथा रमणीयरूपवाला है।

[हर्योः=ऋक्सामे वा इन्द्रस्य हरी(श० ब्रा० ४।४।३।६)। सचा=सच् समवाये। मानो ऋग्वेद की स्तुतियों और सामवेद के सामगानों के साथ परमेश्वर का समवाय सम्बन्ध है। इसके द्वारा यह सूचित किया है कि उपासना में चाहे किसी भी वैदिक दैवतनाम द्वारा स्तुति या सामगान किया जाये,वह स्तुति और सामगान परमेश्वर के सम्बन्ध में ही समझनी चाहिये। जैसे कि अथर्ववेद में कहा है कि—"**यस्तं न वेद किमृचा करिष्यति**"(९।१०।१८) अर्थात् "ऋचाओं के साथ उसका कोई मतलब नहीं, जो कि ऋचाओं के वर्णनों में परमेश्वर को ओत-प्रोत हुआ नहीं जानता"। इसलिये उपासना में ऋक्-साम को परमेश्वर का प्रवचनकर्त्ता कहा है। साम और ऋचा का परस्पर सम्बन्ध ऐसा है, जैसा कि पति और पत्नी का। पति के विना पत्नी में पत्नीत्व नहीं, और पत्नी के विना पति में पतित्व नहीं। इसी प्रकार गीति द्वारा की गई उपासना में ऋक् और साम का परस्पर सम्बन्ध है। गान विना ऋक् के सम्भव नहीं; और ऋक् की शोभा और प्रभाविकता गान पर निर्भर है। इसी लिये परमेश्वर के प्रवक्ता के रूप में ऋक् और साम का कथन किया है। वस्तुतः चारों वेद साक्षात् और परम्परया परमेश्वर के प्रवक्ता हैं। अथवा ऐसे स्थलों में ऋक् का अभिप्राय है छन्दः सामान्य, और साम का अभिप्राय है गीतिस्वर सामान्य। छन्द और स्वर के परस्पर मेल से ही "गायन" का स्वरूप बनता है। इस दृष्टि से "वचोयुजा" का अर्थ होगा,। कि ये दोनों "वचन" अर्थात् "छन्द और स्वर" आपस में "युजौ" अर्थात् परस्पर सम्बद्ध हैं।]

अथवा

(वचोयुजा) जब कर्मेन्द्रियां और ज्ञानेन्द्रियां, वैदिक वचनों के अनुसार योगयुक्त हो जाती हैं, योग की साधना अर्थात् प्रत्याहार से युक्त हो जाती हैं, तब (हर्योः) प्रत्याहार-सम्पन्न कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों के (सचा) साथ, (इन्द्रः) परमेश्वर (आ संमिश्लः) मिश्रित हो जाता है। तब (इन्द्रः) परमेश्वर (वज्री) मानो वज्रधारी होकर उपासक के विघ्नों का हनन कर देता है, इस प्रकार उसके लिये (हिरण्ययः) हितकर और रमणीय हो जाता है।

[संमिश्लः=जैसे पानी में नमक डाला जाय तो नमक पानी में संमिश्रित होकर पानी को नमकीन बना देता है, इसी प्रकार जब परमेश्वर की कृपा हो जाती है तब इन्द्रियां परमेश्वरीय सत्ता द्वारा प्रेरित होने

लगती हैं, और इन्द्रियों को अपने ऐन्द्रियिक-विषयों में, सर्वत्र तत्सम्बद्ध परमेश्वरीय-सत्ता का भान होने लगता है। यह परमेश्वर का इन्द्रियों के साथ संमिश्रण है।]

२५९. इन्द्रो॑ दी॒र्घाय॒ चक्ष॑स॒ आ सूर्यं॑ रोहयद् दि॒वि।
वि गोभि॒रद्रि॑मैरयत् ॥६॥

(इन्द्रः) परमेश्वर ने (दीर्घाय) दूर-दूर तक (चक्षसे) देखने के लिये, (दिवि) द्युलोक में, (सूर्यम्) सूर्य का (आ रोहयत्) आरोहण किया है, और (गोभिः) सूर्य की किरणों द्वारा (अद्रिम्) मेघ को (वि ऐरयत्) विविध स्थानों में प्रेरित किया है।

[अद्रि=मेघ(निघ० १।१०)। आध्यात्मिक दृष्टि में 'दिव्" का अर्थ है मूर्धा, मस्तिष्क। यथा "**दिवं यश्चक्रे मूर्धानम्**"(अथर्व० १०।७।३२); तथा "**शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत**"(यजु० ३१।१३)। सूर्यम्=सहस्रारचक्र। सहस्रारचक्र मस्तिष्क में स्थित है। तालु के ऊपर ब्रह्मरन्ध्र है,और ब्रह्मरन्ध्र के ऊपर सहस्रारचक्र है। सहस्रारचक्र को सहस्रदल कमल भी कहते हैं। इस कमल की सहस्र पंखड़ियां हैं। ये नाना रंगोंवाले प्रकाशों से प्रकाशित हैं। सहस्रारचक्र ज्ञानवाहिनी सूक्ष्म नाड़ियों का गुच्छक है। ध्यानाभ्यास से इन नाड़ियों में रोशनी होने लगती है। इसलिये सहस्रारचक्र आध्यात्मिक सूर्यरूप है,जो कि मस्तिष्करूपी द्युलोक में स्थित है। यह शारीरिक सब शक्तियों का केन्द्र है। **दीर्घाय चक्षसे**—सहस्रारचक्र या सहस्रदल कमल के खिलजाने पर सूक्ष्म, व्यवहित तथा दूरस्थ पदार्थों का प्रत्यक्षदर्शन होने लगता है। तब चित्त में सर्वज्ञातृत्वशक्ति उत्पन्न हो जाती है, अर्थात् योगी जिसे जानना चाहे उसे ध्यानवृत्ति से जान लेता है। इस वर्णन "दीर्घाय चक्षसे" द्वारा हुआ है। अर्थात् इस दिव्यदृष्टि द्वारा देश काल से व्यवहित वस्तुओं का भी परिज्ञान होने लगता है।

गोभिः—इसका अभिप्राय है सहस्रारचक्र की "प्रकाशमयी किरणें"। "गो" का अर्थ किरणें भी होता है।

अद्रिम्—अद्रि का अर्थ है, मेघ। जैसे मेघ से वर्षा होती है, वैसे मस्तिष्क से भी वर्षा होती रहती है। मस्तिष्क के दो गोलार्धों में भरा एक तरल "द्रव" प्रतिक्षण रिस रिस कर समस्त मस्तिष्क को स्निग्ध रखता है। वही तरल "द्रव" सुषुम्णा-नाल में चूता रहता है। तथा वही

तरल "द्रव" कण्ठगत "काक" अर्थात् "UVULA" के समीप विद्यमान "कपाल महाछिद्र" से भी चूता रहता है। इसे मेघवर्षा कहते हैं। नीरोगावस्था में यह तरल "द्रव" जलवत् स्वच्छ, शुभ, तथा स्वाद में मधुर होता है, परन्तु इसमें यत्किचित् चरपड़ाहट भी होती है। योगी लोग इसका पान करते हैं। इसे अमृत तथा अमर वारुणी भी कहते हैं। (देखो—"पातञ्जलयोगप्रदीप" श्री स्वामी ओमानन्द रचित; तथा योगी श्री जगन्नाथ पथिक रचित "संध्यायोग")।]

सूक्त ३९

१ मधुछन्दाः, २-५ गोषूक्ती, अश्वसूक्ती । इन्द्रः । गायत्री ।

२६०. इन्द्रं वो विश्वतस्परि हवामहे जनेभ्यः ।
अस्माकमस्तु केवलः ॥१॥

(वः जनेभ्यः) तुम सब जनों के सुख के लिये, हम उपासक (विश्वतः परि) विश्वपरिगत अर्थात् विश्वव्यापी (इन्द्रम्) परमेश्वर से (हवामहे) प्रार्थना करते हैं। वह परमेश्वर (अस्माकम्) हम सब का (केवलः) एकमात्र आश्रय हो।

२६१. व्य१न्तरिक्षमतिरन्मदे सोमस्य रोचना ।
इन्द्रो यदभिनद् वलम् ॥२॥

(इन्द्रः) परमेश्वर ने (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष को (वि अतिरत्) विशेषरूप में फैलाया है, और द्युलोक में (रोचना) चमकते सूर्य, नक्षत्र, तारागणों को फैलाया है, तथा (सोमस्य मदे) भक्तिरस से प्रसन्न होकर (यत् वलम्) जो मेरा अज्ञानावरण था, उसका (अभिनत्) भेदन परमेश्वर ने किया है। [रोचना=रोचनानि।]

२६२. उद् गा आजदङ्गिरोभ्य आविष्कृण्वन् गुहा सतीः ।
अर्वाञ्चं नुनुदे वलम् ॥३॥

(अङ्गिरोभ्यः) प्राणायामाभ्यासियों के लिये परमेश्वर ने (गाः) ज्ञान की किरणों को (उद् आजत्) उद्‌बुद्ध किया है, अर्थात् (गुहा सतीः) हृदय की गुफा में छिपी ज्ञान की किरणों को (आविष्कृण्वन्) परमेश्वर ने

प्रकट कर दिया है, (वलम्) और ज्ञानकिरणों पर पड़े आवरण को, रजस् और तमस् को, मानो (अर्वाञ्चं नुनुदे) उसने नीचे पटक दिया है।

[प्राणायाम के परिपक्व हो जाने पर, ज्ञानप्रकाश पर पड़ा आवरण, क्षीण हो जाता है। "ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्" (योगदर्शन २।५२)।]

२६३. इन्द्रेण रोचना दिवो दृळ्हानि दृंहितानि च ।
स्थिराणि न पराणुदे ॥४॥

(इन्द्रेण) परमेश्वर ने (दिवः) मस्तिष्क के सहस्रारचक्र में प्रकट हुई (दृळ्हानि रोचना) दृढ़ दीप्तियों को (दृंहितानि) और सुदृढ़ कर दिया है, (न पराणुदे) अब ये दीप्तियां हटाई नहीं जा सकतीं।

[अधिक व्याख्या के लिये देखो मन्त्र संख्या (१७५)।]

२६४. अपामूर्मिर्मदन्निव स्तोम इन्द्राजिरायते ।
वि ते मदा अराजिषुः ॥५॥

(अपाम्) जलों की (ऊर्मिः) तरङ्गों के (इव) सदृश (स्तोमः) सामगान की तरङ्गें, (इन्द्र) हे परमेश्वर ! (मदन्) आपको प्रसन्न करती हुई (अजिरायते) नदी के सदृश प्रवाहित हो रही हैं, और (मदाः ते) मुझ उपासक में मस्ती देनेवाले आपके आनन्दरस (वि) विशेषरूप में (अराजिषुः) मुझ उपासक पर राज्य कर रहे हैं।

[व्याख्या के लिये देखो मन्त्रसंख्या (१७६)।]

सूक्त ४०

१-३ मधुच्छन्दाः । १ इन्द्रः, २-३ मरुतः । गायत्री ।

२६५. इन्द्रेण सं हि दृक्षसे संजग्मानो अबिभ्युषा ।
मन्दू समानवर्चसा ॥१॥

हे उपासक !, (अबिभ्युषा) स्वयं निर्भय तथा भय से रहित करनेवाले (इन्द्रेण) परमेश्वर के साथ (संजग्मानः) संगम-प्राप्त तू, (सम् हि दृक्षसे) तत्सदृश सा दिखाई दे रहा है। (मन्दू) तुम दोनों संतृप्त हो, (समानवर्चसा) समान प्रकार की सात्त्विक-दीप्ति से सम्पन्न हो।

२६६. अनवद्यैरभिद्युभिर्मखः सहस्वदर्चति ।
गणैरिन्द्रस्य काम्यैः ॥२॥

(अनवद्यैः) पापरहित अर्थात् पवित्र, (अभिद्युभिः) द्युतियों से सम्पन्न, तथा (इन्द्रस्य काम्यैः) परमेश्वर को प्रिय लगनेवाले (गणैः) उपासक गणों द्वारा सम्पन्न (मखः) उपासना-यज्ञ, (सहस्वत्) बल प्राप्त करता हुआ, (अर्चति) परमेश्वर की अर्चना करता है।

[अर्थात् पवित्रात्मा, परमेश्वर के प्रिय हो जाते हैं, और उनके उपासनायज्ञ शीघ्र फलदायक हो जाते हैं।]

२६७. आदह स्वधामनु पुनर्गर्भत्वमेरिरे ।
दधाना नाम यज्ञियम् ॥३॥

(आत्) उपासना यज्ञों की सफलता के पश्चात्, (अह) निश्चय से ये उपासक, (स्वधाम्) मोक्षरूपी अन्न का आस्वादन करते हैं। (अनु) इस आस्वादन के पश्चात् वे उपासक, (पुनः) फिर (गर्भत्वम् एरिरे) मातृगर्भों में आते हैं। और जन्म लेकर (यज्ञियं नाम) पूजनीय परमेश्वर के (नाम) नाम का (दधानाः) जप करने लगते हैं।

[**स्वधा=अन्नम्** (निघ० २।७), मोक्षरूपी अन्न। मोक्षरूपी अन्न को स्वधा इसलिये कहते हैं कि यह अन्न, प्राकृतिक अन्न के सदृश न होकर केवल आत्मा के निज स्वरूप द्वारा प्राप्य है। स्वधा=स्व+धा (धारक)। (सूक्त ४०) में **मरुतः** २-३ का अभिप्राय है—प्राणायामाभ्यासी उपासना-यज्ञ के ऋत्विक्; **मरुतः=ऋत्विजः** (निघ० ३।१८)।]

सूक्त ४१

१-३ गोतमः । इन्द्रः । गायत्री ।

२६८. इन्द्रो दधीचो अस्थभिर्वृत्राण्यप्रतिष्कुतः ।
जघान नवतीर्नव ॥१॥

(इन्द्रः) परमेश्वर (अप्रतिष्कुतः) जो कि किसी भी विरोधी शक्ति द्वारा प्रतिरुद्ध नहीं हो सकता, (अस्थभिः) अपनी परास्त कर देनेवाली शक्तियों, (दधीचः) ध्यानी के (नवतीः) न-वाले (नव वृत्राणि) ९ वृत्रों का (जघान) हनन कर देता है।

[अप्रतिष्कुतः=अ+प्रति+कुतः । अथवा—अ+प्रति+स्कुञ् (विरोधे)+क्त। अस्थभिः=अस् (प्रक्षेपे)। दधीचः="दध्यङ्" पद की व्याख्या में निरुक्त—**"प्रत्यक्तो ध्यानमिति वा, प्रत्यक्तमस्मिन् ध्यानमिति वा"** (१२।४।३४), अर्थात् ध्यानप्राप्त योगी। नवतीः=न (इन्कार, नास्तिकता)+वतीः, परमेश्वर को न माननेवाले। नव=९ (नौं), अर्थात् ५ ज्ञानेन्द्रियां और अन्तःकरण चतुष्टय, अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार। इन नौं में जब तक रजस् और तमस् का बाहुल्य होता है, तब तक ये नौं वृत्ररूप होते हैं, आध्यात्मिक सच्चाई का आवरण किये रहते हैं। ईश्वर-प्रणिधान द्वारा, ध्यानी-योगी जब सत्त्वप्रधान बन जाता है, तब ध्यानी की वृत्ररूप ये ९ शक्तियां देवकोटि की हो जाती हैं। परमेश्वर की कृपा से ध्यानी की नौं शक्तियां, जो कि पहिले नास्तिकता धारण किये वृत्ररूप थीं, अब आस्तिक होकर परमेश्वरीय सत्ता का अनुभव करके देव बन जाती हैं, मानो कि परमेश्वर ने इनके वृत्ररूपों का हनन कर दिया है।]

२६९. इच्छन्नश्वस्य यच्छिरः पर्वतेष्वपश्रितम् ।
तद् विदच्छर्यणावति ॥२॥

(अश्वस्य) अश्व का (यत्) जो (शिरः) सिर, (पर्वतेषु) पर्वतों में (अपश्रितम्) आश्रित है, (तत्) उसे, चाहते हुये उपासक ने (शर्यणा-वति) शर्यणावत् [स्रोत] में (विदत्) प्राप्त किया।

[**अश्वस्य**—अश्व से अभिप्राय यहां "मन" का है। मन शक्तिशाली है, इसलिये मन को 'अश्व' कहा है। श्वेताश्वतरोपनिषद् में मन को अश्व से उपमित किया है। यथा:—**"प्राणान् प्रपीड्येह स संयुक्तचेष्टः, क्षीणे प्राणे नासिकयोच्छ्वसीत। दुष्टाश्वयुक्तमिव वाहमेनं विद्वान्मनो धारयेताप्रमत्तः"** (अ० २, मं० ९)॥ कई विद्वानों ने श्वेताश्वतर शब्द के "श्वेताश्व" का अर्थ किया है—"सात्विकमन"।

शिरः—अश्व अर्थात् मन का सिर है—बुद्धि। शरीर में प्रेरणा मन से मिलती है, और मन में प्रेरणा बुद्धि से मिलती है। इसलिये बुद्धि को मन का सिर कहा है। उपनिषदों में मन को प्रग्रह अर्थात् लगाम, और बुद्धि को सारथि भी कहा है। सारथि के हाथ में जुते-घोड़ों की लगाम होती है। बुद्धि के हाथ मन की लगाम होती है। यथा—**बुद्धिं तु सारथिं विद्धि**

मनः प्रग्रहमेव च" (कठो० १ । ३ । ३) । इस अश्व अर्थात् मन का सिर है, बुद्धि ।

पर्वतेषु—सात्विक बुद्धि पर्वतों में अभ्यास द्वारा प्राप्त होती है । यथा—**"उपह्वरे गिरीणां सङ्गमे च नदीनाम् । धिया विप्रो अजायत"** (यजु० २६।१५) । इस मन्त्र में गिरि और धी का परस्पर सम्बन्ध दर्शाया है । इसलिये "अश्व के सिर" अर्थात् बुद्धि का वर्णन "पर्वतेष्वपश्रितम्" इन शब्दों द्वारा किया है । "अपश्रितम्" में "अप" का अर्थ है—"हटकर", और "श्रितम्" का अर्थ है—"आश्रय पाया हुआ" । यह शब्द शिर अर्थात् बुद्धि का विशेषण है । उपासना-प्रकरण में "सात्त्विक-योगजन्य बुद्धि की अपेक्षा है, रजस्तमोमयी बुद्धि की नहीं । सात्विक-योगजन्य बुद्धि संसार के झंझटों से हटकर पर्वत आदि एकान्तदेशों में उपासना द्वारा प्राप्त होती है । अप+श्रितम्,—का यही अभिप्राय है ।

शर्यणावत्—हृदय शर्यणावत् है । वैदिक साहित्य में "शर्यणावत्" को "सरः" कहा है, अर्थात् बहता हुआ स्रोत । यथाः–**"शर्यणावच्च वै नाम कुरुक्षेत्रस्य जघनार्द्धे सरः स्यन्दते"** । इस कर्मक्षेत्र शरीर में हृदय है—"रक्त का स्रोत", जिनमें रक्तरूपी जल सदा प्रवाहित हो रहा है । यह "हृदय-सरः" शर्यणावत् है, विशीर्ण हो जानेवाला स्रोत है । हृदय में जब परमेश्वर का साक्षात्कार हो जाता है, तब यह शर्यणावत्-स्रोत विशीर्ण हो जाता है, और साथ ही संशय, तर्क-वितर्क, कर्म और कर्माशय भी विशीर्ण हो जाते हैं । इस सम्बन्ध में कहा है कि—

भिद्यते हृदयग्रन्थिः छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥

(मुण्डक २।२।८)॥]

२७०. अत्राह॒ गोर॑ त॒ नाम॒ त्वष्टु॑रपी॒च्य॑म् ।
इ॒त्था च॒न्द्रम॑सो गृ॒हे ॥३॥

योगिजनों ने (अत्र अह) इस ही (चन्द्रमसः गृहे) चन्द्रमा के घर में, (गोः) गौओं का (नाम) नत होना (अमन्वत) माना है, और (त्वष्टुः) त्वष्टा का (अपीच्यम्) अन्तर्हित होना भी माना है, (इत्था) यह सत्य है, यथार्थ है ।

[**चन्द्रमसो गृहे**—यजुर्वेद में मन को चन्द्रमा से रूपित किया है ।

यथा—**"चन्द्रमा मनसो जातः"** (३१।१२), अर्थात् चन्द्रमा मन से प्रसिद्ध है । इस मन का घर है हृदय । यथा—**"हृदये चित्तसंवित्"** (योग ३।३४), अर्थात् हृदय में चित्त का संवेदन अर्थात् ज्ञान होता है ।

गोः अमन्वत—योगिजन, इस हृदय-गृह में, गौओं अर्थात् इन्द्रियों का "नमन" अर्थात् प्रवेश करने का उपदेश देते हैं, और इसी घर में मानसिक ध्यान का भी निर्देश करते हैं । यथा—**"हृदि इन्द्रियाणि मनसा संनिरुध्य । ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान् स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि"** (श्वेता० उप० २।८) । अर्थात् हृदय में "मनःसमेत इन्द्रियों" का प्रवेश करके, ब्रह्मध्यानरूपी नौका द्वारा, इन्द्रियरूपी स्रोतों को तर जाय ।

त्वष्टुः अपीच्यम्—इसी हृदय में जगत् के रूपों और आकृतियों का कारीगर परमेश्वर अन्तर्हित है, छिपा हुआ है । इस प्रकार मन और इन्द्रियों को हृदय में स्थित करके, हृदय में छिपे परमेश्वर को, ओम् के जाप द्वारा साक्षात्कार करने का उपदेश मन्त्र में किया गया है । **गौः=इन्द्रियां** (उणादि कोष २।६७), वैदिक पुस्तकालय, अजमेर । यथा—**गच्छति यो यत्र यथा वा सा गौः= पशुः, इन्द्रियम्, सुखम्, किरणः, वज्रम्, चन्द्रमा, भूमिः, वाणी, जलं वा"** । **इत्था—सत्यम्** (निघ० ३।१०) ।]

सूक्त ४२

१-३ कुरुस्तुतिः । इन्द्रः । गायत्री ।

२७१. वाच॑म॒ष्टाप॑दीम॒हं नव॑स्रक्तिमृत॒स्पृश॑म् ।
इन्द्रा॒त् परि॑ त॒न्वं॑ ममे ॥१॥

(अष्टापदीम्) आठ प्रकार के पदोंवाली, (नवस्रक्तिम्) नौ प्रकार के मुख्य अलंकारोंवाली, (ऋतस्पृशम्) सत्य नियमों का वर्णन करनेवाली, (तन्वम्) विस्तृत (वाचम्) वेदवाणी को, (अहम्) मैंने (इन्द्रात्) परमेश्वर से (परिममे) प्राप्त किया है, और उसके रहस्यों को जाना है ।

[**अष्टापदीम्**[1]—वेदमन्त्र ८ प्रकार के पदोंवाले हैं । नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात ये चार मुख्य विभाग हैं पदों के । नाम दो प्रकार के हैं,

१. "अष्टापदीम्" का अभिप्राय यह भी हो सकता है कि "जिसमें पद व्याप्त हैं" । यथा "पदप्रकृतीनि सर्वचरणानां पार्षदानि" (निरुक्त १।६।१७) ।

जातिवाचक तथा व्यक्तिवाचक। जातिवाचक, यथा—वृक्ष, नदी, पर्वत आदि। व्यक्तिवाचक, यथा—ओ३म्, हिरण्यगर्भ, विराट् आदि। आख्यात दो प्रकार के हैं—परस्मैपद तथा आत्मनेपद। उपसर्ग एक प्रकार के, तथा निपात तीन प्रकार के हैं। यथा— उपमार्थ, कर्मोपसंग्रहार्थ, तथा पदपूरण (निरु० १।२।४)।

नवक्तिम्—नौ या नये-नये अलंकारोंवाली। यथा—उपमा, रूपक आदि।

[**तन्वम्**=तनु विस्तारे। वेदवाणी ऋग्वेदादि के मन्त्रों में अधिक विस्तृत है।]

२७२. अनु त्वा रोदसी उभे ऋक्षमाणमकृपेताम् ।
इन्द्र यद् दस्युहाभवः ॥२॥

(इन्द्र) हे परमेश्वर! आपने (यद्) चूंकि (दस्युहा अभवः) हम उपासकों के उपक्षयकारी काम आदि का हनन कर दिया है, इसलिये (ऋक्षमाणं त्वा) हनन करते हुये आपके (अनु) अनुकल होकर, (उभे) दोनों प्रकार के (रोदसी) अर्थात् उपासक नारियां और नर (अकृपेताम्) सामर्थ्ययुक्त हो गये हैं।

[**रोदसी**=द्युलोक और पृथिवीलोक, तथा पुरुष और स्त्री। यथा—"द्यौरहं पृथिवी त्वम् तावेव विवहावहै" (अथर्व० १४।२।७१)। ऋक्षमाणम् के स्थान में सामवेद में 'स्पर्धमानम्' पाठ है। अभिप्राय हनन का प्रतीत होता है। अकृपेताम्=कृपू सामर्थ्ये।]

२७३. उत्तिष्ठन्नोजसा सह पीत्वी शिप्रे अवेपयः ।
सोममिन्द्र चमू सुतम् ॥३॥

(इन्द्र) इन्द्रियों के अधिष्ठाता हे जीवात्मन्! (चमू सुतम्) अपने सिर से लेकर पैरों तक में प्रकट हुये। (सोमम्) भक्तिरस को (पीत्वी) पीकर, (ओजसा सह) अपनें आध्यात्मिक ओज के साथ (उत्तिष्ठन्) उत्थान अर्थात् उन्नति करते हुयें तूने (शिप्रे) अध्यात्म-द्वेषी व्यक्तियों के चेहरों को (अवेपयः) कम्पित कर दिया है।

[**चमू**=द्युलोक तथा पृथिवीलोक। अध्यात्म में सिर तथा पैर। 'शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत। पद्भ्यां भूमिः' (यजु० ३१।१३)।]

सूक्त ४३

१-३ त्रिशोकः। इन्द्रः। गायत्री।

२७४. भिन्धि विश्वा अप द्विषः परि बाधो जही मृधः ।
वसु स्पार्हं तदा भर ॥१॥

हे परमेश्वर! (विश्वाः) सब प्रकार की (द्विषः) हमारी द्वेष-भावनाओं को (भिन्धि) छिन्न-भिन्न कर दीजिये, (अप) और उन्हें हम से अलग कर दीजिये। (बाधः) सब विघ्न-बाधाओं को (परि) पूर्ण-रूप से (अप) हमसे अलग कर दीजिये। देवासुर-संग्राम में (मृधः) संग्राम-कारी कामादि शत्रुओं का (जहि) हनन कर दीजिये। (स्पार्हं तत् वसु) स्पृहणीय वह मोक्ष-धन (आ भर) हमें प्राप्त कराइये।

[**बाधः**=योगभ्यास में बाधाओं अर्थात् विक्षेपों को योगदर्शन में "अन्तराय" कहा है। इन अन्तरायों के कारण चित्त विक्षिप्त हो जाता है। ओ३म् का जप तथा परमेश्वरीय भावनाओं द्वारा ये अन्तराय हट जाते हैं। ये अन्तराय निम्नलिखित हैं। यथा—व्याधि, स्त्यान (चित्त का भारीपन), संशय, प्रमाद (समाधि के साधनों का अनुष्ठान न करना), आलस्य, अविरति (विषयों से वैराग्य का न होना), भ्रान्तिदर्शन, अलब्ध-भूमिकत्व (किसी भी समाधि-भूमि तक न पहुंच पाना), अनवस्थितत्व (चित्त की चञ्चलता), (योग० १।३०-३२)।]

२७५. यद् वीलाविन्द्र यत् स्थिरे यत् पर्शाने पराभृतम् ।
वसु स्पार्हं तदा भर ॥२॥

(इन्द्र) हे परमेश्वर! (वीलौ=वीडौ) बलवान् वीर में (यत् वसु) आपने जो वीरता-धन (पराभृतम्) उत्कर्षरूप में भरा है, (स्थिरे) स्थिरचित्तवाले योगी में (यत्) जो योग-सम्पत् आपने उत्कर्षरूप में भर दी है, (पर्शाने) मेघ में (यत्) आपने जो वर्षणरूपी धन भरा है,—(स्पार्हं तद् वसु) स्पृहणीय वे धन (आ भर) मुझ में भी भर दीजिये।

[**पर्शानः**=मेघः (निघ० १।१०)। उपासक, परमेश्वर से अपने जीवन में वीरता, स्थिरचित्तता, और परोपकार भावनाओं की प्रार्थना करता है।]

२७६. यस्य ते विश्वमानुषो भूरेर्दत्तस्य वेदति ।
वसु स्पार्हं तदा भर ॥३॥

(विश्वमानुषः) सभी मनुष्य, (ते) आपके (यस्य) जिस (भूरेः दत्तस्य) भूरिदान को (वेदति) जानते हैं (तद्) वह (स्पार्हं वसु) स्पृहणीय भूरिदान अर्थात् महादान हमें (आ भर) प्राप्त कराइये ।

[भूरिदान=वेदज्ञानरूपी महादान । यथा—"सर्वेषामेव दानानां ब्रह्मदानं (वेदज्ञान का दान) विशिष्यते" ।]

सूक्त ४४

१-३ इरिम्बिठिः । इन्द्रः । गायत्री ।

२७७. प्र सम्राजं चर्षणीनामिन्द्रं स्तोता नव्यं गीर्भिः ।
नरं नृषाहं मंहिष्ठम् ॥१॥

(चर्षणीनाम् सम्राजम्) सब मनुष्यों के सम्राट्, (नव्यम्) एक मात्र स्तुतियोग्य, (नरम्) जगन्नायक, (नृषाहम्) मानुष नेताओं से सर्वोत्कृष्ट, (मंहिष्ठम्) महादानी (इन्द्रम्) परमेश्वर की ही, (गीर्भिः) वैदिक वाणियों द्वारा (प्र स्तोत) भूरि-भूरि स्तुतियां किया करो ।

२७८. यस्मिन्नुक्थानि रण्यन्ति विश्वानि च श्रवस्या ।
अपामवो न समुद्रे ॥२॥

(अपाम् समुद्रे) जलभरे समुद्र में (न) जैसे जलचर प्राणी (अवः) रक्षा पाते हैं, वैसे (यस्मिन्) जिस परमेश्वर में (श्रवस्या) श्रवण-मनन योग्य तथा (उक्थानि) प्रवचनयोग्य (विश्वानि) सब सूक्तियां अर्थात् वैदिक सूक्त (रण्यन्ति) रमण करते हैं ॥२॥

२७९. तं सुष्टुत्या विवासे ज्येष्ठराजं भरे कृत्नुम् ।
महो वाजिनं सनिभ्यः ॥३॥

(तम्) उस (ज्येष्ठराजम्) महाराजाधिराज, (भरे) देवासुर-संग्राम में (कृत्नुम्) सहायकर्त्ता, (महः) पूजनीय तथा ज्योतिर्मय, (वाजिनम्) बलशाली परमेश्वर की (सुष्टुती) उत्कृष्ट स्तुतियों द्वारा (आ विवासे) मैं परिचर्या करता हूं, (सनिभ्यः) ज्ञानदाता गुरुओं से अध्यात्म-शिक्षा पाकर ॥३॥ [सनिभ्यः=षणु दाने ।]

सूक्त ४५

१-३ शुनःशेपः (देवरातः) । इन्द्रः । गायत्री ।

२८०. अयमु ते समतसि कपोत इव गर्भधिम् ।
वचस्तच्चिन्न ओहसे ॥१॥

हे परमेश्वर ! (अयम्) यह उपासक (उ) निश्चय से (ते) आप का है । (समतसि) इसके साथ संगत हूजिये, (इव) जैसे कि (कपोतः) कबूतर (गर्भधिम्) गर्भधारण की इच्छावाली कबूतरी के साथ संगत होता है । (नः) हमारे (तत् चित्) इन (वचः) प्रार्थना-बचनों को (ओहसे) स्वीकार कीजिये ।

[जैसे "गर्भधिम्" कबूतरी जब गर्भ धारणा की उग्र कामनावाली हो जाती है, तब कबूतर उसके साथ संगत हो जाता है, तो हे परमेश्वर ! हम भी तो आपके संगम की उग्र कामनावाले हैं, और आपके ही हैं, तो आप हमारे साथ संगत क्यों नहीं हो रहे ? कृपया संगत हूजिये, दर्शन दीजिये, हमारी उग्र कामना को सफल कीजिये । यह हमारी प्रार्थना है)।]

२८१. स्तोत्रं राधानां पते गिर्वाहो वीर यस्य ते ।
विभूतिरस्तु सूनृता ॥२॥

(राधानां पते) हे आराधनारूपी धनों के रक्षक !, (गिर्वाहः) हे वेदवाणियों का वहन करनेवाले !, (वीर) हे विशिष्ट प्रेरणाओं के दाता !, (यस्य ते) जिस आपका (स्तोत्रम्) वैदिक स्तुतिसमूह है, वह (सूनृता) प्रिय तथा सत्यरूप वेदवाणी (विभूतिः अस्तु) आपकी विभूति है । [वीर=वि+ईर् ।]

२८२. ऊर्ध्वस्तिष्ठा न ऊतयेऽस्मिन् वाजे शतक्रतो ।
समन्येषु ब्रवावहै ॥३॥

(शतक्रतो) हे सैंकड़ों अद्भुत कर्मोंवाले परमेश्वर ! (अस्मिन्) इस (वाजे) आत्मिक-शक्ति की प्राप्ति के निमित्त, (नः) हमारी (ऊतये) रक्षा के लिये, (ऊर्ध्वः तिष्ठ) आप सदा उद्यत रहिये । हम दोनों अर्थात् आप और मैं (समन्येषु) पारस्परिक मननयोग्य कार्यों में (ब्रवावहै) परस्पर बातचीत किया करें । [समन्येषु=समनम्, समननम्, संमाननम् (निरु० ७।४।१७) । ब्रवावहै=आत्मिक बातचीत, न कि वाचिक ।]

सूक्त ४६

१-३ इरिम्बिठिः । इन्द्रः । गायत्री ।

२८३. प्रणेतारं वस्यो अच्छा कर्तारं ज्योतिः समत्सु ।
सासह्वांसं युधामित्रान् ॥१॥

(युधा) निज प्रहार द्वारा (अमित्रान्) अस्नेही काम आदि का (सासह्वांसम्) पराभव करनेवाले, (समत्सु) देवासुर-संग्रामों में (ज्योतिः कर्तारम्) ज्योति प्रदान करनेवाले, (वस्यः) सर्वश्रेष्ठधन मोक्ष (प्रणेतारम्) प्राप्त करानेवाले महानेता को (अच्छ) हम स्वाभिमुख करते हैं ।

२८४. स नः पप्रिः पारयाति स्वस्ति नावा पुरुहूतः ।
इन्द्रो विश्वा अति द्विषः ॥२॥

(पुरुहूतः) भक्तिपूर्वक बार-बार पुकारा गया (सः पप्रिः इन्द्रः) वह परिपूर्ण परमेश्वर, (स्वस्ति) हमारा कल्याण करता हुआ, (नः) हमें (पारयाति) भवसागर से पार कर देता है, (नावा) जैसे कि नाविक नौका द्वारा नदी-तट से पार करता है । वह परमेश्वर (विश्वाः) सब प्रकार की (द्विषः) द्वेषभावनाओं से हमें (अति पारयाति) छुड़ा देता है । [पप्रिः =प्रा पूरणे ।]

२८५. स त्वं न इन्द्र वाजेभिर्दशस्या च गातुया च ।
अच्छा च नः सुम्नं नेषि ॥३॥

(नः इन्द्र) हे हमारे परमेश्वर ! (सः त्वम्) वे आप,—(वाजेभिः) बलों और शक्तियों के प्रदान द्वारा, (च दशस्या) और मार्गोपदेशों द्वारा, (च) और (गातुया) सदाचारों के निर्देशों द्वारा (नः) हमें (अच्छ) साक्षात् (सुम्नम्) सुख (नेषि) प्राप्त कराते हैं । [दशस्या=दशि भाषार्थः ।]

सूक्त ४७

१-३ सुकक्षः; ४-६, १०-१२ मधुच्छन्दाः; ७-९ इरिम्बिठिः; १३-२१ प्रस्कण्वः । १-१२ इन्द्रः; १३-२१ सूर्यः । गायत्री ।

२८६. तमिन्द्रं वाजयामसि महे वृत्राय हन्तवे ।
स वृषा वृषभो भुवत् ॥१॥

(वृत्राय) आत्मिक शक्तियों पर आवरण डालनेवाले (महे) महावृत्र अर्थात् अविद्या के (हन्तवे) हनन के लिये, (तम् इन्द्रम्) उस परमेश्वर की हम (वाजयामसि) अर्चनाएं करते हैं । (सः) वह (वृषा) आनन्दरसवर्षी (वृषभः) हम पर सुखों की वर्षा करनेवाला (भुवत्) हो ।

[महे वृत्राय—महावृत्र है अविद्या, अर्थात् अनित्य, अशुचि, दुःख और अनात्मा को नित्य, शुचि, सुख और आत्मा समझ बैठना । यथा—**अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या** (योग २।५); तथा **अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्** (योग २।४); अर्थात् अविद्या जन्मभूमि है अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश की । **वाजयामसि, वाजति=अर्चतिकर्मा** (निघ० ३।१४)।]

२८७. इन्द्रः स दामने कृत ओजिष्ठः स मदे हितः ।
द्युम्नी श्लोकी स सोम्यः ॥२॥

(सः) वह (इन्द्रः) परमेश्वर (दामने) शक्तिप्रदान के लिये, (कृतः) हम उपासकों ने अपनी ओर प्रेरित कर लिया है, अथवा वश में कर लिया है, जैसे कि कोई (दामने) रस्सी में बन्धा जाकर वश में कर लिया जाता है । (ओजिष्ठः) अत्यन्त ओजस्वी (सः) वह परमेश्वर (मदे) हमारी आत्मतृप्ति के लिये, (हितः) हितकर है, (सः) वह (द्युम्नी) यशस्वी है, (श्लोकी) वेदमन्त्रों का स्वामी है, (सोम्यः) सौम्यस्वभाव वाला है ।

२८८. गिरा वज्रो न संभृतः सबलो अनपच्युतः ।
ववक्ष ऋष्वो अस्तृतः ॥३॥

(वज्रः न) जैसे वज्र शत्रुओं का विनाश करता है, वैसे परमेश्वर हमारे पाप-शत्रुओं का विनाश करता है; वह (गिरा) स्तुति-प्रार्थना की वाणियों द्वारा (संभृतः) प्राप्त किया जाता है, (सबलः अनपच्युतः) बलशाली और अटल-कूटस्थ है, (ऋष्वः) महान् है, (अस्तृतः) अनश्वर अविनाशी है, (ववक्षे) संसार भार का वहन कर रहा है।

[ऋष्वः=महान् (निघ० ३।३)।]

२८९. इन्द्रमिद् गाथिनो बृहदिन्द्रमर्केभिरर्किणः ।
इन्द्रं वाणीरनूषत ॥४॥

(गाथिनः) सामगान करनेवाले सामगानों द्वारा, (अर्किणः) ऋग्वेदी (अर्केभिः) ऋग्वेद की ऋचाओं द्वारा, (इन्द्रमित्) परमेश्वर का ही (बृहत् अनूषत) महागान करते हैं, और (वाणीः) यजुर्वेद तथा अथर्ववेद की वाणियां भी (इन्द्रम् इत्) परमेश्वर का ही महागान करती हैं।

२९०. इन्द्र इद्धर्योः सचा संमिश्ल आ वचोयुजा ।
इन्द्रो वज्री हिरण्ययः ॥५॥

(इन्द्रः इत्) परमेश्वर ही (हर्योः) ऋग्वेद की स्तुतियों और सामगानों में (आ) पूर्णतया और (सम्) सम्यक् प्रकार से (सचा मिश्लः) मानो समवाय सम्बन्ध से मिश्रित हुआ-हुआ है, चूंकि (वचोयुजा) ऋग्-वेद और सामवेद का जोड़ा, परमेश्वर का ही प्रवचन करता है। (इन्द्रः) परमेश्वर (वज्री) न्यायवज्रधारी है, (हिरण्ययः) तथा हिरण्य सदृश बहुमूल्य सम्पत्ति है। [देखो व्याख्या मन्त्र २५८।]

२९१. इन्द्रो दीर्घाय चक्षस आ सूर्यं रोहयद् दिवि ।
वि गोभिरद्रिमैरयत् ॥६॥

(इन्द्रः) परमेश्वर ने (दीर्घाय) दूर-दूर तक (चक्षसे) देखने के लिये, (दिवि) द्युलोक में (सूर्यम्) सूर्य का (आ रोहयत्) आरोहण किया है। और (गोभिः) सूर्य की किरणों द्वारा (अद्रिम्) मेघ को (वि ऐरयत्) विविध स्थानों में प्रेरित किया है। [देखो व्याख्या मन्त्र २५६।]

२९२. आ याहि सुषुमा हि त इन्द्र सोमं पिबा इमम् ।
एदं बर्हिः सदो मम ॥७॥

(इन्द्र) हे परमेश्वर! आप (आ याहि) प्रकट हूजिये। (ते हि) आपके लिये ही हम उपासकों ने (सुषुम) भक्तिरस का निष्पादन किया है। आप (इमम्) इस भक्तिरस को (पिब) स्वीकार कीजिये। (मम) मेरे (इदं बर्हिः) इस हृदयासन पर (आ सदः) आ विराजिये।

२९३. आ त्वा ब्रह्मयुजा हरी वहतामिन्द्र केशिना ।
उप ब्रह्माणि नः शृणु ॥८॥

(इन्द्र) हे परमेश्वर! (ब्रह्मयुजा) आप ब्रह्म के साथ मुझे जोड़ देनेवाले, (केशिना) ज्ञान का प्रकाश करनेवाले (हरी) विषयों से चित्त को हर लेनेवाले ऋक् और साम, अर्थात् स्तुतियां और सामगान (त्वा) आपको (आ वहताम्) हमें प्राप्त कराएं। हे परमेश्वर! (उप) समीप होकर, हमारे हृदयों में प्रकट होकर, (नः) हमारी (ब्रह्माणि) ब्रह्म-प्रतिपादक स्तुतियां (शृणु) सुनिये।

२९४. ब्रह्माणस्त्वा वयं युजा सोमपामिन्द्र सोमिनः ।
सुतावन्तो हवामहे ॥९॥

(इन्द्र) हे परमेश्वर! (वयम्) हम (ब्रह्माणः) ब्रह्म के उपासक, (सोमिनः) भक्तिरस की भेंट लिये हुये, (सुतावन्तः) सन्तानों समेत, (सोमपां त्वा) भक्तिरस के रसिक आप को (हवामहे) पुकार रहे हैं।

२९५. युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं चरन्तं परि तस्थुषः ।
रोचन्ते रोचना दिवि ॥१०॥

(ब्रध्नम्) महान्, (अरुषम्) रोष-क्रोध से रहित, अर्थात् शान्त-स्वरूप, (परिचरन्तम्) तथा सर्वगत परमेश्वर को, (तस्थुषः) ध्यानावस्थित योगिजन (युञ्जन्ति) योगविधि द्वारा अपने साथ युक्त कर लेते हैं। इसी परमेश्वर के प्रकाश से (दिवि) द्युलोक में (रोचना) चमकते हुये नक्षत्र-तारागण (रोचन्ते) चमक रहे हैं, तथा इसी परमेश्वर की (रोचना) रुचिकर दीप्तियां तब (दिवि) मस्तिष्क में (रोचन्ते) चमकने लगती हैं।

२९६. युञ्जन्त्यस्य काम्या हरी विपक्षसा रथे ।
शोणा धृष्णू नृवाहसा ॥११॥

(काम्या=काम्यौ) योगसाधना के लिये चाही गई, (हरी) चित्त को विषयों से हरनेवाली, (विपक्षसा) सुषुम्णा नाड़ी के अलग-अलग दो पार्श्वों में लगी हुई, (शोणा) भूरे और पीले से रंगोंवाली, (धृष्णू) मजबूत (नृवाहसा) योगिजनों को उनके उद्देश्य तक पहुंचानेवाली,—इडा और पिङ्गला नाड़ियों को, (अस्य) इस परमेश्वर के (रथे) रमणीय स्वरूप में, (युञ्जन्ति) योगिजन योगविधि द्वारा युक्त अर्थात् सम्बद्ध करते हैं।

२९७. केतुं कृण्वन्नकेतवे पेशो मर्या अपेशसे।

समुषद्भिरजायथाः ॥१२॥

(मर्याः) हे उपासक जनो! योगविधि द्वारा युक्त किया गया परमेश्वर [मन्त्र २९६ से], (उषद्भिः) उषा कालों के साथ-साथ (सम् अजायथाः) सम्यक् प्रकट हो गया है। वह (अकेतवे) प्रज्ञानरहित उपासक के लिये (केतुम्) प्रज्ञान (कृण्वन्) प्रकट करता है, और (अपेशसे) जिस पर आध्यात्मिक रूपरंग नहीं चढ़ा, उस पर (पेशः) नया आध्यात्मिक रूपरंग चढ़ा देता है।

२९८. उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः।

दृशे विश्वाय सूर्यम् ॥१३॥

(त्यम्) उस प्रसिद्ध, (जातवेदसम्) प्रत्येक उत्पन्न पदार्थ में विद्यमान, प्रत्येक उत्पन्न पदार्थ के ज्ञाता, ऐश्वर्यों के स्वामी और वेदों के प्रकट करनेवाले, (देवम्) दिव्यगुणों से सम्पन्न, (सूर्यम्) सूर्यसदृश प्रकाशमान, आदित्यवर्णी परमेश्वर को, (केतवः) उसके ज्ञापक चिह्न, (उत्) उत्कर्षरूप में, (वहन्ति) ज्ञापित कर रहे हैं, ताकि (विश्वाय दृशे) समग्र प्रजाजन उसे जान सकें, और समय पर उसका दर्शन कर सकें।

[जातवेदसम्=जाते जाते विद्यत इति वा, जातानि वेद, जातवित्तो वा जातधनः, जातविद्यो वा जातप्रज्ञानः (निरु० ७।५।२०)। तथा "जातमिदं सर्वं सचराचरं सृष्ट्युत्पत्तिप्रलयन्यायेनास्थाय वेत्ति यः" (निरु० १४।२।४७)। केतवः=न्यायनियम, कर्मव्यवस्था, जगत्कर्तृत्व, ज्ञान का आदिस्रोत, सृष्टिनियम, तथा प्रत्यक्षदर्शन आदि परमेश्वरीय सत्ता के ज्ञापक चिह्न हैं।]

२९९. अप त्ये तायवो यथा नक्षत्रा यन्त्यक्तुभिः।

सूराय विश्वचक्षसे ॥१४॥

(यथा) जैसे (अक्तुभिः) रात्रियों समेत (नक्षत्रा) नक्षत्र-तारागण, सूर्य के प्रकाश में (अप यन्ति) हट जाते हैं, वैसे (तायवः) चोरी से अज्ञानान्धकार में आत्मा में प्रविष्ट हो जानेवाले काम क्रोध लोभ आदि, प्रभु के प्रकाश में (अप यन्ति) हट जाते हैं, उस उपासक के लिये जो कि (सूराय) सूर्य के सदृश आध्यात्मिक ज्ञान के प्रकाश से प्रकाशित है, और (विश्वचक्षसे) विश्व के रहस्य का जिसने साक्षात्कार कर लिया है।

[तायवः=चोर (निघ० ३।२४)।]

३००. अदृश्रन्नस्य केतवो वि रश्मयो जनाँ अनु।

भ्राजन्तो अग्नयो यथा ॥१५॥

उपासक कहता है कि (अस्य) इस परमेश्वर के (केतवः) प्रकाश, (वि अदृश्रन्) मुझे विशेषरूप में दीख पड़े हैं, (यथा) जैसे कि (जनान् अनु) सर्व साधारण जनों को, (रश्मयः) सूर्य की रश्मियां दीख पड़ती हैं, और (भ्राजन्तः) चमकती हुई (अग्नयः) अग्नियां दीख पड़ती हैं।

३०१. तरणिर्विश्वदर्शतो ज्योतिष्कृदसि सूर्य।

विश्वमा भासि रोचन ॥१६॥

हे परमेश्वर! आप भवसागर से (तरणिः) तैरानेवाली नौका हैं, (विश्वदर्शतः) विश्व के द्रष्टा हैं। (सूर्य) हे सूर्यों के सूर्य! (ज्योतिष्कृत् असि) आप ही प्राकृतिक और आध्यात्मिक ज्योतियों के कर्त्ता हैं। (रोचन) हे ज्योतिर्मय! आप ही (विश्वम्) विश्व को (आ भासि) सब प्रकार से प्रभायुक्त कर रहे हैं।

३०२. प्रत्यङ् देवानां विशः प्रत्यङ्ङुदेषि मानुषीः।

प्रत्यङ् विश्वं स्वर्दृशे ॥१७॥

हे परमेश्वर! आप (प्रत्यङ्) प्रत्येक पदार्थ में व्याप्त हैं, आप (देवानां विशः) दिव्यकोटि के उपासकों के हृदयों में (उदेषि) उदित होते हैं। (प्रत्यङ्) आप प्रत्येक पदार्थ में व्याप्त हैं, (मानुषीः) श्रवण

मनन निदिध्यासनाभ्यासी जनों के हृदयों में भी (उदेषि) उदित होते हैं। (प्रत्यङ्) आप प्रत्यक पदार्थ में व्याप्त हैं, (विश्वम्) और विश्व को (स्वर्दृशे) आप निज आनन्दमय स्वरूप दर्शा रहे हैं।

**३०३. येना पावक चक्षसा भुरण्यन्तं जनाँ अनु ।
त्वं वरुण पश्यसि ॥१८॥**

(पावक) हे पवित्र करनेवाले परमेश्वर ! (येन चक्षसा) जिस कृपादृष्टि से आप (जनान् अनु) सर्वसाधारण जनों में से (भरण्यन्तम्) योगमार्ग पर तीव्रवेग से चलनेवाले उपासक को (पश्यसि) देखते हैं, उस पर अनुग्रह करते हैं, (वरुण) हे पापनिवारक प्रभो ! मेरे पापों का निवारण करके (त्वम्) आप मुझ उपासक को भी कृपा दृष्टि से देखिये, मुझ पर भी अनुग्रह कीजिये। [भुरण्युः=क्षिप्रम् (निघ० २.१५)।]

**३०४. वि द्यामेषि रजस्पृथ्वहर्मिमानो अक्तुभिः ।
पश्यञ्जन्मानि सूर्य ॥१९॥**

(सूर्य) हे सूर्यों के सूर्य ! आप (जन्मानि) जन्म-मरण की व्यवस्था का (पश्यन्) निरीक्षण करते हुये, (द्याम्) द्युलोक में, (पृथु रजः) विस्तृत अन्तरिक्षलोक में, तथा (अक्तुभिः) रात्रियों के साथ (अहः) दिनों का (मिमानः) निर्माण करते हुये पृथिवीलोक में, (वि) इन विविध लोकों में (एषि) व्याप्त हो रहे हैं।

**३०५. सप्त त्वा हरितो रथे वहन्ति देव सूर्य ।
शोचिष्केशं विचक्षणम् ॥२०॥**

(सूर्य) हे सूर्यों के सूर्य ! (देव) प्रकाशमान परमेश्वर ! (शोचिष्केशम्) प्रदीप्त तथा पवित्र रश्मियोंवाले, (विचक्षणम्) तथा विवेक-दृष्टिवाले (त्वा) आपको, (सप्त हरितः) विषयों का परिहार की हुई मेरी सात शक्तियां, (रथे) मेरे शरीर-रथ में (वहन्ति) वहन करने लग गई हैं।

[सप्त हरितः=५ ज्ञानेन्द्रियां, मन तथा बुद्धि । रजस् तथा तमस् से पराभूत ये सात शक्तियां व्यक्ति को विषयोन्मुख और परमेश्वर से पराङ्मुख बना देती हैं, और यही सात शक्तियां, सत्त्वगुण प्रधान हो-

कर, विषयों का परिहार कर, परमेश्वरोन्मुख होकर, परमेश्वर को शरीर रथ का रथी बनाकर, शरीर-रथ में उसका वहन करते लगती हैं।]

**३०६. अयुक्त सप्त शुन्ध्युवः सूरो रथस्य नप्त्यः ।
ताभिर्याति स्वयुक्तिभिः ॥२१॥**

(सप्त) सात शक्तियों को, (अयुक्त) जब योगसाधनाओं द्वारा, परमेश्वर अपने में लीन कर लेता है, तब ये (शुन्ध्युवः) शुद्ध पवित्र हो जाती हैं। तदनन्तर परमेश्वर ध्यानी के शरीर-रथ का (सूरः) प्रेरक हो जाता है, (नप्त्यः) और सात शक्तियां विषयों में पतित नहीं होने पातीं। परमेश्वर इन शक्तियों को (स्वयुक्तिभिः) अपने साथ योगयुक्त करके, इनके द्वारा (याति) योगीं के कार्यों को निभाने लगता है।

सूक्त ४८

१-३ खिलः; ४-६ सर्पराज्ञी। १-३ सूर्यः; ४-६ गौः। गायत्री।

**३०७. अभि त्वा वर्चसा गिरः सिञ्चन्तीराचरण्यवः ।
अभि वत्सं न धेनवः ॥१॥**

(धेनवः) दुधार गौएं (वत्सम् अभि) अपने-अपने बछड़े के प्रति (न) जैसे (सिञ्चन्तीः) दूध की धाराएं सींचती हैं, वैसे हे परमेश्वर ! (वर्चसा) ज्योति के साथ वर्तमान (त्वा अभि) आपके प्रति (गिरः) स्तुति-वाणियां (सिञ्चन्तीः) भक्तिरस सींचती हुई (आचरण्यवः) गौओं का सा आचरण कर रही हैं। [आचरण्यवः=आचरण+क्यच्+ उ।]

**३०८. ता अर्षन्ति शुभ्रियः पृञ्चन्तीर्वर्चसा प्रियः ।
जातं जात्रीर्यथा हृदा ॥२॥**

(यथा) जैसे (जात्रीः) जन्म देनेवाली जननियां, (हृदा) अपनी हार्दिक भावनाओं द्वारा, (जातम्) नवजात शिशुओं को (सिञ्चन्तीः) अपने दूध द्वारा सींचती हैं, वैसे (शुभ्रियः) विशुद्ध-सात्विक तथा (प्रियः) प्रिय (ताः) वे स्तुतिवाणियां, (वर्चसा) ज्योति के साथ वर्तमान आप परमेश्वर को, (पृञ्चन्तीः) भक्तिरसों द्वारा सम्पृक्त करती हुई, (अर्षन्ति) आपके प्रति प्रवाहित होती हैं।

३०९. वज्रापवसाध्यः कीर्तिर्म्रियमाणमावहन् ।
मह्यमायुर्घृतं पयः ॥३॥

(कीर्तिः) प्रभु का कीर्तन, (आयुः) पवित्र आयु, (घृतम्) घृतसमान वीर्य, (पयः) तथा वेदमाता का ज्ञान दुग्ध, इनमें से प्रत्येक, जो कि (वज्रापवसाध्यः) पापों के प्रति वज्रसमान है तथा आपूत वेदवाणी द्वारा साध्य है,—ये सब (मह्यम्) मुझे प्राप्त हुये हैं, और ये सब, (म्रियमाणम्) विषयविषों द्वारा मरे जाते हुये मुझ को, हे परमेश्वर! आपके प्रति (आवहन्) ले आये हैं।

[घृतम्=रेतः, वीर्य। यथा—"रेतः कृत्वा आज्यं देवाः पुरुषमाविशन्" (अथर्व ११।८।२९)। कीर्ति और आयु का साधन वेदवाणी, यथा—स्तुता मया वरदा वेदमाता प्र चोदयन्तां पावमानी द्विजानाम्। आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्त्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसं, मह्यं दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम्" (अथर्व १९।७१।१)।]

३१०. आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन्मातरं पुरः ।
पितरं च प्रयन्त्स्वः ॥४॥

(पृश्निः) नाना रूपरंगोंवाला (अयम्) यह (गौः) पृथिवीलोक, (मातरम्) अन्तरिक्ष में (असदत्) स्थित है, और परमेश्वर के सामर्थ्य द्वारा, (पुरः) पूर्व की ओर, (स्वः) प्रकाशमान (पितरम्) अपने पिता सूर्य की ओर (प्रयन्) प्रयाण करता हुआ, (अक्रमीत्) उसकी परिक्रमा कर रहा है।

[मातरि=अन्तरिक्षे (निरु० ७।७।२६)। पितरम्=पृथिवीलोक का पिता है सूर्य। चूंकि पृथिवीलोक सूर्य से अलग हुआ है। और यह अन्तरिक्षरूपी माता की गोद में स्थित है, तथा पूर्व की ओर चलता हुआ सूर्य की परिक्रमा कर रहा है।]

३११. अन्तश्चरति रोचना अस्य प्राणादपानतः ।
व्यख्यन्महिषः स्वः ॥५॥

(प्राणात् अपानतः) प्राण और अपान की क्रियाओं को करते हुये (अस्य) इस परमेश्वर की (रोचना) ज्योति (अन्तः चरति) हमारे भीतर विचर रही है। (महिषः) यह महान् परमेश्वर ही हमारे जीवनों में (स्वः) सुख तथा प्रकाश (व्यख्यत्) प्रकट कर रहा है।

३१२. त्रिंशद् धामा वि राजति वाक् पतङ्गो अशिश्रियत् ।
प्रति वस्तोरहर्द्युभिः ॥६॥

(पतङ्गः) जीवात्म-पक्षी, जब तक (त्रिंशत् धामा=धामानि) दिन-रात के ३० मुहूर्त्तों में, देह में (अशिश्रियत्) परमेश्वर के नियमानुसार आश्रय पाता है, तब तक (वाक्) वाक् आदि इन्द्रियां भी, जागरित तथा प्रसुप्तावस्था में, (प्रति वस्तोः) प्रतिदिन, (अहः द्युभिः) दिन के आरम्भक प्रकाशों से लेकर, (त्रिंशत् धामा) तीस मुहूर्तों तक (वि राजति) शरीर में विराजमान रहती हैं।

[पतङ्ग का अर्थ होता है—पक्षी। पतङ्ग का धात्वर्थ है—"उड़ जाने-वाला"। जीवात्मा को मन्त्र में पतङ्ग कहा है। त्रिंशद् धामा=रात-दिन में ३० मुहूर्त होते हैं। मन्त्र में यह दर्शाया है कि शरीर में इन्द्रियां तभी तक काम करती हैं,जब तक कि शरीर में जीवात्मा की सत्ता है।]

सूक्त ४९

१-३ खिलः; ४-५ नोधाः; ६-७ मेध्यातिथिः। इन्द्रः। १-३ गायत्री; ४-५ प्रगाथः (विषमा बृहती+समा सतोबृहती)।

३१३. यच्छक्रा वाचमारुहन्नन्तरिक्षं सिषासथः ।
सं देवा अमदन् वृषा ॥१॥

(यत्) जब (शक्राः) शक्ति-सम्पन्न (देवाः) उपासक देव, (सम्) परस्पर मिलकर, (अमदन्) परमेश्वर की स्तुतियां करते हैं, तब ये भक्ति के आवेश में, (वाचम्) सामगान के स्वरों का (आरोहन्) आरोहण करते हैं,अर्थात् उच्च स्वरों में सामगान गाते हैं। तब हे उपासक नरवर्ग! और नारीवर्ग! तुम दोनों (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष में (सिषासथः) अपनी स्वरें पहुंचा देते हो, अर्थात् अन्तरिक्ष को अपने स्वरों से गुञ्जा देते हो। तदनन्तर (वृषा) आनन्दरसवर्षी परमेश्वर तुम पर आनन्दरस की वर्षा करता है।

[अमदन्=मदि स्तुतौ। आरोह=The ascending scale of notes in music (आपटे)।]

३१४. शक्रो वाचमधृष्टायोरुवाचो अधृष्णुहि ।
मंहिष्ठ आ मदुर्दिवि ॥२॥

हे उपासक ! तू (शक्रः) शक्तिसम्पन्न बन, और (अधृष्टाय) अपराभवनीय परमेश्वर की प्राप्ति के लिये (वाचम्) अपनी स्तुतिवाणियों का आरोहण कर [मन्त्र ३१३ से], (उरुवाचः) जैसे कि उच्चस्वरों में सामगानों के गानेवाले सामगानों के स्वरों का आरोहण करते हैं। और (अधृष्णुहि=आधृष्णुहि) अपने पापों का पूर्णतया पराभव कर। तथा (मंहिष्ठः) परमेश्वर के प्रति भक्तिरस प्रदान करता हुआ तू (दिवि) परमेश्वरीय प्रकाश में (आमदः) मस्त हो जा।

३१५. शक्रो वाचमधृष्णुहि धामधर्मन् विराजति ।
विमदन् बर्हिरासरन् ॥३॥

हे उपासक ! तू भी (शक्रः) शक्तिमान् है, (वाचम्) अपनी स्तुतिवाणियों का आरोहण किया कर, और (अधृष्णुहि=आधृष्णुहि) अपने पापों का पूर्णतया पराभव कर। (धामधर्मन्) तेरे ज्योतिर्मय हृदय-धाम में, हृदय-गृह में, (विराजति) परमेश्वर विराजमान है। (मदन्) परमेश्वर तुझे आनन्दित करता हुआ (बर्हि) तेरे हृदयासन की ओर (वि आसरन्) विशेषरूप में सरक रहा है, शनैः-शनैः प्रकट हो रहा है।

[धामधर्मन्=धाम (ज्योतिः) धर्मन् (गृहे)। योगी जब हृदय में ध्यानमग्न हो जाता है, तो उसे हृदय में विविध प्रकार की ज्योतियां दृष्टिगोचर होती हैं। यथा—तत्र (बुद्धिसत्त्वे) स्थितिवैशारद्यात् प्रवृत्तिः, सूर्येन्दुग्रहमणिप्रभारूपाकारेण विकल्पते" (योग, व्यासभाष्य १।३६)। अर्थात् "चित्त जब सत्त्वप्रधान हो जाता है, तब हृदय में स्थिर करने पर सूर्य, चन्द्र, ग्रह, मणिप्रभा आदि नाना ज्योतियों का दर्शन होता है"। ऐसी अवस्था उपस्थित हो जाने पर योगी परमेश्वर के दर्शन का लाभ कर लेता है।]

३१६. तं वो दस्ममृतीषहं वसोर्मन्दानमन्धसः ।
अभि वत्सं न स्वसरेषु धेनव इन्द्रं गीर्भिर्नवामहे ॥४॥

हे उपासको ! (वः) तुम्हारे (दस्मम्) दुःखों का क्षय करनेवाले, (ऋतीषहम्) आर्तियों अर्थात् पीड़ाओं और क्लेशों का पराभव करनेवाले,

(वसोः) सम्पत्तियों तथा (अन्धसः) अन्नों से (मन्दानम्) तृप्त और प्रसन्न करनेवाले (इन्द्रम्) परमेश्वर के (अभि) प्रति, (स्वसरेषु) प्रतिदिन (गीर्भिः) वैदिक स्तुतिवाणियों द्वारा, (नवामहे) हम गुरुजन परमेश्वर की स्तुतियां करते हैं, (न) जैसे कि (वत्सम् अभि) अपने अपने बछड़े के प्रति, (स्वसरेषु) प्रतिदिन, (धेनवः) दूध भरी गौएं प्रीतिपूर्वक हम्भारव करती हैं।

३१७. द्युक्षं सुदानुं तविषीभिरावृतं गिरिं न पुरुभोजसम् ।
क्षुमन्तं वाजं शतिनं सहस्रिणं मक्षू गोमन्तमीमहे ॥५॥

(द्युक्षम्) द्युलोक में भी निवास करनेवाले, (सुदानुम्) उत्तमदानी, (तविषीभिः) नाना शक्तियों से (आवृतम्) घिरे हुये, अर्थात् नानाशक्तियों से सम्पन्न, (गिरिं न) पर्वत के सदृश अचल, (पुरुभोजसम्) सब के पालक, (क्षुमन्तम्) वैदिकशब्दों के स्वामी, (वाजम्) बलस्वरूप, (शतिनं सहस्रिणम्) सैंकड़ों और हजारों लोक-लोकान्तरों के स्वामी, (गोमन्तम्) और हमारी इन्द्रियों के भी स्वामी को (मक्षू) शीघ्र (ईमहे) हम प्राप्त होते हैं, और इस निमित्त उससे प्रार्थनाएं करते हैं।

[क्षुमन्तम्=क्षु (शब्दे)+मतुप्। मक्षू=क्षिप्रम् (निघ० २।१५)। ईमहे=ई गतौ। तथा ईमहे याच्ञाकर्मा (निघ० ३।१९)। गिरिं न= अथवा मेघ के सदृश पालक तथा भोजनदाता। मेघ वर्षा द्वारा पालन करता तथा भोजन-सामग्री देता है। गिरि=मेघ (निघ० १।१०)।]

३१८. तत् त्वा यामि सुवीर्यं तद् ब्रह्म पूर्वचित्तये ।
येना यतिभ्यो भृगवे धने हिते येन प्रस्कण्वमाविथ ॥६॥

(पूर्वचित्तये) घटनाओं के पूर्वज्ञान के लिये, हे परमेश्वर ! मैं उपासक, (तत्) प्रसिद्ध (सुवीर्यम्) उत्कृष्ट धर्मवीरता, अर्थात् बाधाओं और कष्टों के होते भी उपात्त योगमार्ग पर सुदृढ़ रहना, और (तत्) प्रसिद्ध (ब्रह्म) वेदविद्या जो कि ब्रह्म का प्रतिपादन करती है,—इन दोनों की (त्वा यामि) मैं आप से याचना करता हूं, (येन) जिस धर्मवीरता और वेदविद्या द्वारा, (यतिभ्यः) यतियों के लिये, (भृगवे) वासनाओं को दग्ध किये व्यक्ति के लिये, उनके (हिते धने) हितकर धन अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति के निमित्त, उनकी (आविथ) आपने रक्षा की है, तथा

(येन) जिन उपर्युक्त दो साधनों द्वारा आपने (प्रस्कण्वम्) प्रकृष्ट मेधावान् की (आविथ) रक्षा की है। [कण्वः=मेधावी (निघ० ३।१५)। प्रस्कण्व=प्रकृष्ट मेधावी, अर्थात् आध्यात्मिकमेधा-सम्पन्न। मन्त्र में उपासक "पूर्वचित्ति" अर्थात् भविष्य में होनेवाली घटनाओं का पूर्वज्ञान चाहता है, ताकि वह इष्ट और अनिष्ट का उपादान तथा परिहार पहिले ही कर ले।]

३१९. येना समुद्रमसृजो महीरपस्तदिन्द्र वृष्णि ते शवः ।
सद्यः सो अस्य महिमा न संनशे यं क्षोणीरनुचक्रदे ॥७॥

(येन) जिस सामर्थ्य द्वारा आपने (समुद्रम्) समुद्र का, और उसकी (महीः अपः) महाजलराशि का (असृजः) सर्जन किया है, (इन्द्र) हे परमेश्वर! (तत्) वह (वृष्णि शवः) वर्षाकारी सामर्थ्य (ते) आप का ही है। तथा (यम्) जिसे (क्षोणी) द्युलोक और पृथिवीलोक मानो (अनु) निरन्तर, सहायतार्थ (चक्रदे) पुकारते हैं, (अस्य) इस परमेश्वर की (सः महिमा) वह महिमा (सद्यः) आजतक किसी ने (न संनशे) नहीं प्राप्त की।

[सूक्त ४८ और ४९ को "अथर्ववेदीय सर्वानुक्रमणिका" में "खिल" अर्थात् परिशिष्ट, प्रक्षिप्त माना है। परन्तु महर्षि दयानन्द ने "चतुर्वेद विषयसूची" में इन्हें "खिल" नहीं माना। कारण यह है कि इन सूक्तों के मन्त्र प्रायः ऋग्वेद आदि में पठित हैं।]

सूक्त ५०

१-२ मेध्यातिथिः । इन्द्रः । प्रगाथः (विषमा बृहती+समा सतोबृहती)।

३२०. कन्नव्यो अतसीनां तुरो गृणीत मर्त्यः ।
नही न्वस्य महिमानमिन्द्रियं स्वर्गृणन्त आनशुः ॥१॥

(अतसीनाम्) आत्मिकशक्ति-सम्पन्न प्रजाओं में (कत्) कौनसा (नव्यः) प्रशंसनीय (मर्त्यः) जन है, जोकि (तुरः) शीघ्र ही, अर्थात् अल्पायु में ही (गृणीत) परमेश्वर के गुणगान करने लगता है। (गृणन्तः) परमेश्वर के गुणगान करते हुये भी, (नू) निश्चय से, (अस्य) इस परमेश्वर की (महिमानम्) महिमा को, (इन्द्रियम्) इसके ऐश्वर्य को, (स्वः) और इसके

आनन्दमय स्वरूप को (नहि आनशुः) उपासक पूर्णतया नहीं जान सके। [अतसः=The soul (आपटे)। इन्द्रियम्=धनम् (निघ० २।१०)।]

३२१. कदु स्तुवन्त ऋतयन्त देवत ऋषिः को विप्र ओहते ।
कदा हवं मघवन्निन्द्र सुन्वतः कदु स्तुवत आ गमः ॥२॥

(देवते) हे परमेश्वर देव! (ऋतयन्तः) सत्यस्वरूप आपको चाहनेवाले, और आपकी (स्तुवन्तः) स्तुतियां करनेवाले (कत् उ) कितने ही हैं, परन्तु (कः) कोई (विप्रः) मेधावी (ऋषिः) ऋषि ही, अपने जीवन में (ओहते) आपका वहन करता है। (मघवन् इन्द्र) हे ऐश्वर्यशाली परमेश्वर! (कदा) कब (सुन्वतः) भक्तिरसवाले उपासक की (हवम्) पुकार की ओर (आ गमः) आप आते हैं, और (कत् उ) किस ही (स्तुवतः) स्तोता की (हवम्) पुकार की ओर (आ गमः) आप आते हैं, [इसे कोई नहीं जानता।]

सूक्त ५१

१-२ प्रस्कण्वः, ३-४ पुष्टिगुः । इन्द्रः । प्रगाथः (विषमा बृहती+समा सतोबृहती)।

३२२. अभि प्र वः सुराधसमिन्द्रमर्च यथा विदे ।
यो जरितृभ्यो मघवा पुरूवसुः सहस्रेणेव शिक्षति ॥१॥

हे उपासक! (यथा विदे) परमेश्वर की यथार्थ प्राप्ति के लिये, (इन्द्रम्) परमेश्वर की (प्र) प्रकर्ष रूप में (अभि अर्च) स्तुति किया कर, जो परमेश्वर कि (वः) तुम सब उपासकों की साधनाओं को (सुराधसम्) उत्तम प्रकार से सिद्ध करता है, सफल करता है। तथा (मघवा) आध्यात्मिक सम्पत्शाली (पुरूवसुः) महाधनी (यः) जो परमेश्वर, (जरितृभ्यः) स्तोताओं के लिये, (इव) मानो (सहस्रेण) हजारों प्रकार से (शिक्षति) शिक्षाएं दे रहा है।

[सहस्रेण=यजुर्वेद (३२।४) का निम्नलिखित मन्त्रांश इस सम्बन्ध में प्रकाश डालता है। यथा—"प्रत्यङ् जनास्तिष्ठति सर्वतोमुखः" अर्थात् परमेश्वर प्रत्येक पदार्थ में व्याप्त हुआ स्थित है, वह सर्वतोमुख है, वह सब ओर से तथा सब घटनाओं द्वारा उपदेश दे रहा है, शिक्षाएं दे रहा है। "मुख" शब्द द्वारा उपदेश देने की भावना को सूचित किया है।]

३२३. शतानीकेव प्र जिगाति धृष्णुया हन्ति वृत्राणि दाशुषे।
गिरेरिव प्र रसा अस्य पिन्विरे दत्राणि पुरुभोजसः ॥२॥

(शतानीका इव) सैंकड़ों सेनाओं के सदृश परमेश्वर (धृष्णुया) अपनी पराभवकारिणी शक्ति द्वारा (प्र जिगाति) सब पर विजय पाये हुये है। (दाशुषे) आत्मसमर्पक के लिये परमेश्वर उसके (वृत्राणि) अविद्या तथा तज्जन्य आवरणों को (हन्ति) दूर कर देता है। (गिरेः पुरुभोजसः) प्रभूत भोगसामग्री देनेवाले मेघ के (इव) सदृश (अस्य) इस परमेश्वर के (रसाः) आनन्दरस (पिन्विरे) उपासकों को सींचते हैं,और इसके (दत्राणि) अन्य दान (पिन्विरे) सब की सेवाएं कर रहे हैं।

[पिन्विरे=पिवि सेचने ; सेवने।]

३२४. प्र सु श्रुतं सुराधसमर्चा शक्रमभिष्टये।
यः सुन्वते स्तुवते काम्यं वसु सहस्रेणेव मंहते ॥३॥

हे उपासक ! (अभिष्टये) अभीष्ट की प्राप्ति के लिये,—(श्रुतम्) वेदों में सुने गये, (सुराधसम्) सुगमता से अभीष्ट-साधक, (शक्रम्) शक्तिशाली परमेश्वर की (प्र) प्रकर्षरूप में (सु) अच्छे प्रकार (अर्च) अर्चना किया कर, (यः) जो परमेश्वर कि (सुन्वते) भक्तिरसवाले (स्तुवते) स्तोता को, (सहस्रेण इव) मानो हजारों प्रकार से (काम्यं वसु) अभीष्ट-धन अर्थात् मोक्ष (मंहते) प्रदान करता है।

३२५. शतानीका हेतयो अस्य दुष्टरा इन्द्रस्य समिषो महीः।
गिरिर्न भुज्मा मघवत्सु पिन्वते यदीं सुता अमन्दिषुः ॥४॥

(अस्य) इस परमेश्वर के (हेतयः) अस्त्रशस्त्र (दुष्टराः) दुर्लङ्घ्य हैं, (शतानीका=शतानीकानि) जैसे कि सैंकड़ों सेनाओं के घेरे दुर्लङ्घ्य होते हैं। और (अस्य इन्द्रस्य) इस परमेश्वर की (महीः इषः) महती इच्छाएं (सम् तराः) सम्यक् तैरानेवाली हैं। परमेश्वर (गिरिः न) मेघवत् (भुज्मा) भोगसाधन प्रदान करता है। (यद्) यदि (ईम्) इस परमेश्वर को (सुताः) निष्पादित भक्तिरस (अमन्दिषुः) प्रसन्न कर देते हैं तो यह, (मघवत्सु) आध्यात्मिक ऐश्वर्यवालों को, (पिन्वते) अपने आनन्दरसों से, या और अधिक आध्यात्मिक ऐश्वर्यों से, (पिन्वते) सींच देता है।

सूक्त ५२

१-३ मेध्यातिथिः । इन्द्रः । बृहती ।

३२६. वयं घ त्वा सुतावन्त आपो न वृक्तबर्हिषः।
पवित्रस्य प्रस्रवणेषु वृत्रहन् परि स्तोतार आसते ॥१॥

(वयम्) हम (वृक्तबर्हिषः) भक्तियज्ञों के ऋत्विक् (घ) निश्चय से, (सुतावन्तः) भक्तिरस को निष्पादित किये हुये हैं, और भक्तिरस (आपः न) जलों के सदृश (त्वा) आपकी ओर प्रवाहित हो रहे हैं। (वृत्रहन्) हे अविद्यादि आवरणों को छिन्न-भिन्न करनेवाले ! (पवित्रस्य) पवित्र भक्तिरस के (प्रस्रवणेषु) प्रवाहों में बहते हुये (स्तोतारः) स्तोता लोग, आसन लगाये (परि) सब ओर (आसते) बैठे हुये हैं।

[वृक्तबर्हिषः=ऋत्विजः (निघ० ३।१८)।]

३२७. स्वरन्ति त्वा सुते नरो वसो निरेक उक्थिनः।
कदा सुतं तृषाण ओक आ गम इन्द्र स्वब्दीव वंसगः ॥२॥

(वसो) हे विश्ववासी ! (सुते) भक्तिरस के उत्पन्न हो जाने पर, और सांसारिक वृत्तियों की दृष्टि से (निरेके) चित्त के रिक्त हो जाने पर, शून्य हो जाने पर, (उक्थिनः) वैदिक-सूक्तों द्वारा स्तुतियां करनेवाले (नरः) उपासकनेता, (त्वा) आपके प्रति (स्वरन्ति) उच्च-स्वरों में स्तुतियां करते हैं, और कहते हैं कि "(इन्द्र) हे परमेश्वर ! आप (सुतम्) उत्पन्न भक्तिरस के प्रति (तृषाणः) प्यासे होकर (कदा) कब (ओके) उपासक के हृदय-गृह में (आ गमत्) आएंगे, (इव) जैसे कि (वंसगः) सुन्दर गतिवाला बैल, पिपासाकुल हुआ-हुआ (स्वब्दी) सुन्दर जलाशय की ओर आता है।

[निरेके=नितरां रिक्ते; वा एकान्तस्थाने। स्वब्दि+इव=सु+अप् (जल)+दा(देना)+इ, अर्थात् सुन्दर जल प्रदान करनेवाला जलाशय। स्वब्दि (नपुंसकलिङ्ग)।]

३२८. कण्वेभिर्धृष्णवा धृषद् वाजं दर्षि सहस्रिणम्।
पिशङ्गरूपं मघवन् विचर्षणे मक्षू गोमन्तमीमहे ॥३॥

(धृष्णो) पापों का पराभव करनेवाले हे परमेश्वर! (कण्वेभिः) कण-कण द्वारा भक्ति का संचय करनेवाले मेधावी उपासकों, या इन्द्रियों का निमीलन करनेवाले ध्यानावस्थित उपासकों द्वारा चाहा गया (धृषद् वाजम्) पापधर्षक बल (आदर्षि) हमें आदरपूर्वक प्राप्त कराइये, जो बल कि (सहस्रिणम्) हजारों का उपकार करनेवाला हो। (मघवन्) हे बलरूपी धन के स्वामी! (विचर्षणे) हे सर्वद्रष्टा! (ईमहे) हम आप से प्रार्थना करते हैं कि आप हमें (गोमन्तम्) प्रशस्त इन्द्रियों समेत (पिशङ्गरूपम्) सूर्य सदृश तेजस्वी रूप (मक्षू) शीघ्र प्रदान कीजिये।

[कण्वेभिः=मेधाविनः (सायण)। कण्व=कण+व (वाला), या कण् निमीलने। पिशङ्ग=सुन्दर आकृतिवाला; पिश्=To shape, fashion, form (आपटे)+अङ्ग। मक्षू=क्षिप्रम् (निघ० २।१५)। गो=इन्द्रियां (उणादिकोश २।६७)।]

सूक्त ५३

१-३ मेध्यातिथिः। इन्द्रः। बृहती।

३२९. क ईं वेद सुते सचा पिबन्तं कद् वयो दधे।
अयं यः पुरो विभिनत्त्योजसा मन्दानः शिप्र्यन्धसः ॥१॥

(सुते) उपासक में भक्तिरस के उत्पन्न हो जाने पर, हे परमेश्वर! (सचा) साथ-साथ, अर्थात् उपासक जब आपके आनन्दरस का पान करता है, तो उसके भक्तिरस को (पिबन्तम्) पीते हुये आपको (कः) कौन उपासनारहित व्यक्ति (वेद) जान सकता है? [उस आपको तो उपासक ही उस अवस्था में जान सकता है]; उपासक (कत्) किस प्रकार के (वयः) आनन्दरसरूपी अन्न को (दधे) निज आत्मा में धारण कर रहा होता है, (ईम्) इसे भी उपासनारहित कौन व्यक्ति जान सकता है? हे परमेश्वर! (अयम्) आप यह हैं (यः) जो कि (मन्दानः) प्रसन्न होकर (ओजसा) निज प्रभाव द्वारा (पुरः) आसुरी भावनाओं के गढ़ों को (विभिनत्ति) तोड़-फोड़ देते हैं, जैसे कि (शिप्री) तेजस्वि-मुखवाला सेनापति, (अन्धसः) अन्न से भरे शत्रु के (पुरः) किलों और नगरों को तोड़-फोड़ देता है।

३३०. दाना मृगो न वारणः पुरुत्रा चरथं दधे।
नकिष्ट्वा नि यमदा सुते गमो महाँश्चरस्योजसा ॥२॥

(न) जैसे (मृगः वारणः) जङ्गली हाथी, जङ्गल में (दाना=दानानि) तोड़-फोड़ (दधे) करता है, और (पुरुत्रा) बहुत स्थानों में (चरथं दधे) स्वच्छन्द विचरता है, वैसे ही तू मुक्तात्मा, शारीरिक बन्धनों को तोड़-फोड़ कर सर्वत्र स्वच्छन्द विचरता है। हे मुक्तात्मन्! स्वच्छन्द विचरने में (नकिः) कोई नहीं (त्वा) तुझे (नियमत्) नियन्त्रित कर सकता है। (सुते) इस उत्पन्न जगत् में (आ गमः) तू फिर लौट कर आता है, पुनः जन्म धारण करता है। तू (महान्) महाशक्ति से सम्पन्न होकर (ओजसा) निज शक्ति द्वारा (चरसि) विचरता है।

[मन्त्र ३२९ में उपासक के आनन्दरसपान का वर्णन हुआ है। आनन्दरसपान कर जब जीवात्मा मुक्त हो जाता है, उस का वर्णन ३३०वें मन्त्र में हुआ है। दाना=दाप् लवणे; दान खण्डने।]

३३१. य उग्रः सन्ननिष्टृतः स्थिरो रणाय संस्कृतः।
यदि स्तोतुर्मघवा शृणवद्धवं नेन्द्रो योषत्या गमत् ॥३॥

(यः) जो (स्थिरः) सदा स्थिर रहनेवाला नित्य जीवात्मा, (रणाय) आसुरी शक्तियों के साथ युद्ध के लिये (संस्कृतः) अच्छी प्रकार तय्यार हो गया है, वह (उग्रः सन्) उग्ररूप होकर (अनिष्टृतः) आसुरी शक्तियों द्वारा आच्छादित नहीं हो पाता। तब (यदि) अगर (मघवा इन्द्रः) ऐश्वर्यशाली परमेश्वर (स्तोतुः) स्तुतिकर्त्ता की (हवम्) मोक्षसम्बन्धी पुकार को (शृणवत्) सुन लेता है, तब वह स्तुतिकर्त्ता (योषति न) जन्म-मरण के बन्धन में आकर हिंसित नहीं होता, अपितु (आ गमत्) परमेश्वर की शरण में ही आ जाता है। [अनिष्टृतः=अ+नि+स्तृ (आच्छादने)। संस्कृतः=शस्त्रैः अलंकृतः (सायण)। योषति=यूष हिंसायाम्।]

सूक्त ५४

१-३ रेभः। इन्द्रः। १ अतिजगती, २-३ उपरिष्टाद् बृहती।

३३२. विश्वाः पृतना अभिभूतरं नरं सजूस्ततक्षुरिन्द्रं जजनुश्च राजसे।
क्रत्वा वरिष्ठं वर आमुरिमुतोग्रमोजिष्ठं तवसं तरस्विनम् ॥१॥

(विश्वाः पृतनाः) काम क्रोध आदि की सब सेनाओं का (अभिभूतरम्) पराभव करनेवाले, (नरम्) जगन्नेता, (सजूः) अपने साथी, (क्रत्वा) सत्कर्मों और प्रज्ञाओं की दृष्टि से (वरिष्ठम्) सर्वश्रेष्ठ, (वरे) उपासक को वर लेने पर (आमुरिम्) उसकी अविद्या का पूर्णतया विनाश करनेवाले, (उत) और (उग्रम्) अविद्या के विनाश करने में उग्ररूप, (ओजिष्ठम्) अत्यन्त ओजस्वी, (तरस्विनम्) बलवान् तथा (तरसम्) बलस्वरूप (इन्द्रम्) परमेश्वर को,—प्रथम तो उपासक (ततक्षुः) आभासिक प्रतीति के रूप में, (च) और तदनन्तर (जजनुः) प्रत्यक्ष प्रतीति के रूप में प्रकट कर लेते हैं, (राजसे) ताकि परमेश्वर उन पर राज्य करे, और उनके हृदयों में सदा विराजमान रहे। [क्रतु=कर्म (निघ० २।१); प्रज्ञा (निघ० ३।९)। तरस्=बल (निघ० २।९)। आमुरिम्=मृ हिंसायाम्।]

३३३. समीं रेभासो अस्वरन्निन्द्रं सोमस्य पीतये ।
स्वर्पतिं यदीं वृधे धृतव्रतो ह्योजसा समूतिभिः ॥२॥

(रेभासः) अर्चनाएं करनेवाले उपासक, (सोमस्य पीतये) परमेश्वर द्वारा भक्तिरस के पान के लिये,—(यद्) जो (स्वर्पतिम्) सुखों और सुखसामग्री के पति (ईम्) इस और (ईम्) इस ही, (इन्द्रम्) परमेश्वर के प्रति (सम्) परस्पर मिलकर (अस्वरन्) स्वरपूर्वक स्तुतियां करते हैं, इसका कारण यह है कि परमेश्वर (हि) निश्चय से, (ओजसा) निज ओज द्वारा, तथा (ऊतिभिः) रक्षाओं द्वारा, (संवृधे) उपासकों की सम्यक्-वृद्धि के लिये, (धृतव्रतः) मानो व्रतधारण किये हुये है। [रेभः=स्तोता (निघ० ३।१६)। रेभति=अर्चतिकर्मा (निघ० ३।१४)। तथा रेभृ शब्दे शब्दयितारः, स्तोतारः (सायण)।]

३३४. नेमिं नमन्ति चक्षसा मेषं विप्रा अभिस्वराः ।
सुदीतयो वो अद्रुहोऽपि कर्णे तरस्विनः समृक्वभिः ॥३॥

(नेमिम्) जगद्रथ के नेमिरूप, तथा (मेषम्) आनन्दरसवर्षी परमेश्वर को, (चक्षसा) अन्तर्दृष्टि द्वारा साक्षात्कार कर लेने पर, (अभिस्वराः) स्वरपूर्वक परमेश्वरीय गान गानेवाले (विप्राः) मेधावी उपासक, (नमन्ति) नमस्कार करते हैं, और उसे अपनी ओर नमा लेते हैं, झुका लेते हैं। तथा हे अभिनव उपासको!—(सुदीतयः) अपने अविद्यादि

क्लेशों को उत्तम प्रकार से क्षीण किये हुये (अपि) तथा (अद्रुहः) द्रोह आदि से रहित उच्च कोटि के उपासक,—(तरस्विनः) उत्साहपूर्वक,—(वः) तुम्हारे (कर्णे) कानों में (ऋक्वभिः) अर्चना के साधनभूत मन्त्रों द्वारा, (सम्) सम्यक् प्रकार से दीक्षा मन्त्र देते हैं।

[सुदीतयः=सु+दीङ् क्षये+क्तिन्। मेषम्=मिष सेचने।]

सूक्त ५५

१-३ रेभः। इन्द्रः। १ अतिजगती; २-३ बृहती।

३३५. तमिन्द्रं जोहवीमि मघवानमुग्रं सत्रा दधानमप्रतिष्कुतं शवांसि ।
मंहिष्ठो गीर्भिरा च यज्ञियो ववर्तद् राये नो विश्वा सुपथा कृणोतु वज्री ॥१॥

(तम् इन्द्रम्) उस परमेश्वर के प्रति (जोहवीमि) मैं श्रद्धापूर्वक और बार-बार आत्माहुतियां प्रदान करता हूं, जो कि (मघवानम्) ऐश्वर्यों का स्वामी है, (उग्रम्) शासन में उग्र, और (सत्रा) वास्तव में (शवांसि) नाना बलों को (दधानम्) धारण करता, (अप्रतिष्कुतम्) जो विरोधी शक्तियों द्वारा झुकाया नहीं जा सकता। (मंहिष्ठः) जो पूजनीय और महादानी है, (यज्ञियः) यज्ञों में एकमात्र पूजनीय वह परमेश्वर, (गीर्भिः) स्तुतियों और प्रार्थनाओं द्वारा (आ ववर्तद्) आकृष्ट हो जाता है। (राये) सांसारिक और आध्यात्मिक ऐश्वर्यों की प्राप्ति के लिये वह (नः) हमारे लिये (विश्वा सुपथा) सब मार्गों को सुमार्ग और सुगम (कृणोतु) करे। (वज्री) वह पाप-वृत्रों पर वज्र-प्रहार करता है। [अप्रतिष्कुतः=अ+प्रति+ष्कुञ् (आप्रवणे)+क्त।]

३३६. या इन्द्र भुज आभरः स्वर्वाँ असुरेभ्यः ।
स्तोतारमिन्मघवन्नस्य वर्धय ये च त्वे वृक्तबर्हिषः ॥२॥

(इन्द्र) हे परमेश्वर! आप (स्वर्वान्) प्रकाशमान तथा सुखसामग्री के भण्डारी हैं। आप (असुरेभ्यः) असुरों से, अपने प्राणपोषण-मात्र में जो रत हैं उनसे, (याः) जो उनकी (भुजः) भोग-सामग्रियां हैं उन्हें (आ भरः) हर लेते हैं। (मघवन्) हे सम्पत्तिशाली परमेश्वर! आप (स्तोतारम् इत्) अपने स्तुतिकर्त्ता को ही (अस्य) इस सम्पत्ति के

दान द्वारा (वर्धय) बढ़ाइये, (च) और उन्हें भी बढ़ाइये (ये) जोकि (त्वे) आपकी प्रसन्नता के निमित्त (वृक्तबर्हिषः) कर्मकाण्डीय यज्ञकर्म करते हैं।

[छान्दोग्य उपनिषद्, अध्याय ८, खण्ड ६ में 'असुर' का लक्षण निम्नलिखित किया है,—"तस्मादप्यद्येहाददानमश्रद्दधानमयजमानमाहुरसुरो बतेति। असुराणां ह्येषोपनिषद् प्रेतस्य शरीरं भिक्षया वसनेनालङ्कारेणेति संस्कुर्वन्ति। एतेन ह्यमुं लोकं जेष्यन्तो मन्यन्ते"। अर्थात् दान न देनेवाले,श्रद्धाहीन,और यज्ञों को न करनेवाले को'असुर'कहते हैं। ये मृत के भी शरीर को अन्न द्वारा, वस्त्रों द्वारा, आभूषणों द्वारा सुशोभित करते हैं, इस विचार से कि इन कर्मों द्वारा प्रेत परलोक पर विजय पालेगा"। अतः सांसारिक भोग ही असुरों के लिये जीवन का ध्येय होता है। ऐसे विचारोंवाले व्यक्ति स्वार्थपरायण होते हैं, और उत्पातों के कारण बन जाते हैं। अतः इनकी सम्पत्तियों पर नियन्त्रण आवश्यक है। जो प्रभु के सच्चे भक्त होते हैं, वे परोपकार परसेवा की भावनावाले होते हैं। ऐसों के पास आई सम्पत्ति परसेवार्थ होती है।]

३३७. यमिन्द्र दधिषे त्वमश्वं गां भागमव्ययम्।

यजमाने सुन्वति दक्षिणावति तस्मिन् तं धेहि मा पणौ ॥३॥

(इन्द्र) हे परमेश्वर! (त्वम्) आप (यम्) जिस (अश्वं गाम्) अश्व तथा गौ आदि, और (अव्ययम्) अविनाशी (भागम्) सेवनीय मोक्षरूपी सम्पत्ति को (दधिषे) धारण करते हैं, इनके स्वामी हैं, (तम्) उस सम्पत्ति को आप, (तस्मिन् यजमाने) उस परोपकार-यज्ञ करनेवाले, (सुन्वति) भक्तिरसार्द्र हृदयवाले, (दक्षिणावति) सब की वृद्धि तथा प्रगति चाहनेवाले में (धेहि) स्थापित तथा पोषित कीजिये, (पणौ मा) कंजूस व्यापारी में उस सम्पत्ति को स्थापित न कीजिये।

सूक्त ५६

१-६ गोतमः। इन्द्रः। त्रिष्टुप्।

३३८. इन्द्रो मदाय वावृधे शवसे वृत्रहा नृभिः।

तमिन्महत्स्वाजिषूतेमर्भे हवामहे स वाजेषु प्र नोऽविषत् ॥१॥

(नृभिः) नर-नारियों द्वारा उपासित (इन्द्रः) परमेश्वर (वृत्रहा) उपासकों के पापों का हनन करता है, और (वावृधे) उनकी वृद्धि करता, और उन्हें (मदाय) हर्ष तथा आध्यात्मिक तृप्ति, तथा (शवसे) बलप्रदान के लिये तत्पर रहता है। (महत्सु) बड़े (आजिषु) देवासुर-संग्रामों में, (उत) और (अर्भे) छोटे देवासुर-संग्रामों में (तम् इत् इम्) उसी परमेश्वर का (हवामहे) हम आह्वान करते हैं। (सः) वह परमेश्वर (वाजेषु) इन संग्रामों में (नः) हमारी (प्र अविषत्) पूर्णरक्षा करता है।

[बड़े संग्राम वे जब कि काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि इकट्ठे होकर संग्राम में उपस्थित होते हैं, तथा छोटे संग्राम वे जब कि इनमें से किसी एक के साथ संग्राम लड़ना होता है।]

३३९. असि हि वीर सेन्योऽसि भूरि पराददिः।

असि दभ्रस्य चिद् वृधो यजमानाय शिक्षसि सुन्वते भूरि ते वसु ॥२॥

(वीर) हे प्रेरणाओं के देनेवाले परमेश्वर! आप (हि) ही (सेन्यः) सद्गुणों की सेना के नायक (असि) हैं। आप ही (भूरि) बहुमात्रा में (पराददिः) आसुरी-भावनाओं को परास्त कर दैवी-भावनाओं के दाता हैं। (दभ्रस्य) छोटे या अभिनव उपासक को (चित्) भी (वृधः असि) आप बढ़ाते हैं। (यजमानाय) उपासना-यज्ञ के रचयिता, तथा (सुन्वते) भक्तिरसवाले उपासक को आप (शिक्षसि) शिक्षा देते हैं, और सम्पत्तियां देते हैं। (ते) आपकी (वसु) सम्पत्तियां (भूरि) प्रभूत हैं, अक्षय्य हैं।

३४०. यदुदीरत आजयो धृष्णवे धीयते धना।

युक्ष्वा मदच्युता हरी कं हनः कं वसौ दधोऽस्माँ इन्द्र वसौ दधः ॥३॥

(यद्) जब जीवन में (आजयः) देवासुर-संग्राम (उदीरते) उठते हैं, तब (धृष्णवे) असुरों का धर्षण अर्थात् पराभव करनेवाले के लिये, हे परमेश्वर! आप द्वारा (धना) आध्यात्मिक धन, अर्थात् आत्मिक बल (धीयते) स्थापित किया जाता है। (मदच्युता) जिनसे मद-मस्ती च्युत हो गई है, हट गई है, ऐसे (हरी) कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रियरूपी अश्वों को आप (युक्ष्व) ही योगयुक्त करते हैं। हे परमेश्वर! आप (कम्) किसी व्यक्ति का तो हनन करते हैं, अर्थात् जन्म-मरण की परम्परा द्वारा उसे कष्ट भुगवाते हैं, और (कम्) किसी व्यक्ति को आप (वसौ) आध्यात्मिक-सम्पत् में (दधः) स्थापित करते हैं [यह सब उन-उन के कर्मा-

नुसार है] । (इन्द्र) हे परमेश्वर ! (अस्मान्) हम पाप धर्षकों को आप (वसौ) आध्यात्मिक-सम्पत् में (दधः) स्थापित कीजिये ।

३४१. मदेमदे हि नो दुदिर्यूथा गवामृजुक्रतुः ।
सं गृभाय पुरू शतोभया हस्त्या वसु शिशीहि राय आ भर ॥४॥

हे परमेश्वर ! (मदेमदे) जब-जब आप प्रसन्न हों तब तब आप (नः) हम उपासकों को (गवाम्) सुखसामग्री के (यूथा) समूह (ददिः) देते रहिये । (ऋजुक्रतुः) आपके कर्म और संकल्प सत्यमय हैं, जैसे धनी (उभया हस्त्या) दोनों हाथ (संगृभाय) भरकर (पुरुवसु) प्रभूत धन देता है, वैसे ही आप भी हमें (शता वसु) सैंकड़ों प्रकार के धन (शिशीहि) प्रदान कीजिये, और हमें धनों से (आ भर) भर दीजिये । [**गवाम्=गौः सुखम्** (उणा० को० २।६८) । वैदिक यन्त्रालय, अजमेर । उभयाहस्त्या= उभयाहस्ति+आ ।]

३४२. मादयस्व सुते सचा शवसे शूर राधसे ।
विद्मा हि त्वा पुरूवसुमुप कामान्त्ससृज्महे ऽथा नोऽविता भव ॥५

हे परमेश्वर ! (सुते) भक्तिरस की निष्पत्ति में आप और हम (सचा) जब इकट्ठे हों, तब भक्तिरस के आस्वादन द्वारा आप अपने आप को, और आनन्दरस के प्रदान द्वारा हम उपासकों को (मादयस्व) प्रसन्न कीजिये । ताकि (शूर) हे दानशूर ! (शवसे) हम आध्यात्मिक बल प्राप्त कर सकें, और (राधसे) सिद्धियां प्राप्त कर सकें । (हि) निश्चयपूर्वक (त्वा) आपको (विद्म) हम जानते हैं कि आप (पुरूवसुम्) प्रभूत सम्पत्-शाली हैं । आप और हम (कामान्) परस्पर की कामनाओं का (उप ससृज्महे) संसर्ग करते हैं । (अथा) तदनन्तर आप (नः) हमारे (अविता) रक्षक (भव) हुजिये ।

[उपासक की कामना है—आनन्दरस, ईश्वर, और मोक्षप्राप्ति । परमेश्वर की कामना है—भक्तिरस, उपासकद्वारा समर्पण, और उपासक को जन्म-मरण की शृङ्खला से छुड़ाना । इन दोनों की कामनाओं का संसर्ग यहां अभीष्ट है ।]

३४३. एते त इन्द्र जन्तवो विश्वं पुष्यन्ति वार्यम् ।
अन्तर्हि ख्यो जनानामर्यो वेदो अदाशुषां तेषां नो वेद आ भर ॥६

(इन्द्र) हे परमेश्वर ! (ते) आपके (एते) ये (जन्तवः) जन्मधारी उपासक, (वार्यम्) श्रेष्ठ (विश्वम्) सब प्रजाजनों का (पुष्यन्ति) परि-पोषण करते हैं । (जनानाम्) इन जन्मधारी उपासकों के (अन्तः) हृदयों के भीतर आप (ख्यः) सत्-ज्ञान का प्रकथन करते रहते हैं । (अर्यः) आप सब धनों के स्वामी हैं, (वेदः) सर्ववेत्ता हैं । (तेषाम्) उन (अदाशुषाम्) अदानियों की (वेदः) सम्पत्तियां (नः) हम उपासकों को (आभर) प्रदान कीजिये ।

[संसार में विषमताएं हैं, इनका अपलाप नहीं किया जा सकता । शारीरिक विषमताएं हैं,—कोई लम्बा कोई नाटा, कोई सुरूप, कोई कुरूप, कोई स्वस्थ, कोई रुग्ण, कोई बलशाली कोई निर्बल । इसी प्रकार मानसिक विषमताएं हैं—कोई महाज्ञानी कोई अल्पज्ञानी, कोई अज्ञानी । परन्तु आर्थिक विषमताएं सामाजिक-जीवन में अधिक दुष्परिणामी होती हैं । इन आर्थिक विषमताओं को दूर करना वेदानुमोदित है । वेदों में इसका सरल उपाय दर्शाया है,त्यागपूर्वक भोग—"**तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मा गृधः**" (यजु० ४०।१), और धन को जमा करने की गर्धा का त्याग । इसीलिये मन्त्र में यह भावना प्रकट की है कि अदानियों के पास धन का संग्रह न होना चाहिये ; और परोपकारी, परमेश्वर के उपासकों को सम्पत् का स्वामी होना चाहिये, ताकि वे समग्र प्रजाजन का परिपोषण कर सकें ।]

सूक्त ५७

१-३ मधुच्छन्दाः; ४-७ विश्वामित्रः; ८-१० गृत्समदः; ११-१६ मेध्यातिथिः । इन्द्रः । गायत्री ।

३४४. सुरूपकृत्नुमूतये सुदुघामिव गोदुहे ।
जुहूमसि द्यविद्यवि ॥१॥

(ऊतये) आत्मरक्षा के लिये हम, (द्यविद्यवि) प्रतिदिन, (सुरूप-कृत्नुम्) उत्तमरूपों के कर्त्ता परमेश्वर के प्रति (जुहूमसि) भक्ति, श्रद्धा, और आत्मसमर्पण की आहुतियां देते हैं, (इव) जैसे कि (गोदुहे) गौ के दोहने के लिये, (सुदुघाम्) सुगमता से दोही जानेवाली, तथा उत्तम-दुग्ध देनेवाली गौ के प्रति, प्रतिदिन, (जहूमसि) हम उत्तम चारा देते हैं ।

[सुरूपकृत्नुम्—इसके दो अभिप्राय हैं । एक तो यह कि परमेश्वर

ने जगत् में जो रचनाएं रची है, वे सब अपने में सुन्दररूपवाली हैं। इस दृष्टि से परमेश्वर को 'त्वष्टा' भी कहते हैं। त्वष्टा का काम है "नाना रूपों का रचना"। परमेश्वर को सुन्दर भी कहा जाता है—सत्य,शिवं, सुन्दरम्। परमेश्वर के ज्ञान में सौन्दर्य की भावनाएं हैं। इसी कारण परमेश्वर द्वारा रचित रचनाएं सुन्दर हैं। दूसरा यह अभिप्राय है कि परमेश्वन् उपासक के दुर्गुणों को हटाकर उसमें सुन्दर गुणों की स्थापना करता है।

३४५. उप नः सवना गहि सोमस्य सोमपाः पिब ।
गोदा इद् रेवतो मदः ॥२॥

(सोमपाः) हे परमेश्वर! आप भक्तिरस चाहते हैं। (नः) हमारे (सवना) उपासना-यज्ञों में आप (उप आ गहि) हमारे हृदयस्थ हूजिये, और (सोमस्य) भक्तिरस को (पिब) स्वीकार कीजिये। (रेवतः) सब सम्पत्तियों के स्वामी आपकी (मदः) प्रसन्नता (गोदा इत्) हमें अवश्य ज्ञान प्रकाश देती है। [गो=किरणें=प्रकाश+दा।]

३४६. अथा ते अन्तमानां विद्याम सुमतीनाम् ।
मा नो अति ख्य आ गहि ॥३॥

(अथ) ज्ञानप्रकाश प्राप्त कर लेने पर, हे परमेश्वर!, वेदों में (ते) आप द्वारा दी गई (अन्तमानाम्) अन्तिम प्रमाणरूप (सुमतीनाम्) सुमतियों को (विद्याम) हम जानें, और प्राप्त करें। हे परमेश्वर! इस सम्बन्ध में आप (नः) हमारा (मा अतिख्यः) प्रत्याख्यान न करें। (आ गहि) आप हम में प्रकट हूजिये।

३४७. शुष्मिन्तमं न ऊतये द्युम्निनं पाहि जागृविम् ।
इन्द्र सोमं शतक्रतो ॥४॥

(शतक्रतो)हे सैंकड़ोंअद्भुत कर्मोंवाले विश्वकर्मा (इन्द्र) परमेश्वर! (नः ऊतये) हमारी रक्षा के लिये, (नः सोमम्) हमारे भक्तिरस की (पाहि) आप रक्षा कीजिये, जो भक्तिरस कि (शुष्मिन्तमम्) पापों को शोषण करने का बल देता, (द्युम्निनम्) आध्यात्मिक-धन अर्थात् विभूतियां प्रदान करता, तथा उपासक को अपने कर्मों में सदा (जागृविम्) सावधान रखता है। [मन्त्र में "पाहि" शब्द द्वारा सोम की रक्षा का वर्णन किया है। अन्य मन्त्रों में "पिब" शब्द द्वारा सोम के पान का वर्णन हुआ है। सम्भ-

वतः इन स्थानों में भी "पाहि" के अर्थ में "पिब" शब्द का वैदिक प्रयोग हो।]

३४८. इन्द्रियाणि शतक्रतो या ते जनेषु पञ्चसु ।
इन्द्र तानि त आ वृणे ॥५॥

(शतक्रतो इन्द्र) हे सैंकड़ों अद्भुत कर्मोंवाले परमेश्वर! (पञ्चसु जनेषु) पांच प्रकार के प्रजाजनों में, या विस्तृत अर्थात् पृथिवी पर फैले प्रजाजनों में, (ते) आपको दी हुई (या) जो (इन्द्रियाणि) इन्द्रियां हैं, वे स्वस्थ बनी रहें,—यह मैं (ते) आप से (आ वृणे) वर मांगता हूं।

[पञ्चजन=ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, तथा निषाद (=वैदिक कर्मों से विहीन व्यक्ति)। अथवा पञ्च=पच् विस्तारे। [इन्द्रियाणि—जैसे प्रार्थना की है कि—"**पश्येम शरदः शतम्, शृणुयाम शरदः शतम्, प्रब्रवाम शरदः शतम्**"।]

३४९. अगन्निन्द्र श्रवो बृहद् द्युम्नं दधिष्व दुष्टरम् ।
उत् ते शुष्मं तिरामसि ॥६॥

(इन्द्र) हे परमेश्वर! आपकी कृपा से (श्रवः) श्रवण अर्थात् श्रोत्र आदि इन्द्रियां (अगन्) हमें मिली हैं, जो कि (बृहद् द्युम्नम्) महाधन रूप हैं, (दधिष्व) इन्हें आप हम में धारण कीजिये। (दुष्टरम्) इन्हें अपराभवनीय बनाइये। ताकि (ते) आपके (शुष्मम्) पाप-शोषक बल को प्राप्त कर, और (उत्) उत्कृष्ट बनकर (तिरामसि) हम पापों को तिरोहित तथा तिरस्कृत कर दें।

३५०. अर्वावतो न आ गह्यथो शक्र परावतः ।
उ लोको यस्ते अद्रिव इन्द्रेह तत अ गहि ॥७॥

(शक्र) हे सर्वशक्तिमान् परमेश्वर! (अर्वावतः) अवराविद्यावाले (अथो) या (परावतः) पराविद्यावाले (नः) हम उपासकों की ओर (आ गहि) आप कृपा-दृष्टि कीजिये, उनकी ओर आवर्जित हूजिये। (अद्रिवः) हे पाप-विनाशिन्! या आदरणीय-उपासकों के स्वामिन्! (ते) आपका जो (उ) वह (लोकः) तुरीय-धाम है, (ततः) वहां से (इह) मेरे इस

हृदय में (आ गहि) आ प्रकट हूजिये । [अर्वा=अर्वाक् । देखो—मन्त्र-संख्या २८; २९ ।]

३५१. इन्द्रो अङ्ग महद् भयमभी षदप चुच्यवत् ।
स हि स्थिरो विचर्षणिः ॥८॥

(अङ्ग) हे प्रिय !, (इन्द्रः) परमेश्वर (महद् भयम्) महाभय अर्थात् जन्म-मरण के भय को (अभीषद्) विशीर्ण कर देता है, (अप चुच्यवत्) और उसे दूर कर देता है । (सः हि) वह परमेश्वर ही (स्थिरः) कूटस्थ है, (विचर्षणिः) और सब विविध जगत् का द्रष्टा है ।

[अभीषद्=अभि+षद्लृ विशरणे)।]

३५२. इन्द्रश्च मृलयाति नो न नः पश्चादघं नशत् ।
भद्रं भवाति नः पुरः ॥९॥

(च) और (इन्द्रः) परमेश्वर ही (नः) हमें (मृलयाति) सुख-सामग्री देता है । उसी की कृपा से (नः) हमें (पश्चात्) अनजाने भी (अघम्) पाप (न नशत्) नहीं प्राप्त होता । और उसी की कृपा से (नः) हमारे (पुरः) सामने सदा (भद्र भवाति) सुख और कल्याण विराजता है, अर्थात् हमारी दृष्टि में सदा सुख और कल्याण का मार्ग रहता है ।

३५३. इन्द्र आशाभ्यस्परि सर्वाभ्यो अभयं करत् ।
जेता शत्रून् विचर्षणिः ॥१०॥

(इन्द्रः) परमेश्वर (सर्वाभ्यः आशाभ्यः परि) सब दिशाओं से हमें (अभयं करत्) निर्भय कर देता है । वह (शत्रून्) सभी बाधाओं पर (जेता) विजय पाये हुये है । (विचर्षणिः) वह सब विविध जगत् का द्रष्टा है ।

३५४. क ईं वेद सुते सचा पिबन्तं कद् वयो दधे ।
अयं यः पुरो विभिनत्त्योजसा मन्दानः शिप्रयन्धसः ॥११॥

देखो—मन्त्र-संख्या ३२९ ।

३५५. दाना मृगो न वारणः पुरुत्रा चरथं दधे ।
नकिष्ट्वा नि यमदा सुते गमो महांश्चरस्योजसा ॥१२॥

देखो—मन्त्र-संख्या ३३० ।

३५६. य उग्रः सन्ननिष्टृत स्थिरो रणाय संस्कृतः ।
यदि स्तोतुर्मघवा शृणवद्धवं नेन्द्रो योषत्या गमत् ॥१३॥

देखो—मन्त्र-संख्या ३३१ ।

३५७. वयं घ त्वा सुतावन्त आपो न वृक्तबर्हिषः ।
पवित्रस्य प्रस्रवणेषु वृत्रहन् परि स्तोतार आसते ॥१४॥

देखो—मन्त्र-संख्या ३२६ ।

३५८. स्वरन्ति त्वा सुते नरो वसो निरेक उक्थिनः ।
कदा सुतं तृषाण ओक आ गम इन्द्र स्वब्दीव वंसगः ॥१५॥

देखो—मन्त्र-संख्या ३२७ ।

३५९. कण्वेभिर्धृष्णवा धृषद् वाजं दर्षि सहस्रिणम् ।
पिशङ्गरूपं मघवन् विचर्षणे मक्षू गोमन्तमीमहे ॥१६॥

देखो—मन्त्र-संख्या ३२८ ।

सूक्त ५८

१-२ नृमेधः; ३-४ जमदग्निः । १-२ इन्द्रः; ३-४ सूर्यः । प्रगाथः (बृहती + सतोबृहती) ।

३६०. श्रायन्त इव सूर्यं विश्वेदिन्द्रस्य भक्षत ।
वसूनि जाते जनमान ओजसा प्रति भागं न दीधिम ॥१॥

हे प्रजाजनो ! (इव) जैसे (सूर्यम्) सूर्य का (श्रायन्तः) आश्रय लेकर सूर्य के ताप और प्रकाश का तुम सब भोग करते हो, वैसे (इन्द्रस्य) परमेश्वर का आश्रय लेकर तुम सब परमेश्वर की (विश्वा) सब (वसूनि) सम्पत्तियों का (इत्) भी (भक्षत) भोग किया करो, और (ओजसा) इस प्रकार ओज से सम्पन्न होओ । और (न) जैसे (जाते) उत्पन्न हुई सन्तान, और (जायमाने) उत्पन्न हो रही सन्तान में, माता-पिता की सम्पत्तियों का (भागम्) विभाग, (प्रति) प्रत्येक सन्तान को दृष्टि में रखकर नियत किया जाता है, वैसे हम सब के लिये, अर्थात् प्रत्येक के

लिये, परमेश्वर की सम्पत्तियों का विभाग (दीधिम) नियत विधि से स्थापित करते हैं ।

३६१. अनर्शरातिं वसुदामुप स्तुहि भद्रा इन्द्रस्य रातयः ।
सो अस्य कामं विधतो न रोषति मनो दानाय चोदयन् ॥२॥

(अनर्शरातिम्) अश्लीलता की ओर न प्रेरित करनेवाले पवित्र दान के दाता, (वसुदाम्) तथा सदा सम्पत्तियों के दाता परमेश्वर की,— हे उपासक ! तू (उप स्तुहि) उपासना की विधि से स्तुतियां किया कर, और यह समझ कि (इन्द्रस्य) परमेश्वर के (रातयः) सब दान (भद्राः) सुखदायी और कल्याणप्रद हैं। (सः) वह परमेश्वर (अस्य विधतः) इस उपासक के (मनः) मन को (दानाय) दान करने के लिये (चोदयन्) प्रेरित करता हुआ, (अस्य) इस उपासक की (कामम्) मोक्षकामना को (न रोषति) असफल नहीं करता ।

[परमेश्वर के सभी दान पवित्र हैं। मनुष्य अपनी दूषित मनोभावनाओं से उन्हें दूषित कर देता है। रूप, रंग, आकृतियां, स्त्री पुरुष,—इत्यादि सम्पत्तियां सब पवित्र हैं। परमेश्वर सदा इन सम्पत्तियों का दान करता रहता है। आर्थिक-सम्पत्तियां भी परमेश्वर ही देता है। परन्तु इनका विषम विभाग कर हम ही इन सम्पत्तियों को दुष्परिणामी बना देते हैं। प्रत्येक को चाहिये कि वह प्राप्त सम्पत्तियों का दान किया करे। इस प्रकार त्यागपूर्वक और गर्धा से हीन भोगी होकर मोक्ष की ओर प्रगति करता जाय ।

[अनर्शरातिम्=अनश्लीलरातिम् । अश्लीलं पापकम् (नि० ६।५। २३) । **विधतः, विधेम=परिचर्या** (निघ० ३।५)।]

३६२. बण्महाँ असि सूर्य बडादित्य महाँ असि ।
महस्ते सतो महिमा पनस्यतेऽद्धा देव महाँ असि ॥३॥

(सूर्य) हे सूर्य ! (बट्) सत्य है कि आप (महान् असि) महान् हैं, (आदित्य) हे आदित्य ! (बट्) सत्य है कि आप (महान् असि) महान् हैं। (ते) आप (महः) महान् की ही (महिमा पनस्यते) महिमा सर्वत्र गाई जाती है। (देव) हे दिव्यप्रकाशी (अद्धा) सत्य है कि आप (महान् असि) महान् हैं ।

[**बट्=सत्यम्** (निघ० ३।१०) । **अद्धा=सत्यम्** (निघ० ३।१०) । परमेश्वर की महिमा के द्योतन के लिये परमेश्वर का स्मरण तीन नामों द्वारा किया गया है। "सूर्य" के उदय होने पर सूर्य से किरणें निकलती हैं। इसी प्रकार परमेश्वर जब सृष्टि-रचना के लिये उद्यत होता है, तब इस से सृष्टि भिन्न-भिन्न रूपों में प्रकट होती है। तथा "आदित्य" शब्द द्वारा प्रलय को सूचित किया है। आदित्य का अर्थ है—"आदत्ते"। अर्थात् परमेश्वर जब प्रलय में सृष्टि का "आदान" करता है तब वह आदित्य है। इसी प्रकार "देव" शब्द द्वारा सृष्टि की स्थिति को सूचित किया है, जब कि सृष्टि का प्रकाश हो रहा है। इस प्रकार सृष्टि की उत्पत्ति, प्रलय, और स्थिति की सूचना, सूर्य आदित्य और देव इन शब्दों द्वारा दी गई है। जगत् की तीनों परिस्थितियां परमेश्वर की महिमा को सूचित करती हैं ।]

३६३. बट् सूर्य श्रवसा महाँ असि सत्रा देव महाँ असि ।
मह्ना देवानामसुर्यः पुरोहितो विभु ज्योतिरदाभ्यम् ॥४॥

(सूर्य) हे आदित्यवर्णी ! (श्रवसा) कीर्त्ति की दृष्टि से आप (महान् असि) महान् हैं,—(सत्रा) यह सत्य है। (देव) हे प्रकाशमान ! आप (महान् असि) महान् हैं, (सत्रा) यह सत्य है। (मह्ना) निज महिमा से आप (देवानाम्) दिव्य शक्तियों के (असुर्यः) प्राणदाताओं के भी प्राण हैं, (पुरोहितः) आप दिव्य शक्तियों के मुखिया हैं, (विभु) सर्वव्यापक तथा विभूतिमान् हैं, आप (अदाभ्यं ज्योतिः) अनश्वर ज्योति हैं ।

[सत्रा=सत्यम् (निघ० २।१०)।]

सूक्त ५९

१-२ **मेध्यातिथिः; ३-४ वसिष्ठः । इन्द्रः । प्रगाथः** (बृहती+सतो बृहती) ।

३६४. उदु त्ये मधुमत्तमा गिर स्तोमास ईरते ।
सत्राजितो धनसा अक्षितोतयो वाजयन्तो रथा इव ॥१॥

(त्ये) वे प्रसिद्ध (गिरः) वैदिक स्तुतिवाणियां, और (मधुमत्तमाः) अत्यन्त मधुर (स्तोमासः) सामगान, (उद्) उच्चस्वर में, हे परमेश्वर ! आपके प्रति (ईरते) प्रेरित किये जा रहे हैं, (इव) जैसे कि (सत्राजितः) वस्तुतः विजय करानेवाले, (धनसाः) व्यापार द्वारा धन की प्राप्ति करानेवाले,

(अक्षितोतयः) न क्षीण होनेवाली रक्षा प्रदान करनेवाले, (वाजयन्तः) गति और वेग के साधनभूत (रथाः) विमान-रथ, (उद् ईरते) ऊंचे आकाश में प्रेरित किये जाते हैं।

३६५. कण्वा इव भृगवः सूर्या इव विश्वमिद्धीतमानशुः ।
इन्द्रं स्तोमेभिर्महयन्त आयवः प्रियमेधासो अस्वरन् ॥२॥

(कण्वाः) जिनकी चित्तवृत्तियां निमीलित हो गई हैं, और जिन्हें योगजन्य मेधा अर्थात् ऋतम्भरा प्रज्ञा प्राप्त हो चुकी है, ऐसे योगियों के (इव) सदृश, (भृगवः) ध्यानाभ्यास में परिपक्व तथा रजोमयी और तमोमयी वृत्तियों को मानो जिन्होंने भून दिया है ऐसे उपासक भी, (धीतम्) ध्यानद्वारा विषयीकृत (विश्वम् इत्) समग्र वस्तुओं का (आनशुः) ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं, और वे (सूर्या इव) सूर्यों के सदृश प्रकाशमान हो जाते हैं। जबकि (आयवः) सर्वसाधारण मनुष्य, तथा (प्रियमेधासः) ज्ञान की प्राप्ति के प्रेमीजन, (स्तोमेभिः) स्तुतियों द्वारा (इन्द्रम्) परमेश्वर की (महयन्तः) महिमा को (अस्वरन्) उच्चस्वरों में गाते ही रहते हैं।

[कण्वाः=कण निमीलने; तथा मेधाविनः (निघ० ३।१५)। भृगवः=भ्रस्ज पाके। मन्त्र में "कण्वाः" शब्द द्वारा असम्प्रज्ञातयोग-सम्पन्न योगियों का, तथा "भृगवः" शब्द द्वारा सम्प्रज्ञातयोगसम्पन्न योगियों का वर्णन हुआ है।]

३६६. उदिन्न्वस्य रिच्यतेंऽशो धनं न जिग्युषः ।
य इन्द्रो हरिवान्न दभन्ति तं रिपो दक्षं दधाति सोमिनि ॥३॥

(अस्य) इस उपासक का (अंशः) आध्यात्मिक धन अंशरूप में शनैः-शनैः, (उद् इत् नु रिच्यते) निश्चय से बढ़ता ही जाता है, (न) जैसे कि (जग्युषः) विजयी राजा का (धनम्) धन (उद् रिच्यते) बढ़ता जाता है। (यः) जो उपासक (हरिवान्) प्रत्याहार आदि योग-साधनाओं से सम्पन्न है, उसे (रिपः) पाप (न दभन्ति) नहीं दबाते। (इन्द्रः) परमेश्वर (सोमिनि) भक्तिरसवाले उपासक में (दक्षम्) प्रगति और वृद्धि का (दधाति) आधान करता है।

३६७. मन्त्रमखर्वं सुधितं सुपेशसं दधात यज्ञियेष्वा ।
पूर्वीश्चन प्रसितयस्तरन्ति तं य इन्द्रे कर्मणा भुवत् ॥४॥

हे योगिजनो! तुम,-(अखर्वम्) निरभिमानता का उपदेश देनेवाले, (सुधितम्) पूर्णतया हित करनेवाले, (सुपेशसम्) और स्वरों तथा वर्णों से सुकोमल (मन्त्रम्) मन्त्रों की दीक्षा (आ दधात) उन्हें दिया करो, जो कि (यज्ञियेषु) उपासना-यज्ञों के अधिकारी हैं। (ये) जो मन्त्रधारी (कर्मणा) मन्त्रानुसारी कर्मों द्वारा (इन्द्रे) परमेश्वर में (भुवत्) स्थिति-लाभ कर लेता है, (तम्) उसे (पूर्वीः चन) अनादि परम्परा द्वारा प्राप्त (प्रसितयः) अविद्या राग-द्वेष आदि के बन्धन (तरन्ति) तैरा देते हैं। अर्थात् वह अविद्या आदि बन्धनों को काटकर, भवसागर से तैर जाता है। [अखर्वम्=अ+खर्व (दर्पे)। पेशः=कोमल।]

सूक्त ६०

१-३ सुकक्षः वा सुतकक्षः; ४-६ मधुच्छन्दाः। इन्द्रः। गायत्री।

३६८. एवा ह्यसि वीरयुरेवा शूर उत स्थिरः ।
एवा ते राध्यं मनः ॥१॥

हे परमेश्वर! आप (वीरयुः एव) धर्मवीरों को ही चाहते (असि) हैं, (हि) यह निश्चित है। (शूरः) आप पराक्रमशील हैं, (उत) और आप (एव) ही (स्थिरः) सदा रहनेवाले कूटस्थ हैं। (ते) आपका (एव) ही (मनः) दिया हुआ मन है, जो कि (राध्यम्) आराधना द्वारा सिद्ध किया जाने योग्य है।

३६९. एवा रातिस्तुवीमघ विश्वेभिर्धायि धातृभिः ।
अधा चिदिन्द्र मे सचा ॥२॥

(तुवीमघ) हे महा-ऐश्वर्यशाली महेश्वर! (विश्वेभिः) धारणा-ध्यानवाले सब योगिजन, (रातिः) आप द्वारा दी गई विभूतियों को (धायि) धारण करते हैं,—(एवा) यह निश्चित है। (अधा चित्) तदनन्तर ही, अर्थात् आध्यात्मिक विभूतियां धारण करने के पश्चात् ही, (इन्द्र) हे महेश्वर! आप (मे) मेरे (सचा) साथी अर्थात् सखा बनते हैं।

३७०. मो षु ब्रह्मेव तन्द्रयुर्भुवो वाजानां पते ।
मत्स्वा सुतस्य गोमतः ॥३॥

परमेश्वर द्वारा दिये गये (वाजानाम्) आध्यात्मिक-अन्नों और आध्यात्मिक-बलों के (पते) हे पति ! हे योगेश्वर ! आप इन अन्नों और बलों के प्रदान में (तन्द्रयुः) आलसी (मा उ भुवः) कभी न हूजिये, अपितु (सु ब्रह्मा इव) चारों वेदों के जाननेवाले श्रेष्ठ-ब्रह्मा के सदृश, योगविद्या के दान देने में आप भी (भुवः) सक्रिय हूजिये। और (गोमतः) वेदवाणी के स्वामी परमेश्वर के निमित्त (सुतस्य) निष्पादित भक्तिरस के आस्वादन में (मत्स्व) मस्त रहिये। अभिप्राय यह है कि जैसे श्रेष्ठ-ब्रह्मा सदा परोपकारार्थं वेदविद्या का दान करता है, वैसे आप योगेश्वर भी योगविद्या का सदा दान करते रहिये। ब्रह्मा के सम्बन्ध में कहा है कि—"**ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्याम्**" (ऋ० १०।७१।११), अर्थात् ब्रह्मा वेदविद्या का कथन करता रहता है।

[**वाजानाम्—वाजः=अन्नम्** (निघ० २।५); **बलम्** (निघ०२।९)। आध्यात्मिक विभूतियां उपासक के लिये आध्यात्मिक-अन्न तथा आध्यात्मिक-बल रूप होती हैं। यथा—"**ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः**" (योगदर्शन ३।३७)। **गो=वाक्** (निघ० १।११)।]

३७१. एवा ह्यस्य सूनृता विरप्शी गोमती मही ।
पक्वा शाखा न दाशुषे ॥४॥

(विरप्शी) विविध अर्थात् सांसारिक और आध्यात्मिक तत्त्वों का अभिव्यक्तरूप में वर्णन करनेवाली, (गोमती) सुखदायिनी, (मही) श्रद्धायोग्य (सूनृता) प्रिय तथा सत्यरूपा वेदवाणी (अस्य एव हि) इस ही परमेश्वर की है। वह (दाशुषे) ब्रह्मदान तथा आत्मसमर्पण करनेवाले के लिये (पक्वा शाखा) पक्के फलोंवाली शाखा (न) के समान है।

[विरप्शी=वि+रप् (व्यक्तायां वाचि)। **गोमती—गौः=सुख** (उणा० कोष २।६७), वैदिक पुस्तकालय, अजमेर)।]

३७२. एवा हि ते विभूतय ऊतय इन्द्र मावते ।
सद्यश्चित् सन्ति दाशुषे ॥५॥

(इन्द्र) हे परमेश्वर ! (विभूतयः) ये समग्र विभूतियां (ते एव हि) आप की ही हैं, जोकि (मावते) मुझ जैसे (दाशुषे) दानी और आत्मसमर्पक की (ऊतये) रक्षा के लिये, (सद्यः चित्) शीघ्र ही (सन्ति) उपस्थित हो जाती हैं।

३७३. एवा ह्यस्य काम्या स्तोम उक्थं च शंस्या ।
इन्द्राय सोमपीतये ॥६॥

(सोमपीतये) हमारे भक्तिरसों की रक्षा, तथा उन्हें स्वीकार करनेवाले (इन्द्राय) परमेश्वर के लिये, (काम्या) वाञ्छनीय (उक्थम्) वैदिक-स्तुतियां (च) और (स्तोमः) सामगान (शंस्या) उच्चारित करते रहना चाहिये। [काम्या=काम्यौ। शंस्या=शंस्यौ।]

सूक्त ६१

१-६ गोषूक्ती तथा अश्वसूक्ती। इन्द्रः। उष्णिक्।

३७४. तं ते मदं गृणीमसि वृषणं पृत्सु सासहिम् ।
उ लोककृत्नुमद्रिवो हरिश्रियम् ॥१॥

(अद्रिवः)हे चराचर के अत्ता परमेश्वर ! (ते) आपकी(वृषणम्) वर्षक(तम्) उस(मदम्)प्रसन्नता की (गृणीमसि)हम स्तुतियां करते हैं, । प्रसन्नता कि (पृत्सु)हमारे देवासुर-संग्रामों में(सासहिम्)हमारी आसुरी भावनाओं को परास्त करती, (उ लोककृत्नुम्)प्रज्ञालोक प्रकट करती, और (हरिश्रियम्) ऋग्वेद और सामवेद में जिसकी शोभा है।

'हरी="**ऋक्सामे वा इन्द्रस्य हरी**"(ऐत० ब्रा० २।२४)। **अद्रिः=अत्तेर्वा** (निरु० ४।१।४)।]

३७५. येन ज्योतींष्यायवे मनवे च विवेदिथ ।
मन्दानो अस्य बर्हिषो वि राजसि ॥२॥

(येन) जिस प्रसन्नता के कारण आप, (आयवे) प्रगतिशील, (च) और (मनवे) श्रवण-मनन-निदिध्यासन करनेवाले उपासक के लिये, (ज्योतींषि) विवेकज ज्ञानरूपी ज्योतियां (विवेदिथ) प्रकट करते हैं, वे

आप (मन्दानः) प्रसन्न होकर, (अस्य) इस उपासक के (र्बाहषः) हृदयाकाश में (वि राजसि) विराजमान होते हैं।

[ज्योतींषि= "सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च" (योग ३।४६); तथा "तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्य आनन्त्यात् ज्ञेयमल्पम्" (योग ४।३१)।]

३७६. तदु॒द्या चि॑त्त उ॒क्थिनोऽनु॑ ष्टुवन्ति पू॒र्वथा॑ ।
वृष॑पत्नीर॒पो ज॑या दि॒वेदि॑वे ॥३॥

(तद्) इसलिये, (पूर्वथा) पूर्ववत् (अद्य चित्) आज भी, (ते) आपके (उक्थिनः) स्तोता, आपकी (अनु) निरन्तर (स्तुवन्ति) स्तुतियां करते हैं। अतः (वृषपत्नीः) भक्तिरसवर्षी उपासक द्वारा परिपालित (अपः) उसके कर्मों पर, (दिवेदिवे) दिन प्रतिदिन, (जय) आपका राज्य होता जा रहा है।

[वृषपत्नीः=वृष (=भक्तिरसवर्षी)+पत्नीः (=परिपालित)।]

३७७. तम्व॒भि प्र गा॑यत पुरुहू॒तं पु॑रुष्टु॒तम् ।
इन्द्रं॑ गी॒र्भिस्त॑वि॒षमा वि॑वासत ॥४॥

हे उपासको! (पुरुहूतम्) बहुतों द्वारा सहायतार्थ पुकारे गये, (पुरुष्टुतम्) बहुतों द्वारा स्तुतियां पाये हुये, (तविषम्) बलस्वरूप (तम्) उस (उ) ही (इन्द्रम्) परमेश्वर के (प्र गायत) गीत गाया करो, और (गीर्भिः) वेदवाणियों की स्तुतियों द्वारा, उसकी ही (अभि) साक्षात् (विवासत) परिचर्या किया करो।

३७८. यस्य॑ द्वि॒बर्ह॑सो बृ॒हत् सहो॑ दा॒धार॒ रोद॑सी ।
गि॒रीँर॒ज्राँ अ॒पः स्व॑र्वृषत्व॒ना ॥५॥

(द्विबर्हसः) दोनों प्रकार से बढ़ानेवाले, अर्थात् अभ्युदय और निःश्रेयस की दृष्टि से बढ़ानेवाले (यस्य) जिस परमेश्वर के (बृहत् सहः) महाबल ने (रोदसी) द्युलोक और भूलोक को (दाधार) धारण किया हुआ है, और जिसने (वृषत्वना) अपनी प्रबलशक्ति या वर्षाशक्ति द्वारा (अज्रान्) चलते (गिरीन्) मेघों और (अपः) समुद्रीय तथा अन्तरिक्षीय जलों को धारण किया है—[अगले मन्त्र के साथ अन्वय।]

३७९. स रा॑जसि पुरुष्टुतँ॒ एको॑ वृ॒त्राणि॑ जिघ्नसे ।
इन्द्र॒ जैत्रा॑ श्र॒वस्या॑ च॒ यन्त॑वे ॥६॥

(पुरुष्टुत) हे बहुतों के द्वारा स्तुत, या प्रभूत स्तुतियोंवाले (इन्द्र) परमेश्वर! (सः) वे आप (एकः) अकेले ही (राजसि) संसार पर राज्य कर रहे हैं। और अकेले ही (वृत्राणि) बुद्धि और आत्मा पर आवरण डालनेवाले पापों का (जिघ्नसे) पूर्णतया हनन करते हैं। हे परमेश्वर! आप ही (जैत्रा) विजयशील और (श्रवस्या) प्रसिद्ध शक्तियों का (यन्तवे) नियन्त्रण करने के लिये उन पर राज्य कर रहे हैं।

सूक्त ६२

१-४ सोभरिः; ५-७ नृमेधः; ८-१० गोषूक्ती तथा अश्वसूक्ती। इन्द्रः। १-४ प्रगाथः (बृहती+सतोबृहती); ५-१० उष्णिक्।

३८०. व॒यमु॑ त्वाम॑पूर्व्य स्थू॒रं न कच्चि॒द् भर॑न्तोऽव॒स्यवः॑ ।
वाजे॑ चि॒त्रं ह॑वामहे ॥१॥

(अपूर्व्य) हे अपूर्वशक्तिवाले परमेश्वर! (वयम्) हम उपासक (उ) निश्चय से, (चित्रम्) अद्भुतस्वरूप (त्वाम्) आपके प्रति (भरन्तः) भक्तिरस की भेंटें लाते हुये (अवस्यवः) अपनी रक्षाएं चाहते हैं, और (वाजे) बल की प्राप्ति के निमित्त, तथा देवासुर-संग्राम में (हवामहे) आप की सहायता की पुकारें करते हैं, (न) जैसे कि आत्मरक्षाएं चाहनेवाले सांसारिक व्यक्ति, (कत् चित्) किसी (स्थूरम्) शक्तिशाली व्यक्ति को पुकारते हैं। [वाजः=बल (निघ० २।९); संग्राम (निघं० २।१७)।]

३८१. उप॑ त्वा॒ कर्म॑न्नू॒तये॒ स नो॒ युवो॒ग्रश्च॑क्राम॒ यो धृ॒षत् ।
त्वामिद्ध्य॑वि॒तारं॑ ववृ॒महे॒ सखा॑य इन्द्र सान॒सिम् ॥२॥

(इन्द्र) हे परमेश्वर! (कर्मन्) प्रत्येक कर्म में (ऊतये) रक्षा के लिये, हम (त्वा) आपको (उप) प्राप्त होते हैं, आपकी सेवा में उपस्थित होते हैं। (सः) वह आप (नः) हमारी ओर (चक्राम) कदम बढ़ाइये। आप (युवा) सदा सशक्त, तथा (उग्रः) न्याय में सदा दृढ़ हैं। (यः) जो आप (धृषत्) आसुरीभावों का सदा पराभव करते हैं, इसलिये (त्वाम्

इत् हि) आप ही (अवितारम्) रक्षक का (ववृमहे) हम वरण करते हैं। (सखायः) हम आपके सखा हैं, (सानसिम्) आप सब के दाता हैं।

३८२. यो न इदमिदं पुरा प्र वस्य आनिनाय तमु व स्तुषे ।
सखाय इन्द्रमूतये ॥३॥

हे उपासको ! (यः) जो परमेश्वर, (नः) हम सबके लिये, (पुरा) अनादिकाल से, (इदम्इदम्) अमुक-अमुक (वस्यः) उत्तमोत्तम सम्पत्तियां (प्र आनिनाय) लाता रहा है, (वः) तुम्हारे ज्ञान के लिये (तम् उ) उस ही परमेश्वर का (स्तुषे) मैं कथन करता हूं। (सखायः) हे सर्वभूत-मैत्री से सम्पन्न उपासको ! (ऊतये) तुम्हारी रक्षा के लिये (इन्द्रम्) उस परमेश्वर का (स्तुषे) मैं कथन करता हूं।

३८३. हर्यश्वं सत्पतिं चर्षणीसहं स हि ष्मा यो अमन्दत ।
आ तु नः स वयति गव्यमश्व्यं स्तोतृभ्यो मघवा शतम् ॥४॥

(हर्यश्वम्) तमोहारी सूर्य जिसका मानो अश्व है, (सत्पतिम्) सच्चे-रक्षक, (चर्षणीसहम्) प्रजाजनों के एकमात्र बलरूप परमेश्वर की (स्तुषे, ३८२) मैं स्तुति करता हूं। वह परमेश्वर (सः हि) वह ही है, जो कि (अमन्दत स्म) सब को आनन्दित करता रहा है। (सः) वह ही (मघवा) ऐश्वर्यवान् परमेश्वर (नः स्तोतृभ्यः) हम स्तोताओं को (गव्यम् अश्व्यम्) गौओं और अश्वों से प्राप्त होनेवाले (शतम्) सैंकड़ों प्रकार के सुख (आ वयति) पहुंचा रहा है।

[हरिः=हरतीति सूर्यः (उणा० कोष ४।११९)। वयति=वय गतौ। अश्व=सूर्य। सूर्य सब सौरमण्डल को नियन्त्रित करता है, और सूर्य का नियन्त्रण परमेश्वर कर रहा है। मानो परमेश्वर सूर्याश्व का अश्वारोही है।"योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्। ओ३म् खं ब्रह्म" (यजु० ४०।१७)।]

३८४. इन्द्राय साम गायत विप्राय बृहते बृहत् ।
धर्मकृते विपश्चिते पनस्यवे ॥५॥

हे उपासको ! (विप्राय) सर्वत्र परिपूर्ण, (बृहते) महतो महान्, (धर्मकृते) धर्ममर्यादा के व्यवस्थापक, (विपश्चिते) मेधावी (पनस्यवे)

स्तुत्यभिलाषी (इन्द्राय) परमेश्वर के लिये (बृहत् साम) महासामगान (गायत) गाओ।

[विप्राय=वि+प्रा (पूरणे)। पनस्यवे=परमेश्वर की स्तुति से परमेश्वर के गुण उपासक में आते हैं, जिससे उपासक की समुन्नति होती है। परमेश्वर चाहता है कि उपासक की समुन्नति हो, और उसका उपाय है परमेश्वरीय गुणों का ध्यान और उन गुणों को आचरण में लाना। इसीलिये परमेश्वर स्तुत्यभिलाषी होता है।]

३८५. त्वमिन्द्राभिभूरसि त्वं सूर्यमरोचयः ।
विश्वकर्मा विश्वदेवो महाँ असि ॥६॥

(इन्द्र) हे परमेश्वर ! (त्वम्) आप (अभिभूः) सब का पराभव करनेवाले (असि) हैं, (त्वम्) आपने (सूर्यम्) सूर्य को (अरोचयः) चमकाया है। (विश्वकर्मा) आप विश्व के कर्त्ता हैं, (विश्वदेवः) विश्व में आप ही एकमात्र उपास्य देव हैं, क्योंकि आप ही (महान् असि) सब से महान् हैं।

३८६. विभ्राजं ज्योतिषा स्व१रगच्छो रोचनं दिवः ।
देवास्त इन्द्र सख्याय येमिरे ॥७॥

(इन्द्र) हे परमेश्वर ! आप (ज्योतिषा) निज ज्योति द्वारा (स्वः) उपतापी सूर्य को (विभ्राजम्) प्रदीप्त करते हुये, (दिवः) द्युलोक के (रोचनम्) रुचिकर चमकते नक्षत्र-तारामण्डल में (अगच्छः) प्राप्त हुये-हुये हैं। (देवाः) दिव्यगुणी उपासक (ते) आपके (सख्याय) सखिभाव की प्राप्ति के लिये (येमिरे) यम-नियमों का पालन करते हैं।

३८७. तम्वभि प्र गायत पुरुहूतं पुरुष्टुतम् ।
इन्द्रं गीर्भिस्तविषमा विवासत ॥८॥

[देखो—मन्त्र-संख्या ३७७।]

३८८. यस्य द्विबर्हसो बृहत् सहो दाधार रोदसी ।
गिरीँरज्राँ अपः स्वर्वृषत्वना ॥९॥

[देखो—मन्त्र-संख्या ३७८।]

३८९. स राजसि पुरुष्टुतँ एको वृत्राणि जिघ्नसे ।
इन्द्र जैत्रा श्रवस्या च यन्तवे ॥१०॥

[देखो—मन्त्र-संख्या ३७९ ।]

सूक्त ६३

१-२; ३ (पूर्वार्ध) भुवनः साधनः वा; ३ (उत्तरार्ध) भरद्वाजः; ४-६ गोतम; ७-९ पर्वतः । इन्द्रः । १-३ त्रिष्टुप्; ४-९ उष्णिक् ।

३९०. इमा नु कं भुवना सीषधामेन्द्रश्च विश्वे च देवाः ।
यज्ञं च नस्तन्वं च प्रजां चादित्यैरिन्द्रः सह चीक्लृपाति ॥१॥

हम (इमा भुवना) इन शारीरिक भुवनों को, - पैरों, जङ्घाओं, उदर, छाती, मस्तिष्क, तथा इन्द्रियादि को -, (नु सीषधाम) साधनाओं द्वारा सिद्ध करते हैं, स्वस्थ करते हैं। (इन्द्रः) हमारी आत्मिक-शक्ति, और (विश्वे च देवाः) सब दिव्यगुण हमारी इन साधनाओं को (कम्) सुखपूर्वक सिद्ध करें। (च) और (नः यज्ञम्) हमारी यज्ञिय भावनाओं को; (तन्वं च) और हमारे शरीरों को, (प्रजां च) और हमारी वीर्यशक्ति को (इन्द्रः) परमेश्वर, (आदित्यैः सह) हमारी सुषुम्णानाड़ी के प्रकाशमयचक्रों समेत, (चीक्लृपाति) सिद्ध करे, इन्हें स्वस्थ रखे।

[इन्द्रः=जीवात्मा, जिसके कारण इन्द्रियों को इन्द्रिय कहते हैं। इन्द्रिय का अर्थ है इन्द्र की शक्तियां। इन्द्र का अर्थ परमेश्वर भी है, जो कि समग्र ऐश्वर्यों का स्वामी है, इदि परमैश्वर्ये। प्रजा=वीर्यशक्ति, जिससे सन्तान जन्म लेती है। आदित्यैः=आदित्य का काम है—प्रकाश देना। वैदिक साहित्य में १२ आदित्य कहे हैं। आध्यात्मिक दृष्टि में १२ आदित्य सुषुम्णानाड़ीगत १२ चक्र हैं, जिनसे योगाभ्यास द्वारा उज्ज्वल प्रकाश प्रकट होता है। **ये चक्र निम्नलिखित हैं।** यथा—मूलाधार चक्र, स्वाधिष्ठान चक्र, मणिपूर चक्र, अनाहत चक्र, विशुद्ध चक्र, आज्ञा चक्र, सहस्रार-चक्र, ललनाचक्र, गुरुचक्र, सोमचक्र, मानसचक्र, ललाटचक्र। इसका अधिक वर्णन हठयोग की पुस्तकों में मिलता है। (द्र०—पातञ्जलयोग-प्रदीप, स्वामी ओमानन्द)।]

३९१. आदित्यैरिन्द्रः सगणो मरुद्भिरस्माकं भूत्वविता तनूनाम् ।
हत्वाय देवा असुरान् यदायन् देवा देवत्वमभिरक्षमाणाः ॥२॥

(इन्द्रः) परमेश्वर (आदित्यैः) आदित्यगण और (मरुद्भिः) मरुद्गण के (सगणः) साथ वर्तमान होकर (अस्माकम्) हमारे (तनूनाम्) शरीरों का (अविता) रक्षक (भूतु) होता है। परमेश्वर इन गणों के द्वारा हमारे शरीरों का तब रक्षक होता है, (यद्) जबकि (देवाः) हमारे दिव्यगुण (देवत्वम्) हमारी दिव्यभावनाओं की (अभिरक्षमाणाः) पूर्ण रक्षा करते हुये, (असुरान् हत्वाय) और आसुरी भावनाओं की हत्या करके, (आयन्) शरीरों में निवास करते हैं।

[**मरुद्भिः**=इस शब्द द्वारा प्राणायामपूर्वक, प्राण, अपान, व्यान, समान और उदान वायुओं के सामञ्जस्य का निर्देश किया है। **आदित्यैः** (मन्त्र ३९०)। अभिप्राय यह कि सुषुम्णानाड़ी तथा प्राणों के स्वास्थ्य पर शारीरिक स्वास्थ्य निर्भर है।]

३९२. प्रत्यञ्चमर्कमनयं शचीभिरादित् स्वधामिषिरां पर्यपश्यन् ।
अया वाजं देवहितं सनेम मदेम शतहिमाः सुवीराः ॥३॥

(प्रत्यञ्चम्) प्रत्येक पदार्थ में व्याप्त, (अर्कम्) आदित्यसम प्रकाशमान, तथा अर्चनीय परमेश्वर को, उपासक लोग, (शचीभिः) प्रज्ञालोकों स्तुतियों और क्रियायोग की विधियों द्वारा (अनयन्) स्वाभिमुख कर लेते हैं, (आत् इत्) तदनन्तर ही वे उपासक (इषिराम्) अभीष्ट आध्यात्मिक अन्न, और (स्वधाम्) निज-आत्मा की असलीयत का (पर्यपश्यन्) साक्षात्कार कर सकते हैं। (अया) इस विधि द्वारा हम (देवहितम्) परमेश्वर देव द्वारा प्रदत्त (वाजम्) बल को (सनेम) प्राप्त करते हैं, और (सुवीराः) आध्यात्मिक जीवन में वीर बनकर (शतहिमाः) सौ वर्षों तक (मदेम) आनन्दित रहते हैं।

[(प्रत्यञ्चम्)=प्रतिपदार्थ में अञ्च् (प्राप्त)। **इषिरा**=इष् (अभीष्ट)+इरा=अन्न (निघ० २।७)। आध्यात्मिक अन्न=परमेश्वर। स्वधा=one's own nature (आपटे) "**ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च**" (योग १।२९) में कहा है कि "ईश्वर-प्रणिधान द्वारा प्रत्यक्-चेतना अर्थात् जीवात्मा को अपने स्वरूप का अधिगम् अर्थात् साक्षात्कार हो जाता है, और परमेश्वर का भी अधिगम हो जाता है, और योगाभ्यास में अन्तरायों का भी अभाव हो जाता है।]

३९३. य एक इद् विदयते वसु मर्ताय दाशुषे ।
ईशानो अप्रतिष्कुत इन्द्रो अङ्ग ॥४॥

(यः) जो (एक इद्) एक ही, (दाशुषे मर्ताय) आत्मसमर्पक उपासक के लिये, (वसु) आध्यात्मिक सम्पत्तियां (विदयते) विशेषरूप में दान करता है,—(अङ्ग) हे प्रिय उपासक ! (ईशानः) वह सर्वाधीश परमेश्वर है । (अप्रतिष्कुतः) वह इस सम्बन्ध में, किसी भी विरोधी शक्ति द्वारा झुकाया नहीं जा सकता ।

३९४. कुदा मर्तमराधसं पदा क्षुम्पमिव स्फुरत् ।
कुदा नः शुश्रवद् गिर इन्द्रो अङ्ग ॥५॥

(अङ्ग) हे प्रिय उपासक ! कुछ नहीं कह सकते कि (इन्द्रः) परमेश्वर (अराधसं मर्तम्) आराधनाहीन मनुष्य को (कदा) कब (स्फुरत्) उखाड़ फेंके, (इव) जैसे कि कोई (पदा) पैर द्वारा (क्षुम्पम्) खुम्ब को उखाड़ फेंकता है । तथा वह (कदा) कब (नः) हमारी (गिरः) प्रार्थना-वाणियों को (शुश्रवत्) सुन ले । [स्फुरति=वधकर्मा (निघ० २।१९)।]

३९५. यश्चिद्धि त्वा बहुभ्य आ सुतावाँ आविवासति ।
उग्रं तत् पत्यते शव इन्द्रो अङ्ग ॥६॥

(बहुभ्यः) बहुत मनुष्यों में से (यः चित् हि) जो ही मनुष्य (सुतावान्) भक्तिरस से सम्पन्न होकर, हे परमेश्वर ! (त्वा) आपकी (आ विवासति) पूर्णरूप से सेवा करता है, उसके लिये, (अङ्ग) हे प्रिय उपासक! (इन्द्रः) परमेश्वर (तत्) प्रसिद्ध (उग्रं शवः) प्रबल बल (आ पत्यते) प्रदान करता है ।

३९६. य इन्द्र सोमपातमो मदः शविष्ठ चेतति ।
येना हंसि न्य१त्रिणं तमीमहे ॥७॥

(शविष्ठ इन्द्र) हे अतिशय बलशाली परमेश्वर ! (सोमपातमः) भक्तिरस के अधिक पान करने का (यः) जो (मदः) हर्ष और उल्लास, (चेतति) हमें अपने कर्तव्यों के पालन में सचेत कर देता है, और (येन) जिस चेतनता के जागरित हो जाने पर आप, (अत्रिणम्) खा जानेवाले

पाप का (निहंसि). सर्वथा विनाश कर देते हैं, (तम्) उस हर्ष उल्लास, और चेतना की (ईमहे) हम आपसे प्रार्थना करते हैं ।

३९७. येना दशग्वमध्रिगुं वेपयन्तं स्वर्णरम् ।
येना समुद्रमाविथा तमीमहे ॥८॥

हे परमेश्वर ! (येन) यतः आप—(दशग्वम्) दस इन्द्रियोंवाले, परन्तु मोक्षमार्ग पर (अध्रिगुम्) अप्रतिहत प्रगतिवाले, (वेपयन्तम्) कर्मिष्ठ, और अतएव (स्वर्णरम्) स्वर्गीय-नर की (आविथ) रक्षा करते हैं, और (येन) यतः आप,=(समुद्रम्) हमारे हृदय-समुद्रों में (आविथ) प्रवेश पाये हुये हैं, इसलिये (तम्) उस आप को (ईमहे) हम प्राप्त होते हैं ।

[दस इन्द्रियों पर विजय पाकर जो कर्मिष्ठ व्यक्ति मोक्ष मार्ग पर दृढ़तापूर्वक प्रगति करता रहता है, वह नर स्वर्गीय नर हो जाता है, और परमेश्वर उसकी रक्षा करता है । वेपः=कर्म (निघ० २।१)। **आविथ=अव** (रक्षा तथा प्रवेश) । **समुद्र, सिन्धु हृदय** (अथर्व० १०।२।११) ।

३९८. येन सिन्धुं महीरपो रथाँ इव प्रचोदयः ।
पन्थामृतस्य यातवे तमीमहे ॥९॥

(येन) यतः आप (सिन्धुम्) स्यन्दनशील नादियों और (महीः अपः) समुद्र की महा जलराशि को ऐसी आसानी से (प्रचोदयः) प्रेरित कर रहे हैं (इव) जैसे कि (रथान्) अश्वरथों तथा विमानरथों को आसानी से प्रेरित किया जाता है, और आपने (यातवे) जीवन यात्रा के लिये, (ऋतस्य) सच्चाई के (पन्थाम्) मार्ग को, वेदों द्वारा, (प्रचोदयः) प्रकाशित किया है, इसलिये (तम्) उस आपको (ईमहे) हम प्राप्त होते हैं ।

सूक्त ६४

१-३ नृमेधः, ४-६ विश्वमनाः । इन्द्रः । उष्णिक् ।

३९९. एन्द्र नो गधि प्रियः सत्राजिदगोह्यः ।
गिरिर्न विश्वतस्पृथुः पतिर्दिवः ॥१॥

(इन्द्र) हे परमेश्वर ! (आ गधि) हमारे हृदयों में आ विराजिये ।

आप (नः) हमें (प्रियः) प्रिय लगते हैं, (सत्राजित्) सत्य है कि आप सर्वविजयी हैं, (अगोह्यः) बाह्य दृष्टि से छिपे हुये भी आप अन्तर्दृष्टि द्वारा छिपे हुये नहीं, आप (गिरिः न) आकाशव्यापी मेघ के सदृश (विश्वतः पृथुः) सब ओर विस्तृत हैं, (दिवः पतिः) द्युलोक के भी आप पति हैं, स्वामी हैं, रक्षक हैं।

४००. अभि हि सत्य सोमपा उभे बभूथ रोदसी ।
इन्द्रासि सुन्वतो वृधः पतिर्दिवः ॥२॥

(सत्य) हे सत्यस्वरूप ! (हि) निश्चय है कि आप (सोमपाः) भक्तिरस का पान करते और उत्पन्न जगत् के रक्षक हैं। (उभे रोदसी) द्युलोक और भूलोक इन दोनों पर (अभिबभूथ) आपने विजय पाई हुई है। (इन्द्र) हे परमेश्वर ! आप (सुन्वतः) भक्तिरसवाले उपासक को (वृधः असि) बढ़ाते हैं, (दिवः पतिः) आप द्युलोक के पति हैं, स्वामी हैं, रक्षक हैं। [बभूथ=बभूविथ।]

४०१. त्वं हि शश्वतीनामिन्द्र दर्ता पुरामसि ।
हन्ता दस्योर्मनोर्वृधः पतिर्दिवः ॥३॥

(इन्द्र) हे परमेश्वर ! (त्वम्) आप (हि) ही, (शश्वतीनाम्) शाश्वतकाल से परम्परा द्वारा प्राप्त होनीवाली (पुराम्) शरीररूपी नगरियों का (दर्ता असि) विदारण करनेवाले हैं, आप ही उपासकों के (दस्योः) उपक्षयकारी अविद्या आदि के (हन्ता) हननकर्त्ता हैं, (मनोः) श्रवण मनन निदिध्यासन करनेवाले को (वृधः) बढ़ाते हैं, (दिवः पतिः) और द्युलोक के पति स्वामी और रक्षक हैं।

४०२. एदु मध्वो मदिन्तरं सिञ्च वाध्वर्यो अन्धसः ।
एवा हि वीर स्तवते सदावृधः ॥४॥

(वा) अथवा (अध्वर्यो) हिंसारहित उपासनायज्ञ को जुटानेवाले हे उपासक ! तू (मध्वः अन्धसः) मधुर अन्न से भी (मदिन्तरम्) अधिक प्रसन्नता दायक भक्तिरस को (इत् उ) ही (आसिञ्च) परमेश्वर पर न्यौछावर किया कर। (एवा हि) इस प्रकार ही (वीरः) प्रेरणाप्रद परमेश्वर (स्तवते) मार्गोपदेश करता है, और (सदावृधः) सदा बढाता हैं।

[वीर=वि+ईर (प्रेरणा)।]

४०३. इन्द्र स्थातर्हरीणां नकिष्टे पूर्व्यस्तुतिम् ।
उदानंश शवसा न भन्दना ॥५॥

(हरीणाम्) विषयों में हरण करनेवाली या प्रत्याहार-साधन सम्पन्न इन्द्रियों के (स्थातः) अधिष्ठाता (इन्द्र) हे परमेश्वर ! (ते) आप द्वारा दी गई (पूर्व्यस्तुतिम्) पूर्वकालीन वैदिक स्तुतियों तक (नकिः) कोई कवि नहीं (उदानंश) पहुंच पाया, (न) न (शवसा) बल की दृष्टि से और न (भन्दना) कल्याण करने और सुखप्रदान करने की दृष्टि से। अर्थात् किसी भी कवि की ऐसी रचना नहीं हो सकती जो कि वैदिक रचनाओं से बढ़कर शक्ति प्रदान कर सके और कल्याण तथा सुख के मार्ग का उपदेश दे सके।

४०४. तं वो वाजानां पतिमहूमहि श्रवस्यवः ।
अप्रायुभिर्यज्ञेभिर्वावृधेन्यम् ॥६॥

हे उपासको ! (वः श्रवस्यवः) तुम्हारे लिये आनन्दरसरूपी अन्न चाहनेवाले हम गुरुओं ने, (वाजानाम्) विभूतियों बलों और शक्तियों के (पतिम्) पति, तथा (अप्रायुभिः) स्थिर चित्तवृत्तियों द्वारा किये गये (यज्ञेभिः) उपासना यज्ञों द्वारा (वावृधेन्यम्) अत्यन्त बढ़ानेवाले परमेश्वर को, (अहूमहि) तुम्हारी ओर आवर्जित किया है।

[श्रवः=अन्न (निघ० २।७)। अप्रायुभिः=अ+प्र+अय् (गतौ), प्रायुः=गतिशील, अस्थिर। अप्रायुः=गतिरहित, स्थिर।]

सूक्त ६५

१-३ विश्वमनाः। इन्द्रः। उष्णिक्।

४०५. एतो न्विन्द्रं स्तवाम सखायः स्तोम्यं नरम् ।
कृष्टीर्यो विश्वा अभ्यस्त्येक इत् ॥१॥

(सखायः) हे उपासक मित्रो ! (एत उ) अवश्य आओ, (नु) निश्चय से, (स्तोम्यम्) स्तुति-योग्य तथा (नरम्) विश्व के नायक (इन्द्रम्) परमेश्वर की (स्तवाम) स्तुतियां हम मिल कर करें, (यः) जो परमेश्वर कि (एक इत्) अकेला ही (विश्वाः कृष्टीः) सब प्रजाओं पर (अभि अस्ति) विजय पाये हुआ है।

[कृष्टयः=मनुष्याः (निघ०२।३)।]

४०६. अगोरुधाय गविषे द्युक्षाय दस्म्यं वचः ।
घृतात् स्वादीयो मधुनश्च वोचत ॥२॥

(अगोरुधाय) अग्रगमन अर्थात् आगे बढ़ने में जो रुकावट नहीं डालता, अपितु (गविषे) आगे बढ़ने को जो चाहता है; (द्युक्षाय) द्युलोक तथा प्रकाश में जिस का निवास है, उसके प्रति, (दस्म्यं वचः) दर्शनीय स्तुतिगीत (वोचत) मधुर स्वरों से गाया करो, जो स्तुतिगीत कि (घृतात्) घृत से (च) और (मधुनः) शहद से भी (स्वादीयः) अधिक स्वादु अर्थात् मधुर हों ।

४०७. यस्यामितानि वीर्या न राधः पर्येतवे ।
ज्योतिर्न विश्वमभ्यस्ति दक्षिणा ॥३॥

(यस्य) जिस परमेश्वर की (वीर्या) शक्तियां (अमितानि) अपरिमित हैं, और जिसका (राधः) ऐश्वर्य (पर्येतवे न) कभी क्षीण नहीं होता, और (न) जैसे, जिसकी (ज्योतिः) ज्योति, (विश्वम्) सब ज्योतियों पर (अभि अस्ति) विजय पाये हुई है, वैसे जिसका (दक्षिणा) दान, सब दानों पर विजय पाये हुये है,—उसके प्रति मधुर गान गाया करो (मन्त्र ४०६) ।

[वीर्या=वीर्याणि । अभि अस्ति=अभ्यस्ति, अभिभवति, पराभवति ।]

सूक्त ६६

१-३ विश्वमनाः । इन्द्रः । उष्णिक् ।

४०८. स्तुहीन्द्रं व्यश्ववदनूर्मिं वाजिनं यमम् ।
अर्यो गयं मंहमानं वि दाशुषे ॥१॥

(व्यश्ववत्) अश्वविहीन रथ के सदृश, हे उपासक ! तू शरीर और चित्त को स्थिर करके,—(अनूर्मिम्) निस्तरङ्ग महोदधि के समान प्रशान्त, (वाजिनम्) बलशाली, (यमम्) जगन्नियन्ता, (गयम्) सर्वाश्रय, (दाशुषे) तथा आत्मसमर्पक को (वि) विशेष शक्तियों के (मंहमानम्) प्रदाता (इन्द्रम्) परमेश्वर की (स्तुहि) स्तुतियां गाया कर, (अर्यः) क्योंकि

वह ही सब का स्वामी है ।

वाजः=बल (निघ० २।९) । गयम् गृहनाम (निघ० ३।४)।]

४०९. एवा नूनमुप स्तुहि वैयश्व दशमं नवम् ।
सुविद्वांसं चर्कृत्यं चरणीनाम् ॥२॥

(वैयश्व) इन्द्रियरूपी अश्वों की चञ्चलताओं और मनरूपी अश्व के संकल्प-विकल्पों से विगत हुये हे उपासक ! तू (नूनम्) निश्चयपूर्वक. (दशमम्) १० लक्ष्मियोंवाले, (नवम्) स्तुत्य तथा सदा नवीन, (सुविद्वांसम्) सम्यक्-वेत्ता, (चरणीनाम्) और गगनसंचारी लोक-लोकान्तरों के (चर्कृत्यम्) कर्त्ता की (एव) ही (उप स्तुहि) उपासनाविधि द्वारा स्तुति किया कर ।

[वैयश्व=व्यश्व=वि+अश्व । अश्व=इन्द्रियां और मन । दशमम्=दश+मा (लक्ष्मी, सम्पत्ति) । दश=धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय-निग्रह, धीः, विद्या, सत्य, अक्रोध (मनु०)। चर्कृत्यम्=कृञ् करणे । नवम्=नु स्तुतौ ; तथा नवीन । चरणीनाम्=विचरनेवाले, गतिशील ।]

४१०. वेत्था हि निर्ऋतीनां वज्रहस्त परिवृजम् ।
अहरहः शुन्ध्युः परिपदामिव ॥३॥

(वज्रहस्त) वज्रसमानघातक-निजशक्तियों द्वारा पाप-वृत्रों का हनन करनेवाले हे परमेश्वर ! आप (हि) ही (निर्ऋतीनाम्) शारीरिक मानसिक-आध्यात्मिक कष्टों का (परिवृजम्) पूर्णतया-वर्जन (वेत्थ) जानते हैं, (इव) जैसे कि (शुन्ध्युः) शुद्धि करनेवाला सूर्य, (अहरहः) प्रतिदिन, (परिपदाम्) सब ओर से आक्रमण करनेवाले रोग कीटाणुओं का (परिवृजम्) पूर्णतया-वर्जन अर्थात् परिहार करता है ।

[शुन्ध्युः आदित्यः, शोधनात् (निरु० ४।२।१४) । परिपदाम्= "उद्यन्नादित्यः क्रिमीन् हन्तु निम्रोचन् हन्तु रश्मिभिः" (अथर्व २।३२।१)।]

पांचवां अनुवाक समाप्त ॥

सूक्त ६७

१-३ पुरुच्छेप:; ४-७ गृत्समदः । १,६ इन्द्रा, २,४ मरुतः; ३,५ अग्निः; ७ ऋतवः । १-३ अत्यष्टिः; ४-७ जगती ।

४११. वनोति हि सुन्वन् क्षयं परीणसः सुन्वानो हि ष्मा यजत्यव द्विषो देवानामव द्विषः । सुन्वान इत् सिषासति सहस्रा वाज्यवृतः । सुन्वानायेन्द्रो ददात्याभुवं रयिं ददात्याभुवम् ॥१॥

(सुन्वन्) भक्तिरस निष्पादन करता हुआ उपासक, (हि) निश्चय से, (परीणसः) बहुव्यापी कुटिल वृत्तियों के (क्षयम्) क्षय की (वनोति) याचना करता है। (सुन्वानः हि) भक्तिरसवाला उपासक ही (द्विषः) द्वेषभावनाओं का (अवयजति) परित्याग कर पाता है, और (देवानाम्) दिव्यभावनाओं की (द्विषः) विरोधी आसुरी-भावनाओं का(अव) परित्याग कर पाता है । (सुन्वानः इत्) भक्तिरसवाला उपासक ही (सहस्रा) हजारों प्रकार की शिक्षाएं (सिषासति) प्रदान करता है । भक्तिरसवाला उपासक (वाजी) बलशाली हो जाता है, (अवृतः) और आसुरी-भावनाओं द्वारा घेरा नहीं जाता । (सुन्वानाय) भक्तिरस से सम्पन्न उपासक को (इन्द्रः) परमेश्वर (ददाति आभुवं रयिम्) सम्पत्ति प्रदान करता है, जो सम्पत्ति कि उसके साथ सदा और सर्वत्र रहती है, (ददाति आभुवम्) हां, ऐसी सम्पत्ति प्रदान करता है, जो कि उस के साथ सदा और सर्वत्र रहती है ।

[आभुवम्=आ+भू (सत्तायाम्), अर्थात् सदा और सर्वत्र साथ रहनेवाली आध्यात्मिक सम्पत्ति । परीणसः=परि+णस् (कौटिल्ये)।]

४१२. मो षु वो अस्मदभि तानि पौंस्या सना भूवन् द्युम्नानि मोत जारिषुरस्मत् पुरोत जारिषुः । यद्वश्चित्रं युगेयुगे नव्यं घोषादमर्त्यम् । अस्मासु तन्मरुतो यच्च दुष्टरं दिधृता यच्च दुष्टरम् ॥२॥

हे मर्त्यो ! (वः) तुम्हें (अस्मत्) हम से प्राप्त (पौंस्या) पौरुषकर्म या शक्तियां (मा उ सु) न (अभि भूवन) किसी भी शक्ति द्वारा पराभूत न हों, अपितु वे (सना) सदा (भूवन्) बनी रहें; (उत) और (अस्मत् द्युम्नानि) हमसे दी गई आध्यात्मिक-सम्पत्तियां, (पुरा) जो कि पुराकाल से चली आ रही हैं (मा जारिषुः) जीर्ण-शीर्ण न होने पाएं, (उत) और (पुरा) पुराकालीन वे आध्यात्मिक सम्पत्तियां (मा जारिषुः) कभी जीर्ण-शीर्ण न हों । और (युगे-युगे) प्रत्येक युग में (वः) तुम्हारे लिये (यद्) जो (चित्रम्) आश्चर्यकारी (अमर्त्यम्) अविनश्वर और (नव्यम्) स्तुत्य आध्यात्मिक सम्पत्तियां (घोषात्) घोषित की जाती हैं, वे भी जीर्ण-शीर्ण न होने पाएं । (मरुतः) हे मरणधर्मा मनुष्यो ! (तत्) वह (यत्) जो कि (अस्मासु) हम में (दुष्टरम्) अपराभवनीय आध्यात्मिक सम्पत्ति है, उसे तुम (दिधृत) धारण करो, हां, वह (यत् दुष्टरम्) जो अपराभवनीय सम्पत्ति है उसे अवश्य धारण करो ।

४१३. अग्निं होतारं मन्ये दास्वन्तं वसुं सूनुं सहसो जातवेदसं विप्रं न जातवेदसम् । य ऊर्ध्वया स्वध्वरो देवो देवाच्या कृपा । घृतस्य विभ्राष्टिमनु वष्टि शोचिषाजुह्वानस्य सर्पिषः ॥३॥

(अग्निम्) सर्वाग्रणी परमेश्वर को (दातारम्) सब का दाता (मन्ये) मैं मानता हूं, (दास्वन्तम्) उसे ही मैं सब का दाता मानता हूं; (वसुम्) उसे ही सर्वश्रेष्ठ सम्पत्ति तथा (सहसः सूनुम्) बलों का प्रेरक मानता हूं; (जातवेदसम्) प्रत्येक उत्पन्न पदार्थ का वेत्ता, तथा (विप्रं न) मेधावी के सदृश (जातवेदसम्) विद्यावान् मानता हूं । (यः) जो (देवः) परमेश्वर देव कि (ऊर्ध्वया देवाच्या कृपा) ऊपर द्युलोक में सूर्यादि देवों में पहुंचे हुये निज सामर्थ्य द्वारा (स्वध्वरः) उत्तम-संसार-यज्ञ रचा रहा है, वह परमेश्वर (आजुह्वानस्य) आहुत हुये (सर्पिषः घृतस्य) पिघले घृत की (विभ्राष्टिम् अनु) विशिष्ट चमक के अनुरूप (शोचिषा) चमक द्वारा (वष्टि) चमकता है ।

[दास्वन्तम्=दासृ दाने । सूनुम्=सू प्रेरणे । जातवेदसम्=जातं जातं वेत्ति । कृपा=कृपु सामर्थ्ये । वष्टि=कान्तिकर्मा (निघ० १।६)।]

४१४. यज्ञैः संमिश्लाः पृषतीभिर्ऋष्टिभिर्यामञ्छुभ्रासो अञ्जिषु प्रिया उत । आसद्या बर्हिर्भरतस्य सूनवः पोत्रादा सोमं पिबता दिवो नरः ॥४॥

(भरतस्य) सब का भरण-पोषण करनेवाले परमेश्वर के (सूनवः) हे पुत्रो ! (दिवः नरः) तथा हे दिव्य नर-नारियो ! तुम (यज्ञैः) यज्ञकर्मों

और (पृषतीभिः) नानाविध तथा सरस (ऋष्टिभिः) आध्यात्मिक शस्त्रास्त्रों से (संमिश्लाः) सम्पन्न होकर, (यामम्) अपने आपको नियन्त्रण में रखकर, (शुभ्रासः) शुभ्रकर्म करते हुये, (उत) तथा (अञ्जिषु) अभिव्यक्त-कर्मों के करने में (प्रियाः) सर्वप्रिय होते हुये, (बर्हिः) और उपासना-यज्ञ में (आसद्य) बैठकर, (पोत्रात्) पवित्रकारी तथा त्राणकारी परमेश्वर से (सोमम्) प्रकट हुये आनन्दरस का (पिबत) पान किया करो।

[पृषतीभि=पृषु सेचने, तथा नानाविध। ऋष्टिभिः=आध्यात्मिक शास्त्रास्त्र=यम, नियम, प्राणायाम, ध्यान आदि।]

४१५. आ वक्षि देवाँ इह विप्र यक्षि चोशन् होतर्नि षदा योनिषु त्रिषु।
प्रति वीहि प्रस्थितं सोम्यं मधु पिबाग्नीध्रात् तव भागस्य तृष्णुहि ॥५॥

(विप्र) हे मेधावी उपासक! (इह) इस उपासना-यज्ञ में तू (देवान्) अन्य दिव्य व्यक्तियों को (आवक्षि) आमन्त्रित किया कर, (यक्षि) और उन्हें आमन्त्रित करके उपासना-यज्ञ रचा या किया कर। (होतः) उपासना-यज्ञ में दिव्य व्यक्तियों का आह्वान करनेवाले हे उपासक! तू (उशन्) चाहना पूर्वक (त्रिषु योनिषु) ऋक्-साम-यजुरूपी तीन माताओं के गर्भ में (निषदा) स्थिररूप में आसीन होकर, (आग्नीध्रात्) तुझ में ज्ञानाग्नि की ज्योति प्रकट करनेवाले परमेश्वर से (प्रस्थितम्) प्राप्त (मधु सोम्यम्) दुग्ध समान पौष्टिक और मधुर आनन्दरस का (पिब) पान किया कर, और (तव) तेरा जो (भागस्य) आनन्दरस का भाग है, उसके लिये सदा (तृष्णुहि) तृषित हुआ कर।

[वेद=माता। यथा—"स्तुता मया वरदा वेदमाता" (अथर्व० १९।७१।१)। सोम—दुग्ध। "सोमो दुग्धाभिरक्षाः" (ऋ० ९।१०७।९); अर्थात् दुही गई गौओं से सोम क्षरित होता है।]

४१६. एष स्य ते तन्वो नृम्णवर्धनः सह ओजः प्रदिवि बाह्वोर्हितः।
तुभ्यं सुतो मघवन् तुभ्यमाभृतस्त्वमस्य ब्राह्मणादा तृपत् पिब ॥६॥

(मघवन्) हे ऐश्वर्यशाली परमेश्वर! (ते) आपके लिये, (एषः स्यः) यह वह भक्तिरस है, जो कि (तन्वः) मेरे शरीर से प्रकट हुआ है। यह भक्तिरस (नृम्णवर्धनः) मेरे बल को बढ़ाता, (सहः) काम आदि का पराभव करता, तथा (ओजः) ओज-स्वरूप है, तथा जो (प्रदिवि) प्रति-

दिन (बाह्वोः) यश और बल के लिये (हितः) हितकारी है। यह भक्तिरस (तुभ्यम्) आपके लिये (सुतः) निष्पन्न हुआ है, (तुभ्यम्) इस लिये आपके प्रति (आभृतः) समर्पित हुआ है। (ब्राह्मणात्) ब्रह्मोपासक मुझ से (त्वम्) आप (अस्य) इस भक्तिरस का (आ पिब) खूब पान कीजिये, और (तृपत्) तृप्त हो जाइये।

[बाह्वोः='बाह्वोर्बलम्' (अथर्व० १९।६०।१); तथा 'बाहुभ्यां यशो बलम्' (सन्ध्या)।]

४१७. यमु पूर्वमहुवे तमिदं हुवे सेदु हव्यो ददिर्यो नाम पत्यते।
अध्वर्युभिः प्रस्थितं सोम्यं मधु पोत्रात् सोमं द्रविणोदः पिब ऋतुभिः ॥७॥

(यम् उ) जिसका (पूर्वम्) पहिले (अहुवे) मैं आह्वान करता रहा हूं, (इदम्) अब भी (तम्) उसका (हुवे) मैं आह्वान करता हूं। क्योंकि (स इत् उ) वह ही (हव्यः) सहायता के लिये आह्वान के योग्य है, (यः) जो कि (ददिः) सब का दाता है, और जो (नाम) सर्वप्रसिद्ध है, तथा (पत्यते) ऐश्वर्यवान् है। (द्रविणोदः) हे धन और बल के दाता! (अध्वर्युभिः) हिंसारहित उपासना-यज्ञों के रचयिताओं द्वारा और (पोत्रात्) मुझ पवित्र उपासक द्वारा (प्रस्थितम्) समर्पित (सोम्यम्) दुग्ध समान (मधु) मधुर (सोमम्) भक्तिरस का (पिब) पान कीजिये, (ऋतुभिः) प्रत्येक ऋतु में समर्पित भक्तिरस का पान कीजिये।

[सोम्यम्=दुग्धसमान। देखो मन्त्र ४१५ की टिप्पणी। पत्यते=पत् ऐश्वर्ये।]

सूक्त ६८

१-१२ मधुच्छन्दाः। इन्द्रः। गायत्री।

४१८. सुरूपकृत्नुमूतये सुदुघामिव गोदुहे।
जुहूमसि द्यविद्यवि ॥१॥

देखो—मन्त्र-संख्या (३४४)।

४१९. उप नः सवना गहि सोमस्य सोमपाः पिब।
गोदा इद् रेवतो मदः ॥२॥

देखो—मन्त्र-संख्या (३४५)।

४२०. अथा ते अन्तमानां विद्याम सुमतीनाम् ।
मा नो अति ख्य आ गहि ॥३॥

देखो—मन्त्र-संख्या (३४६) ।

४२१. परेहि विग्रमस्तृतमिन्द्रं पृच्छा विपश्चितम् ।
यस्ते सखिभ्य आ वरम् ॥४॥

हे उपासक ! तू (परेहि) विषयों से परे हट जा, और (विग्रम्) मेधावी, (अस्तृतम्) अविनश्वर, तथा (विपश्चितम्) तुझ में सात्विक-वेपनों का चयन करनेवाले (इन्द्रम्) परमेश्वर के सम्बन्ध में (पृच्छ) पूछ-ताछ कर, (यः) जो परमेश्वर कि (ते) तुझे तथा (सखिभ्यः) तेरी ख्याति के समान ख्यातिवाले अन्य उपासकों को भी (वरम्) वर (आ) प्रदान करता है ।

[विप्रः=मेधावी (निघ० ३।१५) । अस्तृतम्=अ+स्तृ (वधः), यथा स्तृणाति=वधकर्मा (निघ० २।१९) । आ=आदधाति (मन्त्र ४२२ में "दधाना" के साथ सम्बन्ध)।]

४२२. उत ब्रुवन्तु नो निदो निरन्यतश्चिदारत ।
दधाना इन्द्र इद् दुवः ॥५॥

(उत) तथा उपासक (निदः) निन्दावचन (नो ब्रवन्तु) न बोला करें। (अन्यतः) अन्य व्यक्तियों से यदि निन्दावचन आएं, तो उनके प्रति (चित्) भी (नो) न (निर् आरत) कष्ट पहुंचाएं। उपासक (इन्द्रे इत्) परमेश्वर में ही (दुवः) अपनी परिचर्याएं, अर्थात् सेवाएं समर्पित करते रहें।[निर्+आरत (ऋ, रेषणे), यथा —निर्ऋति (कृच्छ्रापत्ति)।]

४२३. उत नः सुभगाँ अरिर्वोचेयुर्दस्म कृष्टयः ।
स्यामेदिन्द्रस्य शर्मणि ॥६॥

(उत) तथा (दस्म) पापक्षयकारी हे परमेश्वर ! (अरिः) दुश्मन तथा (कृष्टयः) प्रजाजन (नः) हम उपासकों को (सुभगान्) सौभाग्य-शाली (वोचेयुः) कहा करें । हम उपासक तो (इन्द्रस्य) परमेश्वर के

(शर्मणि) आश्रय में (स्याम) सदा बने रहें । [निन्दा न करनेवाले, और कष्ट न पहुंचानेवाले उपासक सौभाग्यशाली हो जाते हैं ।]

४२४. एमाशुमाशवे भर यज्ञश्रियं नृमादनम् ।
पतयन्मन्दयत्सखम् ॥७॥

हे उपासक !,—(आशुम्) सर्वत्र व्याप्त, (यज्ञश्रियम्) उपासना-यज्ञ की एकमात्र श्री, (नृमादनम्) नर-नारियों को हर्ष-उल्लास के दाता, (पतयत् मन्दयत् सखम्) जो इसके साथ सखिभाव रखते है उन्हें आध्यात्मिक सम्पत्तियों द्वारा सम्पत्तिशाली करनेवाले, तथा उन्हें तृप्त और आनन्दित करनेवाले (ईम्) इस परमेश्वर को, (आशवे) शीघ्र सफल होने के लिये, (आ भर) अपनी ओर झुका ले । [आभर=आहर ।]

४२५. अस्य पीत्वा शतक्रतो घनो वृत्राणामभवः ।
प्रावो वाजेषु वाजिनम् ॥८॥

(शतक्रतो) हे सैंकड़ों अद्भुत कर्मोंवाले परमेश्वर ! आप, (अस्य) इस भक्तिरस का (पीत्वा) पान करके, इस उपासक के (वृत्राणाम्) पाप-वृत्रों के (घनः अभवः) हनन करनेवाले हुये हैं। आप (वाजेषु) देवासुर-संग्रामों में (वाजिनम्) पाप-वृत्रों के हनन करने में सशक्त व्यक्ति के (प्र आवः) पूर्णतया रक्षक हुए हैं ।

४२६. तं त्वा वाजेषु वाजिनं वाजयामः शतक्रतो ।
धनानामिन्द्र सातये ॥९॥

(शतक्रतो) हे सैंकड़ों अद्भुत कर्मोंवाले परमेश्वर! (वाजषु) बलों में (वाजिनम्) महाबली (तम् त्वा) उस आपको, हम उपासक (वाजयामः) प्रेरित करते हैं, ताकि (इन्द्र) हे परमेश्वर! आप हमें (धनानाम्) आत्मिक-धन (सातये) प्रदान करें ।

४२७. यो रायोऽवनिर्महान्त्सुपारः सुन्वतः सखा ।
तस्मा इन्द्राय गायत ॥१०॥

(यः) जो परमेश्वर (रायः) सांसारिक और आध्यात्मिक सम्पत्तियों की (अवनिः) उपजाऊ भूमि है, वह (महान् सुपारः) महान् है और भव-

सागर से सुगमतापूर्वक पार कर देता है, तथा (सुन्वतः) भक्तिरसवाले उपासक का (सखा) सखा बन जाता है, (तस्मै इन्द्राय) उस परमेश्वर की प्रसन्नता के लिये (गायत) भक्तिपूर्वक सामगान गाया करो ।

४२८. आ त्वेता नि षीदतेन्द्रमभि प्र गायत ।
सखायः स्तोमवाहसः ॥११॥

(सखायः) हे मित्रो ! आप (तु) तो (एत) आइये, (आ निषीदत) आकर बैठिये, और (इन्द्रम् अभि) परमेश्वर को लक्ष्य करके (प्र गायत) उत्तम गान गाइये । (स्तोमवाहसः) आप स्तुति गीतों के वहन करनेवाले हैं, स्तुति गीतों के ज्ञाता हैं ।

४२९. पुरूतमं पुरूणामीशानं वार्याणाम् ।
इन्द्रं सोमे सचा सुते ॥१२॥

(पुरूणाम्) भरे-भण्डारवालों में (पुरूतमम्) सर्वाधिक भरे-भण्डार-वाले, (वार्याणाम्) तथा वरण करने योग्य सद्गुणों के (ईशानम्) अधीश्वर (इन्द्रम्) परमेश्वर का,—(सोमे सुते) भक्तिरस के निष्पन्न हो जाने पर,—(सचा) परस्पर मिलकर (अभि प्र गायत) श्रेष्ठ गान किया करो (मन्त्र ४२८ से) ।

सूक्त ६९

१-१२ मधुच्छन्दाः । १-११ इन्द्रः; १२ मरुतः । गायत्री ।

४३०. स घा नो योग आ भुवत् स राये स पुरन्ध्याम् ।
गमद् वाजेभिरा स नः ॥१॥

(सः) वह परमेश्वर, (घ) निश्चय से, (नः) हमारी (योगे) योगसाधना में, (आ भुवत्) आ प्रकट होता है । (सः) वह (राये) योगविभूतियों की प्राप्ति में, (सः) वह (पुरन्ध्याम्) दीर्घकाल के ध्यान में आ प्रकट होता है । (सः) वह (वाजेभिः) शक्तियों बलों तथा आध्यात्मिक-अन्नों के प्रदान के साथ, (नः) हमें (आ गमत्) आ प्रकट होता है ।

४३१. यस्य संस्थे न वृण्वते हरी समत्सु शत्रवः ।
तस्मा इन्द्राय गायत ॥२॥

(यस्य) जिस परमेश्वर के (संस्थे) हृदयस्थ हो जाने पर (समत्सु) देवासुर-संग्रामों में, (शत्रवः) कामादि शत्रु (हरी) प्रत्याहार-सम्पन्न इन्द्रियाश्वों पर, ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों पर, (वृण्वते न) आवरण नहीं डाल पाते, या उन्हें अपनाते नहीं, (तस्मै इन्द्राय) उस परमेश्वर की प्रसन्नता के लिये, (गायत) हे उपासको ! तुम भक्तिभरे गीत गाया करो ।

४३२. सुतपाव्ने सुता इमे शुचयो यन्ति वीतये ।
सोमासो दध्याशिरः ॥३॥

(दध्याशिरः) ध्यानविधि द्वारा परिपक्व (इमे सुताः) ये निष्पन्न, और (शुचयः) पवित्र (सोमासः) भक्तिरस, (वीतये) परमेश्वर की प्राप्ति के लिये, (सुतपाव्ने) उत्पन्नभक्तिरस की स्वीकृति के निमित्त, उसके प्रति (यन्ति) प्रवाहित होते हैं । [दध्याशिरः=दधि (ध्यान)+आशिरः (आ=पूर्णतया+श्रा=पाके)।]

४३३. त्वं सुतस्य पीतये सद्यो वृद्धो अजायथाः ।
इन्द्र ज्यैष्ठ्याय सुक्रतो ॥४॥

(सुक्रतो इन्द्र) हमारे उपासना-कर्म को सुफल करनेवाले हे परमेश्वर ! (त्वम्) आप (वृद्धः) श्रेष्ठ गुणों में सब से बढ़े हुये पुराण पुरुष हैं । आप (सुतस्य) निष्पन्न भक्तिरस की (पीतये) स्वीकृति के लिये तथा (ज्यैष्ठ्याय) सर्वश्रेष्ठ मोक्ष के प्रदान के निमित्त, (सद्यः) शीघ्र ही (अजायथाः) प्रकट हो जाते हैं ।

४३४. आ त्वा विशन्त्वाशवः सोमास इन्द्र गिर्वणः ।
शं ते सन्तु प्र

(गिर्वणः) हे वेदवाणियों द्वारा भजनीय (इन्द्र) परमेश्वर ! (आशवः) हमारे संवेगी (सोमासाः) भक्तिरस, (त्वा) आप में (आ विशन्तु) प्रवेश पा जांय, आप उन्हें स्वीकार कर लें । (ते) और वे भक्तिरस (प्रचेतसे) प्रज्ञानी उपासक के लिये (शम्) शान्तिप्रद (सन्तु) हों ।

४३५. त्वां स्तोमा अवीवृधन् त्वामुक्था शतक्रतो ।
त्वां वर्धन्तु नो गिरः ॥६॥

(शतक्रतो) हे सैंकड़ों अद्भुत कर्मोंवाले परमेश्वर ! (स्तोमाः) वैदिक सामगानों ने (त्वा) आपके यश को (अवीवृधन्) बढ़ाया है। (उक्था) वैदिक सूक्तों ने (त्वा) आपके यश को बढ़ाया है। (नः) हमारी (गिरः) स्तुतिवाणियां भी (त्वा) आपके यश को (वर्धन्तु) बढ़ाएं।

४३६. अक्षितोतिः सनेदिमं वाजमिन्द्रः सहस्रिणम् ।
यस्मिन् विश्वानि पौंस्या ॥७॥

(अक्षितोतिः) अक्षीण रक्षावाला अर्थात् सदा रक्षक (इन्द्रः) परमेश्वर, (इमं वाजम्) हमें ऐसी शक्ति (सनेत्) प्रदान करे कि हम (सहस्रिणम्) हजारों की सेवा कर सकें। वह परमेश्वर (यस्मिन्) जिसमें कि (विश्वानि) सब प्रकार की (पौंस्या) शक्तियां हैं।

४३७. मा नो मर्ता अभि द्रुहन् तनूनामिन्द्र गिर्वणः ।
ईशानो यवया वधम् ॥८॥

(गिर्वणः) वेदवाणियों द्वारा भजनीय (इन्द्र) हे परमेश्वर ! (मर्ताः) मरणधर्मा मनुष्यों में रहनेवाले राग-द्वेष आदि, आपकी कृपा से (नः) हमारी (मा अभिद्रुहन्) हत्या न करें। (तनूनाम्) अब आप हमारे शरीरों के (ईशानः) अधीश्वर हो गये हैं। इसलिये (वधम्) राग-द्वेष आदि से होनेवाले वधों को (यवय) हमसे पृथक् रखें। [मर्ताः=अर्शाद्यच्। मर्त+अच् (वाले), अर्थात् मरण धर्मवाले मनुष्यों में रहनेवाले।]

४३८. युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं चरन्तं परि तस्थुषः ।
रोचन्ते रोचना दिवि ॥९॥

(ब्रध्नम्) सब से महान्, (अरुषम्) रोषरहित, (तस्थुषः परि चरन्तम्) चारों ओर स्थित जगत् में विचरनेवाले परमेश्वर को, ध्यानी उपासक, (युञ्जन्ति) अपने साथ योगविधियों द्वारा युक्त करते हैं, सम्बद्ध करते हैं, जिसके कि सामर्थ्य द्वारा (दिवि) द्युलोक में (रोचना) रुचिकर चमकीले तारा गण (रोचन्ते) चमक रहे हैं।

४३९. युञ्जन्त्यस्य काम्या हरी विपक्षसा रथे ।
शोणा धृष्णू नृवाहसा ॥१०॥

(काम्या) योगसाधना के लिये चाही गई, (हरी) चित्त को अन्तर्मुख कर देनेवाली, (विपक्षसा) सुषुम्णा के दो पक्षों में अलग-अलग लगी हुई, (शोणा) तमःप्रधान तथा रजःप्रधान, (धृष्णू) मजबूत, (नृवाहसा) योगसाधना में नेतृरूप उपासकों को उनके उद्देश्य की ओर ले जानेवाली इड़ा और पिंगला नाड़ियों को, (अस्य) इस परमेश्वर के (रथे) रमणीय स्वरूप में (युञ्जन्ति) योगिजन, योगविधि द्वारा युक्त करते हैं, सम्बद्ध करते हैं।

[इडा, पिंगला, सुषुम्णा=सुषुम्णा नाड़ी गुदा के निकट से मेरुदण्ड के भीतर होती हुई मस्तिष्क के ऊपर तक चली गई है। गुदा के स्थान के निकट से ही सुषुम्णा के वामभाग से इडा, और दक्षिण भाग से पिङ्गला, नासिका के मूलपर्यन्त चली गई है। भ्रूमध्य में ये तीनों नाड़ियां मिल जाती हैं। इडा को चन्द्र, तथा पिङ्गला को सूर्य भी कहते हैं। "पिङ्गला" नाड़ी दिन में सक्रिय रहती है, इसलिये यह रजःप्रधान नाड़ी है; और रात के समय "इडा" नाड़ी सक्रिय रहती है, इसलिये यह तमःप्रधान है (देखो—पातञ्जल योगप्रदीप, रचयिता स्वामी ओमानन्द, आर्य साहित्य मण्डल, अजमेर)। शोणा=इडा का वर्ण शुभ्र, तथा पिङ्गला का वर्ण पीतिमा लिये होता है, शोणृ वर्णे।]

अथवा

(अस्य) इस परमेश्वर द्वारा (काम्या) चाही गई, तथा (रथे) शरीर-रथ में (विपक्षसा) दोनों पार्श्वों में लगी हुई, (हरी) प्रत्याहार-योगसाधना द्वारा वशीकृत ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों को, योगिजन, परमेश्वरीय इच्छा की पूर्ति के निमित्त (युञ्जन्ति) प्रयुक्त करते हैं। तब ये दोनों प्रकार की इन्द्रियां (शोणा) विशेष-प्रगति से सम्पन्न होती हैं, (धृष्णू) पापघर्षक तथा (नृवाहसा) शरीर-रथ में शरीर-रथ के नेता जीवात्मा का वहन करने लगती हैं।

[विपक्षसा=शरीर के दोनों पार्श्व में इन्द्रियां लगी हुई हैं; श्रोत्र दोनों ओर हैं, चक्षु दोनों ओर हैं, नासाछिद्र दोनों ओर हैं, जिह्वा बोलने और स्वाद लेने की दृष्टि से दो कार्य करती है,—ज्ञानेन्द्रिय का भी

और कर्मेन्द्रिय का भी । हाथ दोनों ओर हैं—इत्यादि । शोणा=शोण गतौ ।]

४४०. केतुं कृण्वन्नकेतवे पेशो मर्या अपेशसे ।
समुषद्भिरजायथाः ॥११॥

(मर्याः) हे उपासक जनो ! तुम परमेश्वर के प्रति कहो कि हे परमेश्वर ! आप (अकेतवे) प्रज्ञानरहित उपासक के लिये, (केतुम्) प्रज्ञान (कृण्वन्) प्रकट करते हुये, और (अपेशसे) रूपरहित उपासक के लिये (पेशः) नया रूप प्रकट करते हुये, (उषद्भिः) उषाकालों के साथ-साथ (सम् अजायथाः) सम्यक् प्रकार प्रकट हो जाइये ।

४४१. आदह स्वधामनु पुनर्गर्भत्वमेरिरे ।
दधाना नाम यज्ञियम् ॥१२॥

देखो—मन्त्र-संख्या (२६७) ।

सूक्त ७०

१-२० मधुच्छन्दाः । १,३ इन्द्रः मरुतः च; २,४,५ मरुतः; ६-२० इन्द्रः । गायत्री ।

४४२. वीळु चिदारुजत्नुभिर्गुहा चिदिन्द्र वह्निभिः ।
अविन्द उस्रिया अनु ॥१॥

(वीलु=वीडु चित्) दृढ़बद्ध संस्कारों और वासनाओं को भी (आ रुजत्नुभिः) पूर्णतया भग्न कर देनेवाले, (वह्निभिः) तथा योगमार्ग पर ले चलनेवाले, और ज्ञानप्रकाश से प्रकाशित उपासक-शिरोमणियों द्वारा,—(गुहा चित्) हृदय-गुहा में छिपे हुये भी (इन्द्र) हे परमेश्वर ! आप (अविन्दः) प्राप्त कर लिये जाते हैं । (उस्रिया अनु) आपको प्राप्त करने से पूर्व आपके दिव्यप्रकाश प्रकट होते हैं, तत्पश्चात् आप प्राप्त कर लिये जाते हैं ।

४४३. देवयन्तो यथा मतिमच्छा विदद्वसुं गिरः ।
महामनूषत श्रुतम् ॥२॥

(देवयन्तः) हे परमेश्वर ! आप देव को चाहते हुये उपासकों ने, (यथा) जैसे (मतिम् अच्छ) सन्मति को (विदत्) प्राप्त किया है, वैसे (गिरः वसुम्) वेदवाणियों की सम्पत्तिरूप आपको भी प्राप्त किया है । तदनन्तर (महाम्) महान् और (श्रुतम्) लोक और वेदों में विश्रुत आपका (अनूषत) सब के प्रति स्तवन किया है ।

४४४. इन्द्रेण सं हि दृक्षसे संजग्मानो अबिभ्युषा ।
मन्दू समानवर्चसा ॥३॥

हे उपासक ! तू (हि) निश्चय से, (अबिभ्युषा) स्वयं निर्भय और उपासकों को निर्भय कर देनेवाले (इन्द्रेण) परमेश्वर के साथ (सम्) संगति को प्राप्त हुआ (दृक्षसे) दृष्टिगोचर हो रहा है । अब तुम दोनों (मन्दू) आनन्दित और (समानवर्चसा) समानकान्तिवाले हो ।

[दोनों=परमेश्वर और उपासक ।]

४४५. अनवद्यैरभिद्युभिर्मखः सहस्वदर्चति ।
गणैरिन्द्रस्य काम्यैः ॥४॥

देखो—मन्त्र-संख्या (२६६) ।

४४६. अतः परिज्मन्ना गहि दिवो वा रोचनादधि ।
समस्मिन्नृञ्जते गिरः ॥५॥

(परिज्मन्) हे सर्वगत परमेश्वर! अथवा हे समग्र भूमि के परिपालक परमेश्वर ! आप (अतः) इस हृदय से (आ गहि) प्रकट हूजिये, हमें प्राप्त हूजिये (वा) या (दिवः रोचनात् अधि) प्रकाशमान मस्तिष्क के सहस्रार-चक्र से प्रकट हूजिये, हमें प्राप्त हूजिये । (अस्मिन्) इस उपासक में (गिरः) आपकी स्तुतियां, (सम्) सम्यक्रूप में (ऋञ्जते) परिपक्व हो रही हैं ।

[अज गतौ (निरु० ३।२।६)। अथवा ज्मा पृथिवी (निघ० १।१)। ऋञ्जते=ऋजि (भर्जने)।]

४४७. इतो वा सातिमीमहे दिवो वा पार्थिवादधि ।
इन्द्रं महो वा रजसः ॥६॥

(इतः पार्थिवात् अधि) इस पृथिवीलोक से, (वा) और (दिवः) द्युलोक से, (वा) तथा (महः रजसः) महान् आकाश से,—(इन्द्रम्) परमेश्वर से (सातिम्) दान की (ईमहे) हम प्रार्थना करते हैं।

[साति=षणु दाने। पृथिवी से अन्न, ओषधि, निवासस्थान का दान, द्युलोक से प्रकाश और ताप का दान, अन्तरिक्षलोक से वायु और मेघीयजल का दान। वा=च (और); यथा "**अथापि समुच्चयार्थे भवति वायुर्वा त्वा मनुर्वा त्वा**" (निरु० १।२।५)।]

४४८. इन्द्रमिद् गाथिनो बृहदिन्द्रमर्केभिरर्किणः।
इन्द्रं वाणीरनूषत ॥७॥

देखो—२०।३८।४, तथा २०।४७।४॥

४४९. इन्द्र इद्धर्योः सचा संमिश्ल आ वचोयुजा।
इन्द्रो वज्री हिरण्ययः ॥८॥

देखो—२०।३८।५, तथा २०।४७।५॥

४५०. इन्द्रो दीर्घाय चक्षस आ सूर्यं रोहयद् दिवि।
वि गोभिरद्रिमैरयत् ॥९॥

देखो—२०।३८।६; तथा २०।४७।६॥

४५१. इन्द्र वाजेषु नोऽव सहस्रप्रधनेषु च।
उग्र उग्राभिरूतिभिः ॥१०॥

(उग्र इन्द्र) हे शक्तिशाली परमेश्वर! (वाजेषु) सांसारिक सम्पत्तियों और सांसारिक बलों की प्राप्ति में आप (नः अव) हमारी रक्षा कीजिये, ताकि प्रलोभनवश और असत्य व्यवहारों द्वारा हम इनकी प्राप्ति न करें। (च) तथा (सहस्रप्रधनेषु) हजारों प्रकार की प्रकृष्ट-सम्पत्तियां जिनसे प्राप्त हो जाती हैं, ऐसे महायुद्धों में भी आप (उग्राभिः ऊतिभिः) अपनी प्रबल रक्षाओं द्वारा हमारी रक्षा करें, ताकि हम इन युद्धों से परे रहें।

[वैदिक भावना युद्ध का विरोध करती है। यथा—**संजानामहै मनसा संचिकित्वा मा युष्महि मनसा दैव्येन। मा घोषा उत् स्थुर्बहुले**

विनिर्हते मेषुः पप्तदिन्द्रस्याहन्यागते॥ (अथर्व० ७।५२।२); अर्थात् "हम मन से ऐकमत्य को प्राप्त हों, सम्यक्-ज्ञानपूर्वक ऐकमत्य को प्राप्त हों। इस दिव्यविचारोंवाले मन से हम वियुक्त न हों। बहुघाती-युद्धों में उठनेवाले आर्त्तनाद न उठें। युद्धदिन के उपस्थित हो जाने पर भी राजाओं और सेनापतियों के अस्त्र-शस्त्र एक-दूसरे पर न गिरें"।

४५२. इन्द्रं वयं महाधन इन्द्रमर्भे हवामहे।
युजं वृत्रेषु वज्रिणम् ॥११॥

(वयम्) हम उपासक (महाधने) महा-मोक्षधन की प्राप्ति में (युजम् इन्द्रम्) सहयोगी परमेश्वर का (हवामहे) आह्वान करते हैं। (अर्भे) अल्प सांसारिक धन की प्राप्ति में भी (इन्द्रम्) परमेश्वर का (हवामहे) हम आह्वान करते हैं। (वज्रिणम्) न्यायवज्रधारी परमेश्वर का उस समय भी हम आह्वान करते हैं, जबकि (वृत्रेषु) कामादि दुर्वासनाएं हमें घेर लेती हैं।

४५३. स नो वृषन्नमुं चरुं सत्रादावन्नपा वृधि।
अस्मभ्यमप्रतिष्कुतः ॥१२॥

(वृषन्) हे सुखवर्षी! (सत्रादावन्) हे सच्चे दानी! (सः) वे आप,—(नः अमुं चरुम्) हमारे भीतर चञ्चल स्वभाववाले उस रजोगुण को (अपावृधि) हटा दीजिये। (अस्मभ्यम्) हमारे इस कार्य के लिये (अप्रतिष्कुतः) आप कहीं से भी प्रतिरोध नहीं पा सकते।

४५४. तुञ्जे तुञ्जे य उत्तरे स्तोमा इन्द्रस्य वज्रिणः।
न विन्धे अस्य सुष्टुतिम् ॥१३॥

(वज्रिणः) पापों पर वज्रप्रहार करनेवाले (इन्द्रस्य) परमेश्वर के (तुञ्जे तुञ्जे) पापों पर वज्रप्रहार होते हुये, (ये) जो (उत्तरे) उत्तम और उत्कृष्ट (स्तोमाः) सामगान होने चाहियें, जिन द्वारा (अस्य) इस परमेश्वर की (सुष्टुतिम्) उत्तमोत्तम स्तुतियां हो सकें, उन्हें मैं (न विन्धे) नहीं जानता। [तुञ्जः=वज्र (निघ० २।२०)।]

४५५. वृषा यूथेव वंसगः कृष्टीरियर्त्योजसा।
ईशानो अप्रतिष्कुतः ॥१४॥

(वंसगः) रोब-दाब की चालवाला सेनापति, (इव) जैसे (यूथा) सैनिक-समूहों को, (ओजसा) अपने प्रभाव के कारण, (इर्यति) आज्ञा द्वारा प्रेरित करता है, (ईशानः) और उन पर शासन करता है, वैसे (वृषा) सुखों की वर्षा करनेवाला जगन्नेता, (ओजसा) अपने सर्वोपरि ओज के कारण, (कृष्टीः) प्रजाजनों को (इर्यत्ति) प्रेरित कर रहा है, (ईशानः) और सब पर सुशासन कर रहा है; (अप्रतिष्कुतः) इस सम्बन्ध में उसका कहीं से भी प्रतिरोध नहीं होता।

[वंसगः—वननीयगतिः। कृष्टीः=मनुष्याः (निघ० २।३)।]

४५६. य एकश्चर्षणीनां वसूनामिरज्यति ।
इन्द्रः पञ्च क्षितीनाम् ॥१५॥

(यः) जो (एकः) एक (चर्षणीनाम्) सब मनुष्यों का, (वसूनाम्) सब वसुओं का, तथा (पञ्च) पांच या विस्तृत (क्षितीनाम्) पृथिवियों या ग्रहों का (इरज्यति) अधीश्वर है, (इन्द्रः) वह परमेश्वर है।

[चर्षणयः=मनुष्याः (निघ० २।३)। इरज्यति=ऐश्वर्यकर्मा (निघ० २।२१)। पञ्च=पच् विस्तारे। वसवः=अग्नि, पृथिवी; वायु, अन्तरिक्ष; चन्द्रमा, नक्षत्र; सूर्य, द्यौः। पञ्च=मङ्गल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनैश्वर(?) क्षिति=निवासयोग्य भूमि। चन्द्र, पृथिवी का उपग्रह है; सूर्य अतितप्त है, – इसलिये इन दो का ग्रहण नहीं किया।]

४५७. इन्द्रं वो विश्वतस्परि हवामहे जनेभ्यः ।
अस्माकमस्तु केवलः ॥१६॥

(वः) हे उपासको! तुम्हारे लिये, तथा (जनेभ्यः) सभी अन्य जनों के लिये, (विश्वतः परि) सर्वत्र परिगत (इन्द्रम्) परमेश्वर का (हवामहे) हम आह्वान करते हैं। वह परमेश्वर (अस्माकम्) हम सब का (केवलः) एकमात्र सेवनीय (अस्तु) हो, या वह कैवल्य प्राप्त परमेश्वर हम सब का सेवनीय हो। [केवलः=केवृ सेवने।]

४५८. एन्द्र सानसिं रयिं सजित्वानं सदासहम् ।
वर्षिष्ठमूतये भर ॥१७॥

(इन्द्र) हे परमेश्वर! (ऊतये) हमारी रक्षा के लिये हमें (रयिम्)

निजकृपा तथा निज प्रसन्नतारूपी सम्पत्ति (आ भर) प्रदान कीजिये, जो कि (सानसिम्) हमें ज्ञान-विज्ञान प्रदान करे, (सजित्वानम्) कामादि पर विजय प्राप्त कराये, (सदासहम्) सदा काम, अविद्या तथा राग-द्वेष आदि का पराभव करे, (वर्षिष्ठम्) और आनन्दरस की प्रभूत वर्षा करे। [सानसिम्=षणु दाने।]

४५९. नि येन मुष्टिहत्यया नि वृत्रा रुणधामहै ।
त्वोतासो न्यर्वता ॥१८॥

हे परमेश्वर! (त्वोतासः) आप द्वारा सुरक्षित हम उपासक,— (नि अर्वता) पाप-वृत्रों का नितरां हनन करनेवाले (येन) जिस आपकी सहायता द्वारा,—(वृत्रा) पाप-वृत्रों का (निरुणधामहै) हम निरोध करते हैं, तथा उनका (नि) नितरां हनन करते हैं, जैसे कि (मुष्टिहत्यया) मुट्ठी के प्रहार द्वारा अल्प-कीट नष्ट किये जा सकते हैं,—[मन्त्र ४६० के साथ अन्वय।]

४६०. इन्द्र त्वोतास आ वयं वज्रं घना ददीमहि ।
जयेम सं युधि स्पृधः ॥१९॥

(इन्द्र) हे परमेश्वर! (त्वोतासः) आप द्वारा सुरक्षित (वयम्) हम, (घना=घनानि) पाप-वृत्रों के हनन के साधनों का (आ ददीमहि) आदान करते हैं, और (वज्रम्) पाप-वृत्रों के लिये वज्ररूप आप का आश्रय लेते हैं। इस प्रकार (युधि) देवासुर-संग्राम में (स्पृधः) स्पर्धा आदि आसुरी भावनाओं को (सं जयेम) हम सम्यक् जीत लेते हैं।

[घना=हनन-साधन यम-नियमादि। अर्वता=अर्व हिंसायाम्।]

४६१. वयं शूरेभिरस्तृभिरिन्द्र त्वया युजा वयम् ।
सासह्याम पृतन्यतः ॥२०॥

(इन्द्र) हे परमेश्वर! (अस्तृभिः) पापों को परास्त करनेवाले, (शूरेभिः) धर्मशूर उपासक नेताओं, और (त्वया) आपके (युजा) सहयोग द्वारा (वयम्) हम उपासक, (पृतन्यतः) कामादि की सेनाओं को (सासह्याम) पूर्णतया पराभव करते हैं। [मन्त्र में "वयम्" दो बार पठित है। अभिप्राय है "हम और हम सब"।]

सूक्त ७१

१-१६ मधुच्छन्दाः । इन्द्रः । गायत्री ।

**४६२. मुहाँ इन्द्रः पुरश्चु नु मंहित्वमंस्तु वुज्रिणे ।
द्यौर्न प्रंथिना शवंः ॥१॥**

(इन्द्रः) परमेश्वर (महान्) महान् है, (नु) निश्चय से वह (परः) सर्वश्रेष्ठ है। (महित्वम्) यह सब महिमा (वज्रिणे) न्यायवज्रधारी परमेश्वर की (अस्तु) है। उसका (शवः) बल विस्तार की दृष्टि से (द्यौः न) द्युलोक के सदृश फैला हुआ है।

**४६३. सुमोहे वा य आशंत नरंस्तोकस्यु सनिंतौ ।
विप्रांसो वा धियायवंः ॥२॥**

(तोकस्य) सन्तान की (सनितौ) प्राप्ति हो जाने पर, (नरः) साधारण नर-नारियां, (समोहे) मोहमय गृहस्थ में (आशत) पड़ रहते हैं। परन्तु (ये) जो (विप्राः) मेधावी नर-नारियां हैं, वे (धियायवः) प्रज्ञा और कर्मों द्वारा प्रगति करते रहते हैं, अर्थात् आश्रम से आश्रमान्तर में जाते रहते हैं। [धियायवः=धिया+अय् (गतौ)। वा=समुच्चयार्थः।]

**४६४. यः कुक्षिः सोमुपातंमः समुद्र इंव पिन्वंते ।
उुर्वीरापो न कुाकुदंः ॥३॥**

हे परमेश्वर! आपका (यः) जो (कुक्षिः) उदर, अर्थात् अन्तरिक्ष, (सोमपातमः) अभिषुत जल का अत्यधिक पान करता है, और जो (समुद्र इव) समुद्र के सदृश सदा प्रीणित रहता है, वे आप (काकुदः) विस्तृत वेदवाणी के भी प्रदाता हैं, (उर्वीः आपः न) जैसे कि आपने समुद्रस्थ महा-जल प्रदान किया है। [सोम=जल; water (आपटे)। कुक्षिः=उदर=अन्तरिक्ष; "अन्तरिक्षमुतोदरम्" (अथर्व० १०।७।३२)। काकुदः=काकुत्+दः। काकुत्=वाक् (निघ० १।११)। छान्दस "त्" का लोप।]

**४६५. एुवा ह्यस्य सूनृता विरुप्शी गोमंती मुही ।
पुक्वा शाखा न दाुशुषे ॥४॥**

(एव=एवम्) इसी प्रकार की [मन्त्र ४६४] (अस्य) इस परमेश्वर की वेदवाणी है, जो कि (हि) निश्चय से (सूनृता) प्रिय और सत्य-रूपा है, (विरप्शी) जो विविध पदार्थों का व्यक्त वर्णन करती है, (गोमती) ज्ञानमयी किरणों से सम्पन्न, और (मही) महावाणी है। वह वेदवाणी (दाशुषे) ब्रह्मदान करनेवाले के लिये (पक्वा शाखा न) पके-फलोंवाली शाखा के समान फलदायिनी है।

[विरप्शी=वि+रप् (व्यक्तायां वाचि)+अश् (व्याप्तौ), अकार-लोपः छान्दसः।]

**४६६. एुवा हि ते विभूंतय ऊुतयं इन्द्र मावंते ।
सुद्यश्चित् सन्तिं दाुशुषें ॥५॥**

(इन्द्र) हे परमेश्वर! (एवा=एवम्) इसी प्रकार की अर्थात् विस्तृत [मन्त्र ४६४] (ते) आप की (विभूतयः) विभूतियां हैं, जोकि (मावते) मेरे जैसे उपासक के लिये (ऊतये) रक्षारूप हैं, और (दाशुषे) इन विभूतियों के दान करनेवाले के लिये ये विभूतियां (सद्यः चित्) शीघ्र ही पुनः उपस्थित हो जाती हैं।

**४६७. एुवा ह्यस्यु काम्युा स्तोमं उुक्थं चु शंस्या ।
इन्द्रांयु सोमंपीतये ॥६॥**

(एवा) इसी प्रकार के अर्थात् विस्तृत [मन्त्र ४६४], (हि) निश्चय से, (अस्य) इस परमेश्वर के (स्तोमः) सामगान (च) और (उक्थम्) ऋचाओं द्वारा प्रोक्त स्तुतियां हैं, जो कि (काम्या) उपासक जीवात्मा की कामना के योग्य हैं, और (शंस्या) प्रशंसनीय हैं। तथा (इन्द्राय) जीवात्मा के लिये (सोमपीतये) ज्ञानदुग्ध पीने के लिये हैं।

[सोम=दुग्ध। यथा—"सोमो दुग्धाभिरक्षाः" (ऋ० ९।१०७।९), अर्थात् दुही गई गौओं से सोम (=दुग्ध) क्षरित हुआ है।]

**४६८. इन्द्रेहि मत्स्यन्धंसो विश्वेंभिः सोमुपर्वंभिः ।
मुहाँ अंभिुष्टिरोजंसा ॥७॥**

(इन्द्र) हे परमेश्वर! (एहि) प्रकट हूजिये, (सोमपर्वभिः विश्वेभिः) भक्तिरस यज्ञ के सभी पर्वों द्वारा आप (अन्धसः) भक्तिरसरूपी अन्न

से (मत्सि) प्रसन्न हूजिये। आप (ओजसा) ओज द्वारा (महान्) महान् हैं, और (अभिष्टिः) आप हमारे अभीष्ट हैं।

[पर्व=भक्ति-यज्ञों के काल। जैसे कि "तं यज्ञं प्रावृषा प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रतः" (अथर्व० १९।६।११)। अर्थात् "यज्ञस्वरूप परमेश्वर को, वर्षाकाल से प्रारम्भ करके, भक्तिरस द्वारा सींचना चाहिये"। इसी प्रकार "वसन्तोऽस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः" (अथर्व० १९।६।१०); अर्थात् "वसन्तकाल से भक्तियज्ञ प्रारम्भ करना चाहिये"। इस प्रकार वर्षा तथा वसन्त ऋतु भक्तियज्ञ के पर्व हैं।

४६९. एमेनं सृजता सुते मन्दिमिन्द्राय मन्दिने।
चक्रिं विश्वानि चक्रये ॥८॥

(सुते) भक्तिरस के उत्पन्न हो जाने पर, (मन्दिम्) हर्षप्रद तथा (चक्रिम्) फलोत्पादक (इमम्) इस भक्तिरस को, (मन्दिने) आनन्दघन तथा (विश्वानि चक्रये) विश्व के पुनः-पुनः कर्त्ता (इन्द्राय) परमेश्वर के लिये (आ सृजत) पूर्णतया समर्पित कर दो।

४७०. मत्स्वा सुशिप्र मन्दिभि स्तोमेभिर्विश्वचर्षणे।
सचैषु सवनेष्वा ॥९॥

(सुशिप्र) हे उत्तम ज्योतियों से सम्पन्न! (विश्वचर्षणे) हे विश्व-द्रष्टा!, (मन्दिभिः) प्रसन्नतादायक (स्तोमेभिः) सामगानों द्वारा (मत्स्व) आप प्रसन्न हूजिये, और (एषु) इन (सवनेषु) भक्तिरसयज्ञों में (आ सच) हमारा साथ दीजिये। [सुशिप्र=सु+शिपि (ज्योति)+र(वाला)।]

४७१. असृग्रमिन्द्र ते गिरः प्रति त्वामुदहासत।
अजोषा वृषभं पतिम् ॥१०॥

(इन्द्र) हे परमेश्वर! (ते) आपकी (गिरः) वेदवाणियों का, आप की स्तुतियों के निमित्त, (असृग्रम्) मैंने सर्जन किया है, ये (वृषभम्) सुखवर्षी, (पतिम्) विश्वपति (त्वां प्रति) आपके प्रति (उदहासत) उत्कृष्ट रूप में पहुंची हैं, जैसे कि (अजोषा) अभुक्ता नव-विवाहिता पत्नी (वृषभं पतिम्) सुखवर्षी, सशक्त पति के प्रति प्रसन्नतापूर्वक पहुंचती है।

४७२. सं चोदय चित्रमर्वाग् राध इन्द्र वरेण्यम्।
असदित् ते विभु प्रभु ॥११॥

(इन्द्र) हे परमेश्वर! (चित्रम्) अद्भुत और विचित्र, तथा (वरेण्यम्) वरण करने योग्य श्रेष्ठ (राधः) आध्यात्मिक-धन, (सं चोदय) सम्यक्रूप में (अर्वाक्) हमारे प्रति, प्रेरित कीजिये। (ते) आपका यह धन (विभु) विभूतिरूप है, (प्रभु) और प्रभावशाली (असत् इत्) है।

४७३. अस्मान्त्सु तत्र चोदयेन्द्र राये रभस्वतः।
तुविद्युम्न यशस्वतः ॥१२॥

(इन्द्र) हे परमेश्वर! (राये) आध्यात्मिक-धन (मन्त्र ४७२) की प्राप्ति के लिये (अस्मान्) हम (रभस्वतः) अति प्रयत्नशील उपासकों को, (तत्र) अध्यात्म-मार्ग में, (सु चोदय) सम्यक् प्रेरित कीजिये। (तुविद्युम्न) हे आध्यात्मिक सम्पत्तियों के महाधनी! (यशस्वतः) उस धन की प्राप्ति द्वारा हमें यशस्वी कीजिये।

४७४. सं गोमदिन्द्र वाजवदस्मे पृथु श्रवो बृहत्।
विश्वायुर्धेह्यक्षितम् ॥१३॥

(इन्द्र) हे परमेश्वर! (गोमत्) इन्द्रियों को प्रशस्त बनानेवाले, (वाजवत्) बलशाली, (पृथु) विस्तृत, तथा (अक्षितम्) न क्षीण होनेवाले (बृहत् श्रवः) महाधन को, आध्यात्मिक महाधन को, (विश्वायुः) हमारी समग्र आयु पर्यन्त, (अस्मे संधेहि) हमारे साथ सम्बद्ध कीजिये, हमें प्रदान करते रहिये।

४७५. अस्मे धेहि श्रवो बृहद् द्युम्नं सहस्रसातमम्।
इन्द्र ता रथिनीरिषः ॥१४॥

(इन्द्र) हे परमेश्वर! (अस्मे) हमें (श्रवः) यशस्वी (बृहत् द्युम्नम्) आध्यात्मिक-महाधन दीजिये, जो कि (सहस्रसातमम्) हजारों सुख देता है। (रथिनीः) और शरीर-रथ के रथी जीवात्मा की (ताः) उन प्रसिद्ध आध्यात्मिक (इषः) अभिलाषाओं को सफल कीजिये।

४७६. वसोरिन्द्रं वसुपतिं गीर्भिर्गृणन्त ऋग्मियम् ।
होम गन्तारमूतये ॥१५॥

(वसो:) मोक्षधन के (इन्द्रम्) अधीश्वर, तथा (वसुपतिम्) आठ वसुओं के पति, (ऋग्मियम्) ऋचाओं के स्वामी तथा अर्चनीय, (गन्तारम्) सर्वगत परमेश्वर को (गीर्भिः गृणन्तः) वेदवाणियों द्वारा स्तुतियां करते हुये, (ऊतये) आत्मरक्षार्थ (होम) उसका आह्वान करते हैं ।

[वसुपतिम्—८वसु=अग्नि, पृथिवी; वायु, अन्तरिक्ष; चन्द्र, नक्षत्र; आदित्य, द्युलोक । होम=ह्वेञ् ।]

४७७. सुतेसुते न्योकसे बृहद् बृहत एदरिः ।
इन्द्राय शूषमर्चति ॥१६॥

(सुते-सुते) समय-समय पर भक्तिरस के उत्पन्न होने पर, (न्योकसे) निनरां सब के निवासभूत, (बृहते) सब से महान् (इन्द्राय) परमेश्वर के लिये, उपासक, (शूषम्) सुखप्रद (बृहत्) महासामगान (आ अर्चति) अर्चनारूप में पूर्णतया भेंट करता है, क्योंकि यह परमेश्वर (इत्) ही (अरिः) सब का स्वामी है ।

[अरिः=ईश्वरः (निरु० ५।२।७) । शूषम्=सुखम् (निघ० ३।६)। न्योकसे=नि+ओकस्=निवासनाम+चतुर्थ्येकवचन (निरु० ३।१।३) । ओकः=उच्यते यत्र तत् ओकः, स्थानं वा (उणा० कोष ४।२१७)।]

षष्ठ अनुवाक समाप्त ॥

सूक्त ७२

१-३ परुच्छेपः । इन्द्रः । अत्यष्टिः ।

४७८. विश्वेषु हि त्वा सवनेषु तुञ्जते समानमेकं वृषमण्यवः पृथक् स्वः सनिष्यवः पृथक् । तं त्वा नावं न पर्षणिं शूषस्य धुरि धीमहि । इन्द्रं न यज्ञैश्चितयन्त आयवः स्तोमेभिरिन्द्रमायवः ॥१॥

हे परमेश्वर ! (वृषमण्यवः) सुखवर्षी आपका मनन निदिध्यासन करनेवाले उपासक, (विश्वेषु हि) सब ही (सवनेषु) भक्तिरस के यज्ञों

में (समानम्) समानरूप में प्रकट होनेवाले, (त्वा एकम्) एक आप को ही (तुञ्जते) स्वात्मदान अर्थात् आत्म-समर्पण करते हैं । तथा (स्वः) ज्योतिर्मय आप की (सनिष्यवः) भक्ति चाहनेवाले उपासक, (पृथक्-पृथक्) पृथक्-पृथक् रूप में भी, (त्वा) आप को ही आत्मसमर्पण करते हैं । हे परमेश्वर ! (नावं न) नौका के समान, (पर्षणिम्) भवसागर से पार करनेवाले (तं त्वा) उस आपको ही, हम उपासक, (शूषस्य धुरि) सुखों की धुरा में (धीमहि) स्थापित करते हैं, अर्थात् आप को ही एकमात्र सुखप्रदाता समझते हैं, और इस रूप में आपका ध्यान करते हैं । तथा (आयवः) याज्ञिकजन (यज्ञैः) यज्ञों द्वारा (न) जैसे (इन्द्रम्) परमेश्वर का (चितयन्तः) चिन्तन करते हैं, इसी प्रकार (आयवः) उपासनारत उपासकजन भी (स्तोमेभिः) सामगानों तथा स्तुतियों द्वारा (इन्द्रम्) परमेश्वर का चिन्तन करते हैं ।

[तुञ्जति=दानकर्मा (निघ० ३।२०)। स्वः=स्वृतः भासा (निरु० २।४।१४) अर्थात् स्वृतः=सम्यक् ऋतः प्राप्तः ज्योतिषा । सनिष्यवः=सन् संभक्तौ । आयवः=मनुष्याः (निघ० २।३) । (वृषमण्यवः=सुखवर्षी परमेश्वर का मनन करनेवाले ; वृष+मन्+क्यच्+उ+जस् ।]

४७९. वि त्वा ततस्रे मिथुना अवस्यवो व्रजस्य साता गव्यस्य निःसृजः सक्षन्त इन्द्र निःसृजः । यद् गव्यन्ता द्वा जना स्वर्यन्ता समूहसि । आविष्करिक्रद् वृषणं सचाभुवं वज्रमिन्द्र सचाभुवम् ॥२॥

(इन्द्र) हे परमेश्वर ! (अवस्यवः) रक्षा या आप की प्राप्ति चाहनेवाले, तथा (निःसृजः) निसर्गतः अर्थात् स्वभावतः प्राप्त, (निःसृजः) और सब को उत्पत्तिकाल में ही स्वभावतः प्राप्त (गव्यस्य) इन्द्रियसम्बन्धी (व्रजस्य) चञ्चलता के (साता=सातौ) विनाश के निमित्त (सक्षन्तः) आप का सेवन तथा आप का सम्बन्ध चाहनेवाले, या आप की ओर प्रगति करनेवाले (मिथुना) गृहस्थजन, (त्वा) आप को (वि ततस्रे) स्तुतियों द्वारा विशेषतया अलंकृत करते हैं । और जब (गव्यन्ता) ऐन्द्रियिक चञ्चलताओं से सम्पन्न (द्वा जना) दोनों पति-पत्नी जन, (स्वः यन्ता) सुख की प्राप्ति चाहते हैं, तब आप उन दोनों का (समूहसि) संहार कर देते हैं । और (इन्द्र) हे परमेश्वर ! (वृषणम्) आप के प्रति भक्तिरस की वर्षा करनेवाले, (वज्रम्) वज्ररूप होकर अपने पापों का संहार करने-

वाले, तथा (सचाभुवम्) आप के साथ संग करनेवाले, (सचाभुवम्) सदा आप के साथ संग करनेवाले उपासक को, आप (आविष्करिक्रद्) आविष्कृत अर्थात् सुप्रसिद्ध कर देते हैं।

अवस्यवः=अव् रक्षणे, प्राप्तौ च। निःसृजः=निः+सृज् (विसर्गे)। गव्यस्य=गौः=इन्द्रियां (उणा० कोष, २।६७), वैदिक पुस्तकालय, अजमेर। व्रजस्य=व्रज गतौ, चञ्चलता। सक्षन्तः=षच् सेवने; समवाये च; तथा सक्षति गतिकर्मा (निघ० २।१४)।]

४८०. उतो नो अस्या उषसो जुषेत ह्यर्कस्य बोधि हविषो हवीमभिः स्वर्षाता हवीमभिः। यदिन्द्र हन्तवे मृधो वृषा वज्रिं चिकेतसि। आ मे अस्य वेधसो नवीयसो मन्म श्रुधि नवीयसः ॥३॥

(उत उ) तथा परमेश्वर (नः) हमारे (अस्याः उषसः) जीवनों के इन उषाकालों को (जुषेत) प्रीतिपूर्वक स्वीकार करता है, और (हवीमभिः) हमारी पुकारों के कारण, (हि) निश्चय से, (अर्कस्य) हमारी स्तुतियों और (हविषः) आत्माहुतियों अर्थात् आत्म-समर्पणों को (बोधि) जानता पहिचानता है। और (हवीमभिः) हमारी पुकारों के कारण, (स्वर्षाता) हमें स्वर्गीय सुख प्रदान करने के निमित्त, हमारी स्तुतियों और आत्मसमर्पणों को ध्यान में रखता है। (यद्) क्योंकि (वज्रिन्) हे न्यायवज्रधारी (इन्द्र) परमेश्वर! आप (मृधः) संग्रामकारी कामादि के (हन्तवे) हनन के लिये, समुचित साधनों को, (चिकेतसि) सम्यक् प्रकार से जानते हैं, (वृषा) और इनके हनन के पश्चात् आप सुख और आनन्द की वर्षा करते हैं। (मे अस्य) मुझ इस (नवीयसः) नवीन (वेधसः) मेधावी उपासक की (मन्म) मननीय-स्तुतियों को (आश्रुधि) पूर्णतया सुनिये, (नवीयसः) मुझ नवीन उपासक की स्तुतियों को अवश्य सुनिये।

[जुषेत=जुष् प्रीतिसेवनयोः। अर्कस्य=अर्कः मन्त्रः, अर्चनेनार्चन्ति (निरु० ५।१।४)। उषसः=जीवन का उषाकाल, जबकि उपासक प्रथम बार उपासनामार्ग पर पदार्पण कर आन्तर-प्रकाश पाता है।]

सूक्त ७३

१-३ वसिष्ठः; ४-६ वसुक्रः। इन्द्रः। १-३ विराट्; ४-५ जगती; ६ अभिसारिणी।

४८१. तुभ्येदिमा सवना शूर विश्वा तुभ्यं ब्रह्माणि वर्धना कृणोमि। त्वं नृभिर्हव्यो विश्वधासि ॥१॥

(शूर) हे पराक्रमी परमेश्वर! (इमा) ये (विश्वा सवना) सब भक्तिरसवाले यज्ञ (तुभ्येद्) आप के प्रति ही (कृणोमि) समर्पित करता हूं, और (वर्धना) उपासनामार्ग में वृद्धिप्रद (ब्रह्माणि) सब ब्राह्मी-स्तुतियां भी (तुभ्यम्) आपके प्रति ही समर्पित करता हूं। (त्वम्) आप ही (नृभिः) नर-नारियों द्वारा (हव्यः) पुकारे जाते हैं। क्योंकि आप ही (विश्वधा असि) विश्व के विधाता, धर्त्ता, तथा पुष्टिदाता हैं।

४८२. नू चिन्नु ते मन्यमानस्य दस्मोदश्नुवन्ति महिमानमुग्र। न वीर्यमिन्द्र ते न राधः ॥२॥

(दस्म) हे पापक्षयकारी!, (उग्र) हे संसार के नियन्त्रण और कर्मव्यवस्था में उग्ररूप!, (मन्यमानस्य) मनन और निदिध्यासन के विषयीभूत (ते) आपकी (महिमानम्) महिमा को, (नूचित् नु) पुराण और नवीन मनुष्य, (न) नहीं (उदश्नुवन्ति) व्याप सकते हैं। (इन्द्र) हे परमेश्वर! (न) न (ते) आपके (वीर्यम्) सामर्थ्य को, और (न) न (राधः) ऐश्वर्य और सम्पत्ति को ही व्याप सकते हैं।

[नूचिन्नु=नूचिदिति निपातः पुराणनवयोः, नु चेति (निरु० ४।३।१७)। (दस्म=दस् उपक्षये। पुराण, नव=पुराकल्पों में और नये कल्पों में, और अतीत सृष्टियों तथा नवीन सृष्टियों में।]

४८३. प्र वो मुहे महिवृधे भरध्वं प्रचेतसे प्र सुमतिं कृणुध्वम्। विशः पूर्वीः प्र चरा चर्षणिप्राः ॥३॥

हे मनुष्यो! (वः) तुम्हारी (महिवृधे) महावृद्धि करनेवाले, (महे) महान्-आत्मा की प्राप्ति के लिये, (प्र भरध्वम्) अपने आपको पूर्णतया विषयों से पराङ्मुख कर लो। इस प्रकार (प्रचेतसे) सर्वज्ञ परमेश्वर की

प्राप्ति के लिये, (सुमतिम्) अपनी सुमति को (प्रकृणुध्वम्) और प्रकृष्ट बना लो। और हे परमेश्वर ! आप (पूर्वीः) सद्गुणों से परिपूर्ण, या योगाभ्यास में परिपूर्ण (विशः) उपासकजनों में (प्रचर) विचरिये, उनके हृदयों में विचरिये। आप (चर्षणिप्राः) सब मनुष्यों को सुखों से भरपूर कर रहे हैं। [भरध्वम्=भृ (हृ) हृग्रहोः भः छन्दसि; प्रत्याहार-साधना द्वारा इन्द्रियों को विषयों से हरना, हटाना। पूर्वीः=पूर्व पूरणे ।]

४८४. यदा वज्रं हिरण्यमिदथा रथं हरी यमस्य वहतो वि सूरिभिः।
आ तिष्ठति मघवा सनश्रुत इन्द्रो वाजस्य दीर्घश्रवसस्पतिः ।।४।।

(यदा) जब (यमस्य) यमनियमों का पालन करनेवाले उपासक के (हरी) ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियरूपी अश्व, (वि सूरिभिः) विशिष्ट-स्तोताओं की प्रेरणाओं के अनुसार, (रथं वहतः) उपासक के शरीर-रथ का वहन करने लगते हैं, (अथ) तदनन्तर (इत्) ही यह शरीर-रथ (वज्रं हिरण्यम्) हीरों और सुवर्ण के सदृश हो जाता है, अर्थात् बहुमूल्य हो जाता है। तब (मघवा) ऐश्वर्यों का स्वामी, (सनश्रुतः) सदाविश्रुत, (वाजस्य) शक्तियों और (दीर्घश्रवसः) दीर्घकाल से चली आई महाकीर्त्ति का (पतिः) पति (इन्द्रः) परमेश्वर, (आ तिष्ठति) उपासक के शरीर-रथ में आ स्थित होता है। [दीर्घ=अनादिकाल ।]

४८५. सो चिन्नु वृष्टिर्यूथ्या३ स्वा सचाँ इन्द्रः श्मश्रूणि हरिताभि प्रुष्णुते।
अव वेति सुक्षयं सुते मधूदिद् धूनोति वातो यथा वनम् ।।५।।

(यूथ्या) उपासकवर्गसम्बन्धी (सा चित्) वह प्रसिद्ध (वृष्टिः) आनन्दरसवर्षा, (नु) निश्चय से, (स्वा) परमेश्वर की निज सम्पत्ति है। (सचा) वह आनन्दरसवर्षा सदा उपासकों का साथ देती है। (इन्द्रः) परमेश्वर, (हरिता) हरा-भरा करनेवाली (श्मश्रूणि) सूर्य की किरणों को जब (अभि प्रुष्णुते) खूब तपाता है, तब वह प्राकृतिक वृष्टि होती है। इस प्रकार आध्यात्मिक और प्राकृतिक दोनों वृष्टियों का स्वामी परमेश्वर ही है। (सुते) भक्तिरस के निष्पन्न हो जाने पर वह परमेश्वर, (सुक्षयम्) पूर्णतया पापक्षयकारी (उत् मधु) उत्कृष्ट मधुर आनन्दरस की, (इत्) निश्चय से, (अववेति) वर्षा करता है। और भक्तिहीन पापियों को (धूनोति) ऐसे कम्पा देता है (यथा) जैसे कि (वातः) झंझावात (वनम्) समग्रवन को कम्पा देती है। [श्मश्रूणि=हिरण्यश्मश्रुः "सूर्यः" (छा०उप०अ०१, खं०६, सन्दर्भ ६)।]

४८६. यो वाचा विवाचो मृध्रवाचः पुरू सहस्राशिवा जघान ।
तत्तदिदस्य पौंस्यं गृणीमसि पितेव यस्तविषीं वावृधे शवः ।।६।।

(यः) जो परमेश्वर, (वाचा) निज वेदवाणी के उपदेशों द्वारा, (विवाचः) विरुद्ध-विरुद्ध वक्ताओं तथा (मृध्रवाचः) कटुवक्ताओं के (पुरू सहस्रा) हजारों प्रकार की नानाविध (अशिवा) अशिव-भावनाओं का (जघान) हनन करता है,— (तत् तत् इत्) इस परमेश्वर के उस-उस (पौंस्यम्) शक्तिशाली कर्म की (गृणीमसि) हम स्तुतियां करते हैं, जो परमेश्वर कि (पिता इव) सांसारिक पिता के सदृश (तविषीम्) हमारे बलों और (शवः) सामर्थ्यों को (वावृधे) बढ़ाता रहता है।

सूक्त ७४

१-७ शुनःशेपः । इन्द्रः । पङ्क्तिः ।

४८७. यच्चिद्धि सत्य सोमपा अनाशस्ता इव स्मसि ।
आ तू न इन्द्र शंसय गोष्वश्वेषु शुभ्रिषु सहस्रेषु तुवीमघ ।।१।।

(सत्य) हे सत्यस्वरूप परमेश्वर ! (यत् चित् हि) यतः आप (सोमपाः) भक्तिरस का पान करते हैं, इसलिये हम उपासक (अनाशस्ताः इव) सांसारिक आशंसाओं अर्थात् अभिलाषाओं से रहित-से (स्मसि) हो चुके हैं [और आपको भक्तिरस समर्पित कर रहे हैं]। (तुवीमघ इन्द्र) हे अध्यात्मधन के महाधनी परमेश्वर ! हम उपासकों की (सहस्रेषु) हजारों (गोषु) इन्द्रियों, और हजारों (अश्वेषु) मनों के (शुभ्रिषु) उपासना द्वारा सात्विक हो जाने पर, (नः) हमें आप (आशंसय) नये आध्यात्मिक मार्ग का उपदेश दीजिये, या एतत्सम्बन्धी आशा बन्धाइये[1]।

४८८. शिप्रिन् वाजानां पते शचीवस्तव दंसना ।
आ तू न इन्द्र शंसय गोष्वश्वेषु शुभ्रिषु सहस्रेषु तुवीमघ ।।२।।

---

१. अथवा—हे परमेश्वर ! हम नवीन उपासक अभी उपासना-मार्ग में अशिक्षित-से हैं। हमारा जीवन सात्विक है, इसलिये हमें आप उपासना-मार्ग का उपदेश दीजिये। [आ+शंस=Desire, wish, long for; To bless (आपटे)।]

(शिप्रिन्) हे ज्योतिर्मय !, (वाजानां पते) हे अन्नों और बलों के स्वामिन् ! (शचीवः) हे वेदवाणी और प्रज्ञाओंवाले ! (दंसना) हमारी अविद्या, रागद्वेष तथा पापों का क्षय (तव) आप पर निर्भर है । (आ तू नः०) इत्यादि पूर्ववत् (मन्त्र ४८७) ।

[शिप्रिन्=शिपि=रश्मियां+र+इन् । दंसना=दस् उपक्षये ।]

४८९. निष्वापया मिथूदृशा सस्तामबुध्यमाने ।
आ तू न इन्द्र शंसय गोष्वश्वेषु शुभ्रिषु सहस्रेषु तुवीमघ ॥३॥

(मिथूदृशा) मिथ्यादृष्टिवाले नर और नारियां (निष्वापय) अपनी मिथ्यादृष्टि की दीर्घनिद्रा में सोए से रहते हैं, और (अबुध्यमाने) यथार्थ-बोध को न पाकर (सस्ताम्) मिथ्यादृष्टियों के स्वप्न लेते रहते हैं । (आ तू नः०) पूर्ववत् (मन्त्र ४८७) ।

[मिथ्यादृष्टि=नास्तिकता=परलोक नहीं, कर्मव्यवस्था कोई नहीं, परमेश्वर नहीं, जीवात्मा नहीं,—इत्यादि विचारोंवाले नास्तिक]

४९०. ससन्तु त्या अरातयो बोधन्तु शूर रातयः ।
आ तू न इन्द्र शंसय गोष्वश्वेषु शुभ्रिषु सहस्रेषु तुवीमघ ॥४॥

हे परमेश्वर ! (त्याः) हमारी वे (अरातयः) अदान-भावनाएं (ससन्तु) सदा के लिये स्वप्नवत् हो जांय । और (शूर) हे पराक्रमशील ! (रातयः)हमारी दान-भावनाएं (बोधन्तु)सदा जागरित रहें । (आ तू नः०) पूर्ववत् (मन्त्र ४८७) ।

४९१. समिन्द्र गर्दभं मृण नुवन्तं पापयामुया ।
आ तू न इन्द्र शंसय गोष्वश्वेषु शुभ्रिषु सहस्रेषु तुवीमघ ॥५॥

(इन्द्र) हे परमेश्वर ! (अमुया) उस (पापया) पापमयी मिथ्या-दृष्टि (४८९) अर्थात् नास्तिकतादृष्टि, तथा अदानभावनारूपी (४९०) (पापया) पापमयी वृत्ति के साथ, (नुवन्तम्) सांसारिक भोगों के गीत गाने-वाले (गर्दभम्) गर्दभ-मनुष्य को (संमृण) विनष्ट कीजिये । (आ तू नः०) पूर्ववत् (मन्त्र ४८७) ।

४९२. पताति कुण्डृणाच्या दूरं वातो वनादधि ।
आ तू न इन्द्र शंसय गोष्वश्वेषु शुभ्रिषु सहस्रेषु तुवीमघ ॥६॥

(कुण्डृणाच्याः) परदाहक व्यवहारोंवाले व्यक्ति को परमेश्वर (पताति) गिरा देता है, जैसे कि (वनात् अधि) जलते हुए वन से आती हुई (वातः) जलती-वायु (दूरम्) दूरस्थ पदार्थों को जला कर (पताति) गिरा देती है । (आ तू नः०) पूर्ववत् (मन्त्र ४८७) ।

[कुण्डृणाची=कुडि दाहे+अञ्च् (गति, व्यवहार)।]

४९३. सर्वं परिक्रोशं जहि जम्भया कृकदाश्वम् ।
आ तू न इन्द्र शंसय गोष्वश्वेषु शुभ्रिषु सहस्रेषु तुवीमघ ॥७॥

हे परमेश्वर ! (परिक्रोशम्=आक्रोशम्) परकीय निन्दावृत्ति को, तथा हमारे आन्तरिक (क्रोशम्) शोरगुल को (जहि) हम से परे कीजिये । और (कृकदाश्वम्) कुत्सित कर्मों के करने में शीघ्रकारी अर्थात् सदा तत्पर अविवेकी व्यक्ति को (जम्भय) अपनी न्याय की दाढ़ों द्वारा कुचल कीजिये । (आ तू नः०) पूर्ववत् (मन्त्र ४८७) ।

[कृकदाश्वम्=कृ (कर्म)+कद् (कुत्सित)+आशुम् (आशु+अम्)।]

सूक्त ७५

१-३ परुच्छेपः । इन्द्रः । अत्यष्टिः ।

४९४. वि त्वा ततस्रे मिथुना अवस्यवो व्रजस्य ता गव्यस्य निःसृजः सक्षन्त इन्द्र निःसृजः । यद् गव्यन्ता द्वा जना स्वर्यन्ता समूहसि । आविष्करिक्रद् वृषणं सचाभुवं वज्रमिन्द्र सचाभुवम् ॥१॥

देखो—मन्त्र-संख्या (४७९) ।

४९५. विदुष्टे अस्य वीर्यस्य पूरवः पुरो यदिन्द्र शारदीरवातिरः
सासहानो अवातिरः । शासस्तमिन्द्र मर्त्यमयज्युं शवसस्पते ।
महीममुष्णाः पृथिवीमिमा अपो मन्दसान इमा अपः ॥२॥

(इन्द्र) हे परमेश्वर ! (पूरवः) मनुष्य (पुरः) अपने सामने ही, अर्थात् अपने जीवित काल में ही, (ते) आपके (अस्य वीर्यस्य) इस सामर्थ्य को (विदुः) जान लेते हैं—(१) (यत्) जब कि जीवनों की (शारदीः) शरत्कालीन अवस्थाओं अर्थात् जरावस्थाओं के उपस्थित हो जाने पर आप जीवनों का (अवातिरः) संहार कर देते हैं, (सासहानः) सहसा (अवातिरः) संहार कर देते हैं; (२) तथा (शवसस्पते इन्द्र) हे बलों के पति परमेश्वर ! जब कि आप (तम्) उस (अयज्युम्) यज्ञिय-भावनाओं से रहित (मर्त्यम्) मनुष्य-समुदाय का (शासः) शासन करते हैं, उस पर दण्डविधान करते हैं; (३) तथा जब (मन्दसानः) निज प्रसन्नता में ही आप (महीं पृथिवीम्) विस्तृत पृथिवी को, और (इमा अपः) नदी नालों और समुद्रों की इस महा जलराशि को, तथा इन क्रियमाण नानाविध कर्मकलापों को (अमुष्णाः) प्रलय में मानो चुरा-से लेते हैं, अपने में लीन कर लेते हैं, (इमाः अपः) इन जलों को अपने में लीन कर लेते हैं ।

[शारदीः—जीर्ण-शीर्ण अवस्थाएं । वर्ष में तीन मुख्य ऋतुएं होती हैं—ग्रीष्म, वर्षा, और सर्दी । सर्दी की समाप्ति में वर्ष की समाप्ति हो जाती है । इसी प्रकार जीवन की शरद्-ऋतु जरावस्था है,जिस की समाप्ति परे जीवन की समाप्ति हो जाती है । अपः=जल; कर्म (निघं० २।१)।]

४९६. आदित् ते अस्य वीर्यस्य चर्किरन्मदेषु वृषन्नुशिजो यदाविथ
सखीयतो यदाविथ । चकर्थ कारमेभ्यः पृतनासु प्रवन्तवे ।
ते अन्यामन्यां नद्यं सनिष्णत श्रवस्यन्तः सनिष्णत ॥३॥

(वृषन्) हे आनन्दरसवर्षी परमेश्वर ! (यद्) जब आप (उशिजः) आपकी प्राप्ति की कामनावाले मेधावी उपासकों की (आविथ) रक्षा करते हैं, (यद् सखीयतः) और जब सखिभूत इन उपासकों की (आविथ) रक्षा करते हैं, (आत् इत्) तब (मदेषु) भक्तिरसों की मस्तियों में आकर ये उपासक, (ते) आप के (अस्य) इस (वीर्यस्य) सामर्थ्य की (चर्किरन्) सर्वत्र चर्चा करते हैं ।(पृतनासु) देवासुर-संग्रामों के उपस्थित हो जाने पर आप, (एभ्यः) इन कामनावालों और अपने सखियों के लिये (कारम्) नई-नई क्रियाशक्ति (चकर्थ) प्रदान करते हैं, (प्रवन्तवे) ताकि ये अधिकाधिक भक्ति-प्रवण हो सकें । तब (ते) वे (अन्याम्-अन्याम्) प्रतिदिन की नई-नई (नद्यम्) भक्तिरस-रसीली चित्त-नदियों में (सनिष्णत) स्नान करते रहते

हैं । और (श्रवस्यन्तः) यशस्वी बनकर (सनिष्णत) अधिकाधिक स्नान करते हैं । [नद्यम्=नद्याम् ।]

सूक्त ७६

१-८ वसुक्रः । इन्द्रः । त्रिष्टुप् ।

४९७. वने न वा यो न्यधायि चाकञ्छुचिर्वां स्तोमो भुरणावजीगः ।
यस्येदिन्द्रः पुरुदिनेषु होता नृणां नर्यो नृतमः क्षपावान् ॥१॥

(यः वा) जो नर या नारी उपासक, (न) मानो (वने) वन में (चाकन्) वनश्री को देखता हुआ, (न्यधायि) ईश्वर-प्रणिधान करता है, हे नर-नारी उपासको ! (वाम्) तुम दोनों का (शुचिः) पवित्र (स्तोमः) सामगान, तब (भुरणौ) भरण-पोषण करनेवाले परमेश्वर में (अजीगः) प्राप्त हो जाता है । (इन्द्रः) परमेश्वर (पुरुदिनेषु) बहुत दिनों तक (यस्य इत्) जिस ही उपासक का (होता) शक्तिप्रदाता हो जाता है, वह उपासक (नृणाम्) नरों में (नर्यः) नरश्रेष्ठ हो जाता है,(नृतमः) श्रेष्ठ नेता बन जाता है, (क्षपावान्) और क्षमाशील बन जाता है ।

[चाकन्=चाकनत् पश्यतिकर्मा (निघं० ३।११) । क्षपा=क्षपि क्षान्त्याम् । अजीगः=गृह्णातिकर्मा (निरु० ६।२।८)।]

४९८. प्र ते अस्या उषसः प्रापरस्या नृतौ स्याम नृतमस्य नृणाम् ।
अनु त्रिशोकः शतमावहन्नॄन् कुत्सेन रथो यो असत् ससवान् ॥२॥

हे परमेश्वर ! (अस्याः) आज की इस (उषसः) उषावेला में, या (अपरस्याः) आनेवाली किसी उषावेला में, (नृणाम्) उपासक नरनारियों के (नृतमस्य) सर्वोत्कृष्ट नेता आप के (प्र नृतौ) प्रकृष्ट-नेतृत्व में (प्र स्याम) हम सदा वर्तमान रहें ।(अनु) आप के नेतृत्व में रहने के पश्चात् (त्रिशोकः) शारीरिक मानसिक और आध्यात्मिक शोकों से तीर्ण हुआ उपासक (शतम्) सैंकड़ों (नॄन्) नरनारियों को (आ वहत्) सन्मार्ग पर ले चलता है, जैसे कि (कुत्सेन) विद्युत् की सहायता द्वारा (रथः) रथ, सैंकड़ों नर-नारियों का वहन करता है । (यः) जो मनुष्य (ससवान्) सोया पड़ा (असत्) होता है, उसे भी त्रिशोक सन्मार्ग पर ले चलता है ।

[ससवान्=सस्ति स्वपितिकर्मा (निघं० ३।२२)।]

४९९. कस्ते मद इन्द्र रन्त्यो भूद् दुरो गिरो अभ्युग्रो वि धाव ।
कद् वाहो अर्वागुप मा मनीषा आ त्वा शक्यामुपमं राधो अन्नैः ॥३॥

(इन्द्र) हे परमेश्वर ! (ते) आप का (कः) कौनसा (मदः) मस्ताना आनन्दरस है, जो कि उपासक को (रन्त्यः) रमणीय (भूत्) प्रतीत हुआ है, जो (उग्रः) उग्र आनन्दरस कि (गिरः दुरः) वेदवाणियों के घर आप में (वि धाव) विशेषतया प्रकट हो रहा है? तथा हे परमेश्वर ! (कद्) कब आपकी (मनीषा) मनोवाञ्छा, (मा) मुझे (अर्वाक्) आप की ओर, और (उप) आप के समीप, (अभि वाहः) ले जायगी ? ताकि मैं (अन्नैः) अन्नमय शरीर, इन्द्रियों और मन द्वारा (त्वा) आप के प्रति (उपमम्) उपमायोग्य (राधः) आराधना-धन, या आत्मसमर्पण-धन (आ शक्याम्) भेंट करने में सशक्त हो सकूं ।

[वि धाव=वि धावति । गिरो दुरः, दुरः=द्वार,तत्सम्बन्धी गृह ।]

५००. कदु द्युम्नमिन्द्र त्वावतो नॄन् कया धिया करसे कन्न आगन् ।
मित्रो न सत्य उरुगाय भृत्या अन्ने समस्य यदसन् मनीषाः ॥४॥

(इन्द्र) हे परमेश्वर ! (त्वावतः) आप को चाहनेवाले (नॄन्) उपासक-नेताओं को, आप की (द्युम्नम्) द्युति (कद् उ) कब (आगन्) प्राप्त होगी ? तथा (कया धिया) किस विचार से आप (द्युम्नं करसे) निज उपासक में द्युति प्रकट करते हैं ? (कत् नः) कब हम नवीन उपासकों को यह आप की द्युति (आगन्) प्राप्त होगी ? । (उरुगाय) हे महाकीर्त्तिवाले ! आप (भृत्या) भरण-पोषण की दृष्टि से (सत्यः मित्रः न) सच्चे मित्र के सदृश हैं । हे परमेश्वर ! (समस्य) सब के (अन्ने) अन्नमय मनों में (यद्) जब (मनीषाः) ऐसी मनोवाञ्छाएं (असन्) पैदा हो जायंगी, तब आप सब के भीतर निज द्युति प्रकट करेंगे, और सब के सच्चे मित्र हो जायंगे ।

[अन्ने='अन्नमयं हि सोम्य मनः' (छान्दो० उप० ६।७।६)]

५०१. प्रेरय सूरो अर्थं न पारं ये अस्य कामं जनिधा इव ग्मन् ।
गिरश्च ये ते तुविजात पूर्वीर्नर इन्द्र प्रतिशिक्षन्त्यन्नैः ॥५॥

(ये) जो उपासक (अस्य) इस परमेश्वर की (कामम्) कामना को (ग्मन्) पूरा करते हैं, (इव) जैसे कि (जनिधाः) जन्मदाता पिता-पुत्र की

कामना को पूरा करता है,—तब (सूरः) प्रेरक आप, हे परमेश्वर ! उपासकों की (अर्थम्) अभ्यर्थनाओं को (प्रेरय) प्रेरित कीजिये, सफल कीजिये, जो अभ्यर्थनाएं कि उपासकों को (पारम्) भवसागर से पार कर देती हैं । (तुविजात) हे बहुतों में प्रकट होनेवाले (इन्द्र) परमेश्वर ! (ये) जो (नरः) उपासक-नेता (ते) आप की (पूर्वीः) अनादि (गिरः) वेदवाणियों की (अन्नैः प्रति शिक्षन्ति) शिक्षा प्रत्येक को, अपने प्राणों की आहुतियां देकर करते हैं, उन की अभ्यर्थनाओं को आप पूर्ण कर देते हैं ।

[अर्थं न पारम्=जैसे सांसारिक-धन सांसारिक कष्टों से पार करता है, वैसे आध्यात्मिक धन अविद्याजन्य कष्टों से पार करता है ।]

५०२. मात्रे नु ते सुमिते इन्द्र पूर्वी द्यौर्मज्मना पृथिवी काव्येन ।
वराय ते घृतवन्तः सुतासः स्वाद्मन् भवन्तु पीतये मधूनि ॥६॥

(इन्द्र) हे परमेश्वर ! (ते) आप के (मज्मना) बल से (पूर्वी) पूर्वकाल से प्रकट हुआ (द्यौः) द्युलोक, तथा आपके बल से पूर्वकाल से प्रकट हुई (काव्येन पृथिवी) वेदकाव्य से सम्पन्न पृथिवी,—ये दोनों, (नु) निश्चय से, (सुमिते) सुविज्ञात (मात्रे) निर्माता आप में आश्रय पाए हुए हैं । (स्वाद्मन्) हे भक्तिरस का आस्वादन लेनेवाले ! (घृतवन्तः) अग्निहोत्र में घृताहुतियोंवाले या ज्ञानप्रकाश से प्रकाशित (सुतासः) उपासक-पुत्र, (ते) आप द्वारा (वराय) वरण करने योग्य हो जांय, तथा आप के (मधूनि) मधुर आनन्दरसों के (पीतये) पीने के योग्य (भवन्तु) हो जांय,—यह हमारी प्रार्थना है ।

५०३. आ मध्वो अस्मा असिचन्नमत्रमिन्द्राय पूर्णं स हि सत्यराधाः ।
स वावृधे वरिमन्ना पृथिव्या अभि क्रत्वा नर्यः पौंस्यैश्च ॥७॥

उपासकों ने (अस्मै इन्द्राय) इस परमेश्वर के प्रति, (मध्वः) मधुर भक्तिरस से (पूर्णम्) भरे (अमत्रम्) हृदय-पात्रों को (आ असिचन्) पूर्णरूप में सींच दिया है । (हि) क्योंकि (सः) वह परमेश्वर (सत्यराधाः) सच्चे-धन अर्थात् मोक्ष का स्वामी है । (सः) ऐसा प्रत्येक (नर्यः) नरहितकारी नरश्रेष्ठ उपासक, (क्रत्वा) निजकर्मों, संकल्पों, तथा (पौंस्यैः) पुरुषार्थों द्वारा (पृथिव्याः) पृथिवी के (वरिमन्) विस्तृत क्षेत्र में (अभि आ वावृधे) वृद्धि प्राप्त करता है ।

५०४. व्यानलिन्द्रः पृतनाः स्वोजा आस्मै यतन्ते सख्याय पूर्वीः ।
आ स्मा रथं न पृतनासु तिष्ठ यं भद्रया सुमत्या चोदयासे ॥८॥

(स्वोजाः) निज ओजःसम्पन्न (इन्द्रः) परमेश्वर, (पृतनाः) देवासुर-संग्रामों में, कामादि की सेनाओं को (व्यानल् = व्यानट्) विनष्ट करता है। इसलिये (पूर्वीः) अनादि काल परम्परा से होनेवाली पूजाएं, (अस्मै सख्याय) परमेश्वर के साथ इसके सखिभाव की प्राप्ति के लिये, (आ यतन्ते) पूर्णतया प्रयत्न करती रही हैं। हे परमेश्वर ! (यम्) जिस उपासक को आप, (भद्रया) सुखदायिनी और कल्याणकारिणी (सुमत्या) सुमति द्वारा, (चोदयासे) प्रेरित करते रहते हैं, उस के (पृतनासु) देवासुर-संग्रामों में, आप उसकी सहायतार्थं, (आ तिष्ठ) दृढ़तापूर्वक स्थित हूजिये, (न) जैसे कि रथ-योद्धा युद्धों में (रथम्) अपने रथ को दृढ़तापूर्वक स्थित रखता है। [व्यानल्=व्यानट्=व्याप्नोति वा। अथवा "नश्" नाश।]

सूक्त ७७

१-८ वामदेवः । इन्द्रः । त्रिष्टुप् ।

५०५. आ सत्यो यातु मघवाँ ऋजीषी द्रवन्त्वस्य हरय उप नः ।
तस्मा इदन्धः सुषुमा सुदक्षमिहाभिपित्वं करते गृणानः ॥१॥

(सत्यः) सत्यस्वरूप अर्थात् त्रिकालस्थायी, (ऋजीषी) ऋजुमार्गाभिलाषी, (मघवा) ऐश्वर्यशाली परमेश्वर (आ यातु) हमारे हृदयों में प्रकट हो। (अस्य) इस परमेश्वर की (हरयः) कामादि की अपहारी-शक्तियां (नः) हमारे (उप) समीप (द्रवन्तु) द्रुतगति से प्राप्त हों। (तस्मै इत्) उस परमेश्वर के लिये ही (सुदक्षम्) उत्तमबलशाली (अन्धः) भक्तिरसरूपी अन्न (सुषुम) हम ने तय्यार किया है। (गृणानः) गुरुवत् मार्गदर्शी परमेश्वर (इह) इस उपासना-यज्ञ में (अभि) साक्षात् (पित्वम्) भक्तिरस का पान (करते) करता है।

५०६. अव स्य शूराध्वनो नान्तेऽस्मिन् नो अद्य सवने मन्दध्यै ।
शंसात्युक्थमुशनेव वेधाश्चिकितुषे असुर्याय मन्म ॥२॥

(शूर) हे विक्रमशील ! (अद्य) आज, (अस्मिन् सवने) इस भक्ति-यज्ञ में (नः मादयध्यै) हमारी प्रसन्नता के निमित्त, (न) मानो (अध्वनः) आज के भक्तिमार्ग के (अन्ते) अन्त में, (अव स्य) आप हमारी अविद्या-ग्रन्थि को ढीला कर दीजिये। (वेधाः) जिस ने कामादि शत्रुओं को बींध डाला है ऐसा उपासक, (इव) मानो, (उशना) आपकी प्राप्ति की उग्र अभिलाषावाला है, वह (चिकितुषे) सर्वज्ञ और (असुर्याय) प्राणियों के प्राणस्वरूप आप के लिये, (मन्म) मननीय (उक्थम्) उक्तियों का (शंसति) कथन कर रहा है। [उशना=वष्टेः कान्तिकर्मणः।]

५०७. कविर्न निण्यं विदथानि साधन् वृषा यत् सेकं विपिपानो अर्चात्।
दिव इत्था जीजनत् सप्त कारूनह्ना चिच्चक्रुर्वयुना गृणन्तः॥३॥

(कविः न) वेद-काव्यों का कवि परमेश्वर जिस प्रकार (निण्यम्) निर्णीत गुप्त रहस्यों का (साधन्) परिज्ञान साधता है, देता है, उसी प्रकार (विदथानि) वेदों के गुप्त रहस्यों का परिज्ञान (साधन्) देता हुआ उपासक, (वृषा) भक्तिरस की वर्षा करता हुआ, (यत्) जब, (सेकम्) परमेश्वरीय आनन्दरस की वर्षा का (विपिपानः) तृष्णापूर्वक पान करता है, तब वह (अर्चात्) वास्तव में अर्चना कर रहा होता है। (इत्था) इसी प्रकार परमेश्वर ने (दिवः) द्युलोक की (सप्त) सात (कारून्) क्रियाशील सौर-रश्मियों को (जीजनत्) जन्म दिया है, जो सौर-रश्मियां कि (अह्ना) दिनों को (चक्रुः) पैदा करती हैं, (चित्) और जो मानो (वयुना) ज्ञानों का भी (गृणन्तः) उपदेश दे रही होती हैं।

[परमेश्वर ने वैदिक ज्ञान भी दिया है, और सौर-प्रकाश भी। सौर-प्रकाश से दिनों का निर्माण होता है, और वह हमारे ज्ञानों का भी साधन है।]

५०८. स्वर्यद् वेदि सुदृशीकमर्कैर्महि ज्योती रुरुचुर्यद्ध वस्तोः ।
अन्धा तमांसि दुधिता विचक्षे नृभ्यश्चकार नृतमो अभिष्टौ ॥४॥

(स्वः) सुखस्वरूप, (सुदृशीकम्) तथा शोभनदर्शनवाले परमेश्वर को, (यद्) जब (अर्कैः) वेदमन्त्रों के द्वारा, (वेदि) मैंने जाना, तब प्रतीत हुआ कि उसी के सामर्थ्य द्वारा, (वस्तोः) दिन की (यद् ह महि ज्योतिः) जो महाज्योति अर्थात् सूर्य है वह तथा रात्रि के तारागण (रुरुचुः) चमक रहे हैं। और (विचक्षे) मैं विशेषरूप में कहता हूं, और देख रहा हूं कि

सांसारिक भोग तो (अन्धा) अन्धा बना देनेवाले (तमांसि) तमोरूप हैं, और (दुधिता) अहितकर हैं। (नृतमः) सर्वश्रेष्ठ नेता परमेश्वर ने, (नृभ्यः) सर्वसाधारण सांसारिक लोगों के (अभिष्टौ) अभीष्ट साधन के निमित्त (चकार) जगत् की रचना की है।

५०९. ववक्ष इन्द्रो अमितमृजीष्युभे आ पप्रौ रोदसी महित्वा ।
अतश्चिदस्य महिमा वि रेच्यभि यो विश्वा भुवना बभूव ॥५॥

(ऋजीषी) ऋजु अर्थात् सत्यमार्गाभिलाषी (इन्द्रः) परमेश्वर, (अमितम्) न नापे और विस्तार में अज्ञात संसार का (ववक्ष) वहन कर रहा है। (महित्वा) निज महिमा से परमेश्वर (उभे रोदसी) द्युलोक और भूलोक दोनों में — (आ पप्रौ) भरपूर हुआ-हुआ है। (अतः चित्) इस संसार से (अस्य महिमा) इस ईश्वर की महिमा (वि रेचि) प्रवाहित हो रही है, (यः) जो परमेश्वर कि (विश्वा भुवना) सब भुवनों पर (अभि बभूव) विजय पाए हुए हैं।

५१०. विश्वानि शक्रो नर्याणि विद्वानपो रिरेच सखिभिर्निकामैः ।
अश्मानं चिद् ये बिभिदुर्वचोभिर्व्रजं गोमन्तमुशिजो वि वव्रुः ॥६॥

(शक्रः) शक्तिशाली परमेश्वर (नर्याणि) मनुष्योचित (विश्वानि) सब आवश्यकताओं को (विद्वान्) जानता हुआ, (अपः) मेघीय जलों को (रिरेच) क्षारित करता है, या मनुष्योचित कर्त्तव्यकर्मों की वर्षा वेद द्वारा करता है। परमेश्वर (निकामैः) आध्यात्मिक कामनाओंवाले (सखिभिः) उपासक-सखाओं के साथ सदा रहता है, (ये) जो सखा कि (वचोभिः) अपने कथनमात्र से (अश्मानं चित्) अविद्या के किलों को भी (बिभिदुः) छिन्न-भिन्न कर देते हैं, और जो (उशिजः) प्रभु को चाहनेवाले प्रभु के सखा, (गोमन्तं व्रजम्) वाणियों के समूह अर्थात् वेदसंहिता का (विवव्रुः) सर्वत्र विवरण अर्थात् प्रवचन करते रहते हैं।

[गौः=वाणी (उणा० कोष २।६७)।]

५११. अपो वृत्रं वव्रिवांसं पराहन् प्रावत् ते वज्रं पृथिवी सचेताः ।
प्रार्णांसि समुद्रियाण्यैनोः पतिर्भवञ्छवसा शूर धृष्णो ॥७॥

हे परमेश्वर! आप ने (अपः) सत्कर्मों पर (वव्रिवांसम्) घेरा डालने-

वाले (वृत्रम्) पापवृत्र का (पराहन्) हनन किया है। अतः (पृथिवी) समग्र पृथिवीवासी (सचेताः) सचेत होकर (ते) आप के (वज्रम्) दिये ज्ञान-वज्र की (प्रावत) सुरक्षा करते हैं। (समुद्रियाणि) सामुद्रिक (अर्णांसि) जलों को आप ही (प्र ऐनोः) वर्षा आदि के रूप में प्रेरित कर रहे हैं। (शूर) हे पराक्रमी! (धृष्णो) हे पाप-धर्षक! (शवसा) निज स्वाभाविक शक्ति के कारण आप (पतिः भवन्) जगत् के पति हुए हैं।

५१२. अपो यदद्रिं पुरुहूत दर्दराविर्भुवत् सरमा पूर्व्यं ते ।
स नो नेता वाजमा दर्षि भूरिं गोत्रा रुजन्नङ्गिरोभिर्गृणानः ॥८॥

(पुरुहूत) हे बहुतों द्वारा या बहुत नामों द्वारा पुकारे गए परमेश्वर! (यद्) जब आप (पूर्व्यम्) पूर्वकाल अर्थात् अनादि परम्परा से प्राप्त (अपः) कर्मों के (अद्रिम्) न विदीर्ण होनेवाले पर्वत को (दर्दः) विदीर्ण कर देते हैं, तब (ते) आप की (सरमा) दैवी-वाक् अर्थात् दिव्यप्रेरणा (आविर्भुवत्) प्रकट होती है। तदनन्तर (सः) वे आप (नः) हमारे (नेता) मार्गदर्शी नेता बनते हैं, और (भूरिं) प्रभूत (वाजम्) शक्ति (आ दर्षि) समादर पूर्वक देते हैं। और (अङ्गिरोभिः) प्राणाभ्यासियों के द्वारा (गृणानः) उपदेश देते हुए आप (गोत्रा) हमारे पापों के गढ़ों को (रुजन्) तोड़-फोड़ देते हैं। [सरमा=वाक् (मैं० सं० ४।६।४)। गोत्रः=mountain (आपटे)।]

सूक्त ७८

१-३ शंयुः । इन्द्रः । गायत्री ।

५१३. तद् वो गाय सुते सचा पुरुहूताय सत्वने ।
शं यद् गवे न शाकिने ॥१॥

(सुते) भक्तिरस के उत्पन्न हो जाने पर, हे उपासको! (वः) तुम सब (सचा) मिलकर, (पुरुहूताय) बहुतों द्वारा या बहुत नामों द्वारा पुकारे गए, (सत्वने) बलशाली परमेश्वर के लिये, (तत्) उस सामगान को (गाय) गाया करो, जो सामगान कि (गवे न) गानेवाले के सदृश (शाकिने) शक्तिशाली परमेश्वर को भी प्रसन्न करे।

[गवे=गावः स्तोतारः (निघ० ३।१६), गै शब्दे।]

५१४. न घा वसुर्नि यमते दानं वाजस्य गोमतः ।
यत् सीमुप श्रवद् गिरः ॥२॥

(गोमतः) पार्थिव सम्पत्तियों, इन्द्रियशक्तियों, तथा वेदवाणियों सम्बन्धी (वाजस्य) बलों और ज्ञानों के (दानम्) दान को,—(वसुः) सम्पत्तिशाली, तथा सर्वत्रवासी परमेश्वर,—(घ) निश्चय से, (न नियमते) नियमित नहीं करता, अर्थात् इन का दान प्रभूतमात्रा में करता है, (यत्) जबकि वह (सीम्) सर्वव्यापक, (गिरः) हमारी प्रार्थना-वाणियों को (उप) हमारे हृदयों के समीप होकर (श्रवत्) सुन लेता है।

[सीम्=सर्वतः (निरु० १।३।७) । गौः=पृथिवी, इन्द्रिय, वेदवाणी (उणा० कोष २।६७)।]

५१५. कुवित्सस्य प्र हि व्रजं गोमन्तं दस्युहा गमत् ।
शचीभिरप नो वरत् ॥३॥

(कुवित्सस्य) जो उपासक अपने पाप-वृत्रों के हनन में अपनी पर्याप्त शक्ति लगा देता है, उसके, (गोमन्तम्) ऐन्द्रियिक (व्रजम्) घेरे अर्थात् शरीर के प्रति, (दस्युहा) क्षयकारी-पापों का हनन करनेवाला परमेश्वर, (हि) निश्चय से, (प्र) शीघ्र (आ गमत्) आ प्रकट होता है। और (शचीभिः) अपने स्वाभाविक कर्मों द्वारा (नः) हम उपासकों के (अप वरत्) अज्ञानमय परदे को हटा देता है।

[कुवित्सस्य=कुवित् बहुशः स्यति हिनस्ति, तस्य (सायण) । अप वरत्=अपावृणोत् (सायण)।]

सूक्त ७९

१-२ वसिष्ठः वा शक्तिः । इन्द्रः । प्रगाथः (बृहती+सतो बृहती) ।

५१६. इन्द्र क्रतुं न आ भर पिता पुत्रेभ्यो यथा ।
शिक्षा णो अस्मिन् पुरुहूत यामनि जीवा ज्योतिरशीमहि ॥१॥

(इन्द्र) हे परमेश्वर (नः) हमें (क्रतुम्) कर्मशक्ति, संकल्पशक्ति, और प्रज्ञा (आ भर) प्रदान कीजिये, (यथा) जैसे (पिता) पिता (पुत्रेभ्यः) पुत्रों को उपर्युक्त शक्तियां देता है। (पुरुहूत) हे बहुत नामों द्वारा स्मरण

किये गए परमेश्वर ! (अस्मिन् यामनि) जीवन की इस घड़ी में (नः शिक्ष) आप हमें शिक्षा दीजिये। ताकि (जीवाः) इस वर्त्तमान जीवन में ही (ज्योतिः) ज्योतिःस्वरूप आप को (अशीमहि) हम प्राप्त जांय।

५१७. मा नो अज्ञाता वृजना दुराध्यो३ माशिवासो अव क्रमुः ।
त्वया वयं प्रवतः शश्वतीरपोऽति शूर तरामसि ॥२॥

हे परमेश्वर ! (अज्ञाता वृजना) अज्ञात-पाप (नः) हम पर (मा अव क्रमुः) न आक्रमण करें। तथा (दुराध्यः) दुश्चिन्ताएं (अशिवासः) और अशिव संकल्प भी हम पर (मा अवक्रमुः) आक्रमण न करें। (शूर) हे पापों पर पराक्रम-प्रदर्शन करनेवाले परमेश्वर ! (त्वया) आप की सहायता द्वारा, (वयम्) हम, (शश्वतीः) शाश्वत काल से (प्रवतः) प्रवाहरूप में बहते हुए (अपः) कर्मगतिरूप नद को (अति तरामसि) पूर्णतया तैर जांय।

सूक्त ८०

१-२ शंयुः । इन्द्रः । प्रगाथः (बृहती+सतो बृहती) ।

५१८. इन्द्र ज्येष्ठं न आ भरँ ओजिष्ठं पपुरि श्रवः ।
येनेमे चित्र वज्रहस्त रोदसी ओभे सुशिप्र प्राः ॥१॥

(इन्द्र) हे परमेश्वर ! आप (नः) हमें (श्रवः) वेदों का श्रवण (आ भर) सदा प्राप्त कराइये, जो कि (ज्येष्ठम्) सब से प्रशस्त अर्थात् सर्वोत्तम, (ओजिष्ठम्) ओजःसम्पन्न, तथा (पपुरि) आगे-आगे ले जानेवाला है, अर्थात् उन्नतिकारक है। (चित्र) हे विचित्र स्वरूपवाले, (वज्रहस्त) हे न्यायवज्रधारी ! (सुशिप्र) हे उत्तम ज्योतिर्मय ! (येन) जिस वेद-श्रवण द्वारा ज्ञात होता है कि आप ने ही (इमे उभे रोदसी) इन दोनों द्युलोक और भूलोक को (आ प्राः) अपनी व्याप्ति से भरपूर किया हुआ है। [पपुरि=पुर अग्रगमने । सुशिप्र=सु+शिपि (रश्मि)+र (वाला)।]

५१९. त्वामुग्रमवसे चर्षणीसहं राजन् देवेषु हूमहे ।
विश्वा सु नो विथुरा पिब्दना वसोऽमित्रान् सुषहान् कृधि॥२॥

(राजन्) हे ब्रह्माण्ड के राजा ! (देवेषु) सब देवों में केवल (त्वाम्) आप को ही, (अवसे) आत्मरक्षार्थ (हूमहे) हम पुकारते हैं, क्योंकि आप ही सब देवों में (उग्रम्) सर्वोच्च तथा श्रेष्ठ हैं, और (चर्षणीसहम्) मनुष्य-जाति पर आप का ही प्रभाव छाया हुआ है। (वसो) हे विश्ववासिन् ! (नः) हमारे लिये आप (सुकृधि) यह सुगमता कर दीजिये कि हम (विथुराः) व्यथादायी, (पिब्दनाः) हमारी शक्तियों को पी जाने में दानव-स्वरूप, (विश्वा अमित्रान्) शत्रुभूत सब कामादि का (सुषहान्) सुगमता से पराभव कर सकें।

[उग्रम्=High, noble (आपटे)।]

सूक्त ८१

१-२ पुरुहन्मा । इन्द्रः । प्रगाथः (बृहती+सतो बृहती) ।

५२०. यद् द्याव इन्द्र ते शतं शतं भूमीरुत स्युः ।
न त्वा वज्रिन्त्सहस्रं सूर्या अनु न जातमष्ट रोदसी ॥१॥

(वज्रिन्) हे दण्डधारी (इन्द्र) परमेश्वर ! (यद्) यदि (ते शतं द्यावः) आप के सैंकड़ों द्युलोक हों, (उत) और (शतं भूमीः) सैंकड़ों भूमियां (स्युः) हों, (सहस्रं सूर्याः) हजारों सूर्य हों, (रोदसी) या हजारों द्युलोक और भूलोक हों, ये सब मिल कर भी, (त्वा) आप की विभुता का (अनु अष्ट) मुकाबिला (न) नहीं कर सकते, (न) नहीं कर सकते, जब कि आप (जातम्) विभुरूप में प्रकट होते हैं।

५२१. आ पप्राथ महिना वृष्ण्या वृषन् विश्वा शविष्ठ शवसा ।
अस्माँ अव मघवन् गोमति व्रजे वज्रिञ्चित्राभिरूतिभिः ॥२॥

(वृषन्) हे सुखवर्षी ! तथा (शविष्ठ) हे बलिष्ठ परमेश्वर ! आप (महिना) निज महिमा के कारण, तथा (शवसा) निज स्वाभाविक शक्ति के कारण, (विश्वा वृष्ण्या) सब सुखवर्षी पदार्थों में (आ पप्राथ) भरपूर हुए-हुए हैं। (मघवन्) हे ऐश्वर्यशालिन् ! (वज्रिन्) हे न्यायदण्डधारी ! (गोमति व्रजे) इन्द्रियों के समूहरूप शरीर में, आप अपने (चित्राभिः ऊतिभिः) विचित्र रक्षासाधनों द्वारा, (अस्मान् अव) हमारी रक्षा कीजिये।

सूक्त ८२

१-२ वसिष्ठः । इन्द्रः । प्रगाथः (बृहती+सतो बृहती) ।

५२२. यदिन्द्र यावतस्त्वमेतावदहमीशीय ।
स्तोतारमिद् दिधिषेय रदावसो न पापत्वाय रासीय ॥१॥

(इन्द्र) हे परमेश्वर ! (यावतः) जितने ऐश्वर्य के (त्वम्) आप अधीश्वर हैं, (एतावत्) इतने ऐश्वर्य का (यद्) यदि (ईशीय) मैं अधीश्वर बन जाऊं, तो मैं आप के (स्तोतारम्) स्तोता का (इत्) ही केवल (दिधिषेय) धारण-पोषण करूं। (रदावसो) हे सम्पत्तियों के दाता ! मैं आप की दी हुई सम्पत्तियों को (पापत्वाय) पापी को पाप कर्म करने के लिये (न रासीय) न दूं। [रदावसो=रा(दाने)+दा(दाने)+वसु (सम्पत्ति)।]

५२३. शिक्षेयमिन्महयते दिवेदिवे राय आ कुहचिद्विदे ।
नहि त्वदन्यन्मघवन् न आप्यं वस्यो अस्ति पिता चन ॥२॥

(कुहचिद् विदे) कहीं भी विद्यमान (महयते इत्) महिमा-सम्पन्न योग्य व्यक्ति को ही, (दिवे दिवे) प्रतिदिन, मैं (रायः) सम्पत्तियां (आ शिक्षेयम्) प्रदान करूं। (मघवन्) हे सम्पत्तियों के स्वामिन् ! (वस्यः) हे आठों वसुओं के अधीश्वर (त्वत् अन्यत्) आप से भिन्न (नः) हमारा कोई (आप्यम्) प्रापणीय बन्धु (नहि) नहीं है, और न कोई (पिता चन) रक्षक ही (अस्ति) है।

[वसु=अग्नि पृथिवी; वायु अन्तरिक्ष; चन्द्रमा नक्षत्र; सूर्य द्युलोक।]

सूक्त ८३

१-२ शंयुः । इन्द्रः । प्रगाथः (बृहती+सतो बृहती) ।

५२४. इन्द्र त्रिधातु शरणं त्रिवरूथं स्वस्तिमत् ।
छर्दिर्यच्छ मघवद्भ्यश्च मह्यं च यावया दिद्युमेभ्यः ॥१॥

(इन्द्र) हे परमेश्वर ! (त्रिधातु) तीनों लोकों का धारण करनेवाला, (त्रिवरूथम्) त्रिविध दुःखों का निवारण करनेवाला, (स्वस्तिमत्) तथा कल्याणकारी (शरणम्) अपना आश्रय (यच्छ) हमें प्रदान कीजिये।

तथा (मघवद्भ्यः) आध्यात्मिक सम्पत्शालियों (च) और (मह्यम्) मुझ उपासक को (छर्दिः) ऐसा शरीर-गृह (यच्छ) प्रदान कीजिये, (त्रिधातु) जिस की घटक तीन धातुएं, अर्थात् वात, पित्त, कफ या सत्त्व, रजस्,तमस् धारण-पोषण करनेवाले हों तथा (त्रिवरूथम्) जिस के तीन-घेरे अर्थात् स्थूल शरीर,सूक्ष्म शरीर, कारण शरीररूपी तीन प्रकार के संतापों से रहित हों, तथा जो (स्वस्तिमत्) स्वस्थ हों। हे परमेश्वर ! (एभ्यः) इन सब से (दिद्युम्) सब प्रकार के संतापों को (यावय) पृथक् कीजिये।

[छर्दिः=गृहनाम (निघं० ३।४)। वरूथ=Armour, shield (आपटे)।]

५२५. ये गव्यता मनसा शत्रुमादभुरभिप्रघ्नन्ति धृष्णुया ।
अध स्मा नो मघवन्निन्द्र गिर्वणस्तनूपा अन्तमो भव ॥२॥

(ये) जो उपासक, (गव्यता) स्तुतिप्रिय तथा (धृष्णुया) पराभवशील (मनसा) मन द्वारा, मनोबल द्वारा, (शत्रुम्) शत्रुरूप अविद्या को (आदभुः) दबा चुके हैं, (अभिप्रध्नन्ति) और साक्षात् उसका हनन करते हैं, (अध) तदनन्तर (मघवन् गिर्वणः इन्द्र) हे ऐश्वर्यशाली, तथा वेदवाणियों द्वारा भजनीय परमेश्वर ! आप, (नः) ऐसे हम उपासकों के (तनूपाः) शरीरों के रक्षक हो जाते हैं, और (अन्तमः) अधिक समीप तथा अन्तिम-लक्ष्य (भव) हो जाते हैं।

[गव्यता=गो (स्तुति)+क्यच् (इच्छा)+शतृ+तृतीयैकवचन।]

सूक्त ८४

१-३ मधुच्छन्दाः। इन्द्रः। गायत्री।

५२६. इन्द्रा याहि चित्रभानो सुता इमे त्वायवः ।
अण्वीभिस्तना पूतासः ॥१॥

(चित्रभानो) विचित्र प्रभावाले (इन्द्र) ! परमेश्वर ! (आ याहि) प्रकट हूजिये। (इमे) ये (सुताः) आप के उपासक पुत्र (त्वायवः) आप की ही कामनावाले हैं। ये (तनाः) आप की सन्तानें, (अण्वीभिः) उपासनाधम की सूक्ष्म दृष्टियों द्वारा, (पूतासः) पवित्र हो चुकी हैं।

५२७. इन्द्रा याहि धियेषितो विप्रजूतः सुतावतः ।
उप ब्रह्माणि वाघतः ॥२॥

(इन्द्र) हे परमेश्वर ! आप (धियेषितः) उपासक की प्रज्ञा और कर्मों द्वारा अभीष्ट हैं, (विप्रजूतः) मेधावी उपासकों द्वारा आप प्रेरित किये गए है। इस लिये (सुतावतः) भक्तिरस से सम्पन्न (वाघतः) उपासना-यज्ञ के ऋत्विक् की (ब्रह्माणि) ब्रह्म-प्रतिपादक स्तुतियों के (उप) समीप, आप (आ याहि) प्रकट हूजिये।

५२८. इन्द्रा याहि तूतुजान उप ब्रह्माणि हरिवः ।
सुते दधिष्व नश्चनः ॥३॥

(इन्द्र) हे परमेश्वर ! आप (आ याहि) प्रकट हूजिये। (तूतुजानः) शीघ्रता कीजिये। (हरिवः) हे दुःख हरनेवाले ! (ब्रह्माणि) ब्राह्मीस्तुतियों के (उप) समीप प्रकट हूजिये। और (नः) हमारी (सुते) सन्तानों में (चनः) आध्यात्मिक अन्न, अर्थात् श्रद्धा भक्ति उपासना आदि (दधिष्व) स्थापित कीजिये।

[तूतुजानः=क्षिप्र नाम (निघं० २।१५)। चनः=भक्तम्, अन्नम् (उणा० कोष ४।२००)।]

सूक्त ८५

१-२ प्रगाथः, ३-४ मेध्यातिथिः। इन्द्रः। प्रगाथः (बृहती+सतोबृहती)।

५२९. मा चिदन्यद् वि शंसत सखायो मा रिषण्यत ।
इन्द्रमित् स्तोता वृषणं सचा सुते मुहुरुक्था च शंसत ॥१॥

(सखायः) हे उपासक मित्रो ! (अन्यद् चित्) परमेश्वर से भिन्न किसी की (विशंसत मा) विशिष्ट-स्तुतियां न करो, (मा रिषण्यत) और इस प्रकार विनष्ट न होओ। (सुते) भक्तिरस के आवेश में, (सचा) परस्पर मिल कर, (वृषणम्) आनन्दरसवर्षी (इन्द्रम् इत्) परमेश्वर की ही (स्तोत) स्तुतियां करो। (च) और (मुहुः) बार-बार (उक्था) वैदिक-सूक्तों का (शंसत) प्रशंसारूप में उच्चारण किया करो।

५३०. अवक्रक्षिणं वृषभं यथाजुरं गां न चर्षणीसहम् ।
विद्वेषणं संवननोभयंकरं मंहिष्ठमुभयाविनम् ॥२॥

(वृषभं यथा) बैल के सदृश (अवक्रक्षिणम्) उखाड़ देनेवाले, अर्थात् बैल जैसे कृषि करते समय भूमि को हल द्वारा उखाड़ देता है,वैसे दुष्कर्मियों को उखाड़ देनेवाले, (जुरम्) सत्कर्मियों को प्रगति देनेवाले, और (गाम् न) गौ के सदृश (चर्षणीसहम्) सत्कर्मी-जनों को तृप्ति देनेवाले, (विद्वेषणम्) द्वेषभावनाओं से रहित, (संवनना) अनुग्रह, तथा (उभयंकरम्) अनुग्रह और निग्रह दोनों को करनेवाले, (मंहिष्ठम्) महादानी, (उभयाविनम्) निग्रह और अनुग्रह,—इन दोनों के रक्षक परमेश्वर की(मुहुःशंसत ५२९) बार-बार प्रशंसा किया करो ।

[अव क्क्ष=कृष् विलेखने । सहम्=सह् तृप्तौ (दिवादि) । संवनना=सं+वन् (To favour, aid आपटे)+युच्; अथवा—संवननानि । जुरम्=जॄ (वेग, प्रगति) । अवक्रक्षिणम्=अथवा "अवक्र व्यक्तियों में निवास करनेवाले",अवक्र+क्षि(निवासे), या "अवक्र व्यक्तियों की अविद्या का विनाश करनेवाले,क्षय करनेवाले (क्षिण् हिंसायाम्) । तथा "वृषभं यथा जुरम्"=गाड़ी में जुते बैल के सदृश प्रगति देनेवाले ।]

५३१. यच्चिद्धि त्वा जना इमे नाना हवन्त ऊतये ।
अस्माकं ब्रह्मेदमिन्द्र भूतु तेऽहा विश्वा च वर्धनम् ॥३॥

(इमे) ये (नाना जनाः) नाना जन, (ऊतये) आत्मरक्षार्थ, (यत् चित् हि) जो (त्वा) आपका(हवन्ते)आह्वान करते हैं, परन्तु (इन्द्र) हे परमेश्वर ! (अस्माकम्) हम (ते) आप के उपासकों का, (इदं ब्रह्म) आप ब्रह्म का स्तावक स्तोत्र, (विश्वा च अहा) सदा (वर्धनम्) आप की बढ़ोतरी का (भूतु) वर्णन करनेवाला होता है ।

५३२. वि तर्तूर्यन्ते मघवन् विपश्चितोऽर्यो विपो जनानाम् ।
उप क्रमस्व पुरुरूपमा भर वाजं नेदिष्ठमूतये ॥४॥

(मघवन्) हे ऐश्वर्यशालिन् ! (विपश्चितः) मेधावी उपासक, उपासना द्वारा, (वि तर्तूर्यन्ते) आप को विशेषतया त्वरायुक्त अर्थात् शीघ्रफलदायी करते हैं । क्योंकि आप ही (अर्यः) सब के स्वामी और

प्रापणीय हैं, और आप ही (जनानाम्) सब जनों में (विपः) मेधावी हैं । (उप क्रमस्व) हे परमेश्वर ! शीघ्र फलदान प्रारम्भ कीजिये । (ऊतये) हमारी रक्षा के लिये, (पुरुरूपम्) नानारूप (वाजम्) शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक बल, (नेदिष्ठम्) हमारे समीप, (आ भर) प्राप्त कराइये । [विपः मेधावी (निघ० ३।१५) । जनानां विपः=अर्थात् मनुष्यों में आप जैसा कोई मेधावी नहीं है ।]

सूक्त ८६

१ विश्वामित्रः । इन्द्रः । त्रिष्टुप् ।

५३३. ब्रह्मणा ते ब्रह्मयुजा युनज्मि हरी सखाया सधमाद आशू ।
स्थिरं रथं सुखमिन्द्राधितिष्ठन् प्रजानन् विद्वाँ उप याहि सोमम् ॥१॥

(ब्रह्मयुजा) ब्रह्म के साथ सम्बन्ध जोड़नेवाले, (ते ब्रह्मणा) ब्रह्मप्रतिपादक आप के मन्त्रों द्वारा, (युनज्मि) मैं अपने आप को आप के साथ योगयुक्त करता हूं । (हरी) प्रत्याहार-सम्पन्न मेरी दोनों प्रकार की इन्द्रियां ज्ञानेन्द्रियां और कर्मेन्द्रियां, (सखाया) अब मेरे साथ सखा का वर्ताव करने लग गई हैं । वे मानो अब सखा बन कर (सधमादे) मेरे और आप के सम्मिलित आनन्द में (आशू) मुझे शीघ्र प्रेरित कर रही हैं । (इन्द्र) हे परमेश्वर ! अब मेरे (स्थिरम्) चञ्चलतारहित, अतः (सुखम्) सुखप्रद, (रथम्) शरीर-रथ के आप (अधितिष्ठन्) अधिष्ठाता बन कर, (प्रजानन्) मेरी आकांक्षाओं को जानते हुए, और (विद्वान्) पहिचानते हुए, (सोमम्) मेरे भक्तिरस के (उप) समीप (याहि) प्राप्त हूजिये ।

सूक्त ८७

१-७ वसिष्ठः । १-६ इन्द्रः; ७ बृहस्पतिः । त्रिष्टुप् ।

५३४. अध्वर्यवोऽरुणं दुग्धमंशुं जुहोतन वृषभाय क्षितीनाम् ।
गौराद् वेदीयाँ अवपानमिन्द्रो विश्वाहेद् याति सुतसोममिच्छन् ॥१॥

(अध्वर्यवः) अहिंसामय उपासना-यज्ञ के हे ऋत्विजो ! (अरुणम्) लाल अर्थात् राजस कर्मों, और (दुग्धम्) दूध के समान शुभ्र सात्त्विक कर्मों, तथा (अंशुम्) अर्थात् प्रकाशमय विवेकजज्ञान को, (क्षितीनाम्) मनुष्यों के प्रति (वृषभाय) सुखों की वर्षा करनेवाले परमेश्वर के प्रति, (जुहोतन)

आहुतिरूप में समर्पित कर दो। (इन्द्रः) परमेश्वर (गौरात्) सात्त्विक व्यक्ति से (अवपानम्) उस के हृदय में अवतरण कर भक्तिरस पान को (वेदीयान्) प्राप्त करता है। परमेश्वर (सुतसोमम्) निष्पन्न भक्तिरस को (इच्छन्) चाहता हुआ (विश्वा अहा इत्) सर्वदा (याति) उपासक को प्राप्त होता है।

५३५. यद् दधिषे प्रदिवि चार्वन्नं दिवे दिवे पीतिमिदस्य वक्षि।
उत हृदोत मनसा जुषाण उशन्निन्द्र प्रस्थितान् पाहि सोमान् ॥२॥

हे उपासक ! (प्रदिवि) प्रकृष्ट-विवेकज-ज्ञान के प्रकाश में, (यद्) जिस (चारु अन्नम्) रुचिकर आध्यात्मिक-अन्न अर्थात् आनन्द-रस को (दधिषे) तू धारण करता है, (दिवे दिवे) प्रतिदिन (इत्) ही तू (अस्य) इस आनन्दरस के (पीतिम्) पान का (वक्षि) वहन किया कर, आस्वादन किया कर (उशन् इन्द्र) और भक्तिरस की कामनावाले हे परमेश्वर ! आप (उत हृदा) मानो अपनी हार्दिक भावना से, (उत) और (मनसा) इच्छापूर्वक, (जुषाणः) भक्तिरस का सेवन करते हुए, (प्रस्थितान्) समर्पित (सोमान्) भक्तिरसों की (पाहि) रक्षा किया कीजिये, अर्थात् आप की कृपा से हमारे भक्तिरस सदा बने रहें।

[विवेक या विवेकज्ञान=सत्त्वमय चित्त और पुरुष अर्थात् जीवात्मा के पारस्परिक भेद का साक्षात्कार इसे ही 'अन्यथा-ख्याति' कहते हैं। विवेकज-ज्ञान=विवेकज्ञान अर्थात् अन्यथाख्याति के अनन्तर जो सर्वज्ञता प्रकट होती है, वह। सर्वज्ञता का अभिप्राय है कि योगी जिस किसी पदार्थ के स्वरूप और रहस्य को जानना चाहता है, उसे समाधिस्थ हो कर जान लेता है। इस विवेकज-ज्ञान के प्रकर्ष में ज्ञान की एक वह अवस्था प्रकट हो जाती है, जिसे 'तारक-विवेकज-ज्ञान' कहते हैं। यह तारक-विवेकज-ज्ञान योगी को भवसागर से तैरा देता है। इस तारक-विवेकज-ज्ञान में सब विषयों का, सब प्रकार से युगपत् ज्ञान हो जाता है। (योगदर्शन ३।४९, ५२, ५४; तथा ४।३१)।]

५३६. जज्ञानः सोमं सहसे पपाथ प्र ते माता महिमानमुवाच।
एन्द्र पप्राथोर्वन्तरिक्षं युधा देवेभ्यो वरिवश्चकर्थ ॥३॥

हे परमेश्वर ! (जज्ञानः) प्रकट हुए आप, जब (सहसे) उपासक के बल तथा साहस की वृद्धि के निमित्त, उस के (सोमम्) भक्तिरस की

(पपाथ) रक्षा करते हैं, तब सात्विक चित्तवृत्तिरूपी (माता) जीवात्मा की माता, (ते) आप की (महिमानम्) महिमा का (प्र उवाच) कथन, उपासक के प्रति करता है। (इन्द्र) हे परमेश्वर ! आप (उरु) विस्तृत (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष में (पप्राथ) भरपूर हुए-हुए हैं। और आप ही देवासुर-संग्रामों में, (युधा) असुरों के साथ मानो युद्ध करके, (देवेभ्यः) दिव्य-उपासकों के लिये, (वरिवः) मोक्षधन (चकर्थ) प्रकट करते हैं।

[माता=प्रकृष्ट सात्विक चित्तवृत्ति में, जीवात्मा को, निज आत्म-स्वरूप का साक्षात्कार होता है। अतः इस चित्तवृत्ति को माता कहा है। तथा ओ३म् के जाप और ओ३म्-वाच्य परमेश्वर के ध्यान द्वारा, इसी प्रकृष्ट सत्त्वमयी चित्तवृत्ति में परमेश्वरीय महिमा भी प्रकट होती है। अतः मानो चित्तवृत्ति ने परमेश्वरीय महिमा का कथन किया है।]

५३७. यद् योधया महतो मन्यमानान् साक्षाम तान् बाहुभिः शाशदानान्।
यद् वा नृभिर्वृत इन्द्राभियुध्यास्तं त्वयाजिं सौश्रवसं जयेम ॥४॥

(मन्यमानान्) अपनी शक्तियों के अभिमानवाले, (महतः) महा-शक्तिशाली कामादि के साथ (यद् योधय) युद्ध में, जब आपने हमें भिड़ा दिया है, तब (बाहुभिः) मानो निज बाहुओं के द्वारा, बलों द्वारा, (शाशदानान्) हमारा विनाश करते हुए (तान्) उन कामादि का (साक्षाम) हम पराभव कर देते हैं (यद् वा) अथवा (नृभिः) उपासक-नेताओं द्वारा (वृतः) वरण किये गए (इन्द्र) हे परमेश्वर ! जब आप, (अभियुध्याः) कामादि पर साक्षात् स्वयं प्रहार करते हैं, तब (त्वया) आप की सहायता द्वारा, (तं आजिम्) उस देवासुर-संग्राम पर (जयेम) हम विजय पा लेते हैं। और (सौश्रवसं जयेम) उत्तम-यश को प्राप्त करते हैं। [युध् संप्रहारे।]

५३८. प्रेन्द्रस्य वोचं प्रथमा कृतानि प्र नूतना मघवा या चकार।
यदेददेवीरसहिष्ट माया अथाभवत् केवलः सोमो अस्य ॥५॥

मैं उपासक (इन्द्रस्य) परमेश्वर के (प्रथमा कृतानि) प्रथम कल्पों में किये श्रेष्ठ कर्मों का (प्र वोचम्) प्रवचन करता हूं, तथा (नूतना) इस नए कल्प में किये नूतन कर्मों का भी मैं (प्र) प्रवचन करता हूं, (या) जिन्हें कि (मघवा) ऐश्वर्यशाली परमेश्वर ने (चकार) किया है। (यदा इत्) जब ही परमेश्वर ने (अदेवीः माया) अदिव्य-माया-जाल का (असहिष्ट) परा-

भव कर दिया, (अथ) तभी से (सोमः) हमारा भक्तिरस, (केवलः) केवल (अस्य) इस परमेश्वर के प्रति ही (अभवत्) समर्पित हो गया है।

५३९. तवेदं विश्वमभितः पशव्यं१ यत् पश्यसि चक्षसा सूर्यस्य ।
गवामसि गोपतिरेक इन्द्र भक्षीमहि ते प्रयतस्य वस्वः ॥६॥

हे परमेश्वर ! (अभितः) सब ओर, (इदं विश्वम्) यह सब, जो (पशव्यम्) द्रष्टव्य जगत् है, वह (तव) आप का है, (यत्) जिस का कि आप ही (पश्यसि) निरीक्षण कर रहे हैं, और जिसे हम उपासक भी, आप की दी हुई (सूर्यस्य चक्षसा) सूर्यरूपी आंख द्वारा देखते हैं। (इन्द्र) हे परमेश्वर (एकः) आप अकेले ही (गवाम्) समग्र भुवनों के (गोपतिः) भुवनपति (असि) हैं। हे परमेश्वर ! (प्रयतस्य) आप द्वारा दी गई पवित्र (वस्वः) सम्पत् का (भक्षीमहि) हम भोग कर रहे हैं।

[प्रयत=Holy, pious, purified (आपटे)।]

५४०. बृहस्पते युवमिन्द्रश्च वस्वो दिव्यस्येशाथे उत पार्थिवस्य ।
धत्तं रयिं स्तुवते कीरये चिद् यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥७॥

(बृहस्पते) हे महती-वेदवाणी के पति ! आप, (च) और (इन्द्रः) आप का समग्र-जगत् का अधीश्वर स्वरूप, (युवम्) अर्थात् आपके ये दोनों स्वरूप, (दिव्यस्य) द्युलोक के (उत) और (पार्थिवस्य) पृथिवीलोक के समग्र पदार्थों के (ईशाथे) अधीश्वर हैं। (स्तुवते) सदा स्तुति करनेवाले (कीरये चित्) स्तोतृवर्ग के लिये, (रयिम्) आपके दोनों स्वरूपों ने समग्र लौकिक-आध्यात्मिक सम्पत्ति (धत्तम्) प्रदान कर रखी है। हे सम्पत्ति-प्राप्त उपासको ! (यूयम्) तुम सब (स्वस्तिभिः) कल्याणों तथा उत्तम स्थितियों द्वारा, (सदा नः पात) सदा हमारी रक्षा करते रहो।

[बृहस्पतिः=बृहती वाक् तस्याः पतिः। कीरि=स्तोता [निघ० ३।१६)।]

सूक्त ८८

१-६ वामदेवः। बृहस्पतिः। त्रिष्टुप्।

५४१. यस्तस्तम्भ सहसा वि ज्मो अन्तान् बृहस्पतिस्त्रिषधस्थो रवेण ।
तं प्रत्नास ऋषयो दीध्यानाः पुरो विप्रा दधिरे मन्द्रजिह्वम् ॥१॥

(त्रिषधस्थः) तीन लोकों में स्थित (यः) जिस (बृहस्पतिः) महाब्रह्माण्ड के पति ने, (सहसा) निज स्वाभाविक बल के कारण, (रवेण) केवलमात्र अपनी आज्ञा द्वारा, (ज्मः अन्तान्) पृथिवी के भूपृष्ठों को (वि तस्तम्भ) विशेष सुदृढ़ कर दिया है, (प्रत्नासः) अनादिकाल के (ऋषयः विप्राः) ऋषि और मेधावी उपासक, (मन्द्रजिह्वम्) हर्षप्रदायिनी वेदवाणीवाले (तम्) उस परमेश्वर का (दीध्यानाः) सतत ध्यान करते हुए, (पुरः) सदा उसे अपने समक्ष (दधिरे) रखते हैं।

[तस्तम्भ=पृथिवी किसी काल में सूर्यवत् आग्नेय थी, कालान्तर में द्रवरूप हुई, जो कि अब पृष्ठ भाग पर कठोर हुई-हुई है। इस सब में परमेश्वरीय इच्छा या उसकी मूक-आज्ञा काम कर रही है। (मन्द्रजिह्वम्=मन्द्र हर्षप्रदायिनी)+जिह्वा (वाक्, निघ० १।११)।]

५४२. धुनेतयः सुप्रकेतं मदन्तो बृहस्पते अभि ये नस्ततस्रे ।
पृषन्तं सृप्रमदब्धमूर्वं बृहस्पते रक्षतादस्य योनिम् ॥२॥

(बृहस्पते) हे महाब्रह्माण्ड के पति ! (नः) हम में से (ये) जो (धुनेतयः) कामादि को कम्पाने में नेतृरूप उपासक,—(सुप्रकेतम्) सुविज्ञ (पृषन्तम्) आनन्दरसवर्षी, (सृप्रम्) हृदय में सर्पण करनेवाले, (अदब्धम्) किसी भी शक्ति द्वारा न दबाए जानेवाले, (ऊर्वम्) अग्निस्वरूप आप को,—(मदन्तः) प्रसन्नतापूर्वक स्तुतियां करते हुए (अभि) प्रत्यक्षरूप में (ततस्रे) अलंकृत करते हैं, (बृहस्पते) हे महाब्रह्माण्ड के पति ! आप उन उपासकों के, (अस्य) और इस मुख्य उपासक के (योनिम्) शरीर-गृहों की (रक्षतात्) रक्षा कीजिये, ताकि मोक्षप्राप्ति में हम सफल हो सकें।

[योनि=गृह (निघ० ३।४); अर्थात् जो मातृयोनि से पैदा होते हैं, अर्थात् शरीर। धुनेतयः=धु (धू कम्पने)+नेतयः=नेतारः (णी+क्तिन्, अथवा "तिः" कर्तरि, निपातनात्)।]

५४३. बृहस्पते या परमा परावद् अत आ त ऋतस्पृशो नि षेदुः ।
तुभ्यं खाता अवता अद्रिदुग्धा मध्वः श्चोतन्त्यभितो विरप्शम् ॥३॥

(बृहस्पते) हे महाब्रह्माण्ड के पति ! (परावत्) संसार से परे (ते) आप की (या परमा) जो परम-विभूति है, (अतः) इस विभूति से यत्-किञ्चित् विभूति के प्रत्यक्ष दर्शन के लिये, (ऋतस्पृशः) यथार्थज्ञान के साथ

स्पर्श किये हुए उपासक, (आ निषेदुः) सर्वत्र ध्यानावस्थित हैं। हे बृहस्पति! (तुभ्यम्) आप की प्राप्ति के लिये,— (अवताः) कूपों के सदृश गम्भीर, (अद्रिदुग्धाः) तथा मेघ से प्रस्रवित जल के सदृश पवित्र ये उपासक,— (खाताः) समाधि में मानो गड़ से गए हैं, निखात हो गए हैं। ये उपासक (विरप्शम्) महान् आपके (अभितः) समक्ष (मध्वः) मधुरभक्तिरसों को (श्चोतन्ति) प्रवाहित कर रहे हैं।

[**अद्रि=मेघ** (निघं० १।१०)। **अवतः=कूपनाम** (निघ० ३।२३)। **विरप्शी=महन्नाम** (निघ० ३।३)। ऋतस्पृशः=ऋत (यथार्थज्ञान)+ स्पृश् (To adhere आपटे)।]

५४४. बृहस्पतिः प्रथमं जायमानो महो ज्योतिषः परमे व्योमन् ।
सप्तास्यस्तुविजातो रवेण वि सप्तरश्मिरधमत् तमांसि ॥४॥

(महः ज्योतिषः) महा-ज्योति के (परमे) सर्वोत्कृष्ट (व्योमन्) हृदयाकाश में, (प्रथमम्) प्रथम-प्रथम (जायमानः) प्रकट हुआ (बृहस्पतिः) महाब्रह्माण्ड का पति, (सप्तरश्मिः) सात प्रकार की रश्मियोंवाले सूर्य के सदृश (तमांसि) तमोगुणजन्य अन्धकारमयी दुर्वासनाओं को (अधमत्) दूर कर देता है। और (तुविजातः) अधिक प्रकाश में प्रकट होकर ब्रह्माण्ड-पति (रवेण) केवलमात्र निज-आज्ञा द्वारा, (सप्तास्यः) सप्तजिह्व-अग्नि के सदृश तमोजन्य राग-द्वेष आदि को भस्मीभूत कर देता है।

[महो ज्योतिषः—"**विशोका वा ज्योतिष्मती**" (योग० १।३६) के व्यासभाष्यानुसार—"हृदय में धारणा-ध्यान से, चित्तसत्त्व, सूर्य, चन्द्र, मणि, और प्रभारूप में विकल्पित होता है। अर्थात् सात्त्विक ज्योतिःस्वरूप आकाश-तुल्य भासता हुआ चित्त, कभी चन्द्र, कभी नक्षत्र, कभी मणिप्रभा आदि रूप की आकृतिवाला भान होता है"। इसे ही "महाज्योतिवाला सर्वोत्कृष्ट-हृदयाकाश" कहा है। सप्तजिह्व=अग्नि (fire, आपटे); मुण्डक० उप० १।२।४।]

५४५. स सुष्टुभा स ऋक्वता गणेन वलं रुरोज फलिगं रवेण ।
बृहस्पतिरुस्रिया हव्यसूदः कनिक्रदद् वावशतीरुदाजत् ॥५॥

(सुष्टुभा) उत्तम-स्तुतियोंवाले, (ऋक्वता) वेदज्ञ (गणेन) उपासक-गणोंवाला, (सः सः) वह ही (बृहस्पतिः) महाब्रह्माण्ड का पति, (रवेण) केवल निज मूक-आज्ञा द्वारा, (फलिगम्) फल्गु अर्थात् निःसार (वलम्) अविद्या के आवरण को, (रुरोज) छिन्न-भिन्न कर देता है। (हव्यसूदः) समर्पणीय भक्तिरसरूपी हवि को क्षरित अर्थात् प्रवाहित करनेवाले (उस्रियाः) प्रकाश-प्रवाहों को, बृहस्पति प्रवाहित कर देता है। तथा (कनिक्रदत्) योगमार्ग की अगली-अगली भूमिकाओं की ओर योगी का आह्वान करता हुआ बृहस्पति, (वावशतीः) अधिकाधिक कान्तिमयी ज्ञान-रश्मियों को (उदाजत्) उदित करता रहा है।

[**उस्राः=रश्मिनाम** (निघ० १।५)। **उस्रिया=नदीनाम** (निघ० २।११)। मन्त्र में प्रकाश के प्रवाहों को उस्रियाः कहा है। वावशतीः=वश कान्तौ। **वश्मि=कान्तिकर्मा** (निघ० २।६)। वश्=To shine (आपटे)।]

५४६. एवा पित्रे विश्वदेवाय वृष्णे यज्ञैर्विधेम नमसा हविर्भिः ।
बृहस्पते सुप्रजा वीरवन्तो वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥६॥

(पित्रे) हम सब के पिता, (विश्वदेवाय) विश्व के देवता, (वृष्णे) आनन्दरसवर्षी बृहस्पति के लिये,— (यज्ञैः) उपासना-यज्ञों द्वारा, (नमसा) नमस्कारों द्वारा, तथा (हविर्भिः) अग्निहोत्र की हवियों द्वारा (विधेम) हम निज सेवाएं समर्पित करते हैं। (बृहस्पते) हे महाब्रह्माण्डपति! (सुप्रजाः) उत्तम सन्तानोंवाले, तथा (वीरवन्तः) वीर सन्तानोंवाले (वयम्) हम (रयीणाम्) आध्यात्मिक और सांसारिक सम्पत्तियों के (पतयः) स्वामी (स्याम) हों।

सूक्त ८९

१-११ कृष्णः । इन्द्रः । त्रिष्टुप् ।

५४७. अस्तेव सु प्रतरं लायमस्यन् भूषन्निव प्र भरा स्तोममस्मै ।
वाचा विप्रास्तरत वाचमर्यो नि रामय जरितः सोम इन्द्रम् ॥१॥

(अस्ता) अस्त्रप्रयोक्ता (इव) जैसे, (सु प्रतरम्) ठीक विधि से लक्ष्य पर अस्त्र प्रयोग करता है, वैसे हे उपासक! (लायम्) चित्त में लीन संस्कारों को (अस्यन्) बाहर फेंक कर (भूषन्निव) मानो अपने आप को विभूषित करता हुआ तू, (अस्मै) इस परमेश्वर के प्रति, (सु प्रतरम्) ठीक विधि से, (स्तोमम्) सामगानों का मानो (प्रभर) प्रहार किया कर।

(विप्राः) हे मेधावी उपासको ! (वाचा) वेदवाणी द्वारा प्रोक्त विधि द्वारा तुम (वाजम्) देवासुर-संग्राम पर (तरत) विजय पाओ । हे (जरितः) स्तुति करनेवाले (सोम) सोम्य उपासक ! (अर्यः) अपने चित्त का अधीश्वर बन कर तू (इन्द्र नि रामय) स्तुतियों द्वारा परमेश्वर को सदा प्रसन्न किया कर ।

५४८. दोहेन गामुप शिक्षा सखायं प्र बोधय जरितर्जारमिन्द्रम् ।
कोशं न पूर्णं वसुना न्यृष्टमा च्यावय मघदेयाय शूरम् ॥२॥

हे उपासक ! (गाम्) वेदवाणी से (दोहेन) दुहे ज्ञान द्वारा तू (सखायम्) अपने साथी उपासक को (उप शिक्ष) उपासना की शिक्षा दिया कर । और (जरितः) हे स्तुति करनेवाले ! अपनी स्तुतियों द्वारा, (जारम्) आसुरी-प्रवृत्तियों को जीर्ण-शीर्ण कर देनेवाले (इन्द्रम्) परमेश्वर को, (प्रबोधय) अपनी ओर सदा जागरूक रखा कर । (न) जैसे (वसुना पूर्णम्) धन से परिपूर्ण (कोशम्) खजाने को (न्यृष्टम्) लुढ़का कर धन प्राप्त कर लिया जाता है, वैसे (शूरम्) दानशूर परमेश्वर को, (मघदेयाय) आध्यात्मिक-धन के देने के लिये, (आ च्यावय) अपनी ओर पूर्णतया प्रेरित कर ले ।

[न्यृष्टम्=नि+ऋष् (गतौ)+क्त ।]

५४९. किमङ्ग त्वा मघवन् भोजमाहुः शिशीहि मा शिशयं त्वा शृणोमि ।
अप्नस्वती मम धीरस्तु शक्र वसुविदं भगमिन्द्रा भरा नः ॥३॥

(अङ्ग) हे मेरे आध्यात्मिक-जीवन के अङ्गरूप !, (मघवन्) हे सम्पत्तिशालिन् !, आप (भोजम्) भोज हैं, सब के प्रतिपालक हैं,—(त्वा) आप के सम्बन्ध में यह (किम्) क्यों (आहुः) लोग कहते हैं ? (मा) मुझे भी तो (शिशीहि) कुछ आध्यात्मिक सम्पत्ति दीजिये । (त्वा) आप को (शिशयम्) महादानीरूप में (शृणोमि) मैं सुनता हूं । (शक्र) हे शक्तिशालिन् ! कृपा कीजिये कि (मम) मेरी (धीः) बुद्धि (अप्नस्वती) कर्मवती हो, अर्थात् मेरे ज्ञान और कर्म में समन्वय हो । (इन्द्र) हे परमेश्वर ! (वसुविदम्) सम्पद्रूप आप को प्राप्त करानेवाली (भगम्) भक्ति (नः) हमें (आ भर) प्राप्त कराइये ।

[शिशीहि=शिशीतिः दानकर्मा (निरु० ५।४।२३) । शिशयम्=दातारम् । अप्नस्=कर्म (निघ० २।१)।]

५५०. त्वां जना ममसत्येष्विन्द्र संतस्थाना वि ह्वयन्ते समीके ।
अत्रा युजं कृणुते यो हविष्मान्नासुन्वता सख्यं वष्टि शूरः ॥४॥

(इन्द्र) हे परमेश्वर ! (ममसत्येषु) "मेरा पक्ष सत्य है, मेरा पक्ष सत्य है"—इन दुराग्रहों में, (जनाः) कट्टर-पन्थी लोग, (संतस्थानाः) संस्थाओं के रूप में खड़े हो जाते हैं, और इन (समीके) वाग्-युद्धों में सहायतार्थ (त्वाम्) आपको (वि) विशेषरूप में (ह्वयन्ते) सहायतार्थ पुकारते हैं, परन्तु (अत्र) इस जगत् में वह ही (युजम्) आप को अपना सहायक-साथी (आ कृणुते) बना लेता है, (यः) जोकि (हविष्मान्) आप के लिये आत्म-समर्पणरूपी हविवाला होता है । (शूरः) आप शूर (असुन्वता) भक्तिरस-विहीन के साथ (सख्यम्) मैत्री (न वष्टि) नहीं चाहते ।

[ममसत्यम्=संग्राम (निघ० २।१७) । समीके=संग्राम (२।१७)।]

५५१. धनं न स्पन्द्रं बहुलं यो अस्मै तीव्रान्त्सोमाँ आसुनोति प्रयस्वान् ।
तस्मै शत्रून्त्सुतुकान् प्रातरह्नो नि स्वष्ट्रान् युवति हन्ति वृत्रम् ॥५॥

(यः) जो (प्रयस्वान्) प्रयासशील उपासक, अपनी (स्पन्द्रम्) अस्थायी (बहुलम्) प्रभूत (धनम्) सम्पत्ति के (न) सदृश, (तीव्रान् सोमान्) अपने तीव्र-प्रवाही भक्तिरसों को, (अस्मै) इस परमेश्वर के प्रति (आ सुनोति) पूर्णतया समर्पित कर देता है, (तस्मै) उस उपासक के लिये, (अह्नः प्रातः) दिन के किसी प्रातःकाल में परमेश्वर, (स्वष्ट्रान्) उस के जीवन में व्याप्त (शत्रून्) कामादि शत्रुओं को, (सुतुकान्) और उन से सुगमता से उत्पन्न दुष्परिणामों को (नि युवति) पृथक् कर देता है, और (वृत्रम्) उस वृत्रवर्ग का (हन्ति) हनन कर देता है ।

[स्पन्द्रम्=स्पदि किंचिच्चलने । स्वष्ट्रान्=सु+अष् (अश् व्याप्तौ); यथा "अष्ट"=अभ्यश्नुवीताम्; तथा "अष्टौ"=अश्नोतेः (निरु० १३।१।२; ३।२।१०)।]

५५२. यस्मिन् वयं दधिमा शंसमिन्द्रे यः शिश्राय मघवा काममस्मे ।
आराच्चित् सन् भयतामस्य शत्रुर्न्यस्मै द्युम्ना जन्या नमन्ताम् ॥६॥

(यस्मिन् इन्द्रे) जिस परमेश्वर के निमित्त, (वयम्) हम उपासक,

(शंसम्) प्रशंसित-स्तुतियां (दधिम) धारण करते हैं, भेट करते हैं; और (यः) जो (मघवा) सम्पत्-शाली परमेश्वर (अस्मे) हमारी (कामम्) मोक्ष-कामना को (शिश्राय) परिपक्व कर देता है; (आरात् चित् सन्) दूर रहता हुआ भी (शत्रुः) कामादि, (अस्य) इस परमेश्वर की उपस्थिति में (भयताम्) भयभीत रहता है, (अस्मै) ऐसे परमेश्वर के प्रति (जन्या) प्रजाजनों की (द्युम्ना) सम्पत्तियां (नमन्ताम्) झुकी रहनी चाहियें; अर्थात् परमेश्वर की दी हुई सम्पत्तियां परमेश्वर के नाम पर ही दानरूप में दे देनी चाहियें। [शिश्राय=श्रा पाके; कामम्=मोक्ष-कामना।]

५५३. आराच्छत्रुमप बाधस्व दूरमुग्रो यः शम्बः पुरुहूत तेन।
अस्मे धेहि यवमद् गोमदिन्द्र कृधी धियं जरित्रे वाजरत्नाम् ॥७॥

(पुरुहूत) बहुतों द्वारा या बहुत नामों द्वारा पुकारे गए, हे परमेश्वर! आप का (यः) जो (शम्बः) शान्त कर देनेवाला (उग्रः) उग्र बल है, (तेन) उसके द्वारा, (आरात्) समीपवर्ती अर्थात् चित्तों में बसे (शत्रुम्) कामादि शत्रु को (दूरम् अप बाधस्व) दूर हटा दीजिये। (इन्द्र) और हे परमेश्वर! (यवमद्) जौं आदि सात्त्विक अन्न, तथा (गोमत्) सात्त्विक गोदुग्ध (अस्मे) हमें (धेहि) प्रदान कीजिये। इस प्रकार (जरित्रे) अपने स्तोता के लिये (धियम्) ऐसी बुद्धि (कृधि) प्रदान कीजिये जो कि (वाजरत्नाम्) आध्यात्मिक बलरूपी रत्न से सम्पन्न हो।

[अर्थात् हमारे पाप दूर हो जांय, सात्त्विक अन्न का हम सेवन करें, और हमारी बुद्धि पवित्र हो। वाजः=बलम् (निघ० २।७)।]

५५४. प्र यमन्तर्वृषसवासो अग्मन् तीव्राः सोमा बहुलान्तास इन्द्रम्।
नाह दामानं मघवा नि यंसन् नि सुन्वते वहति भूरि वामम् ॥८॥

(यम्) जिस (इन्द्रम् अन्तः) परमेश्वर के भीतर,—(वृषसवासः) वर्षा सी करनेवाले, (बहुलान्तासः) अति रमणीय (तीव्राः सोमाः) तीव्र प्रवाही भक्तिरस (प्र अग्मन्) प्राप्त हो चुके हैं, वह (मघवा) ऐश्वर्यशाली परमेश्वर, उपासक पर, (अह) निश्चय से, (दामानम्) कर्मों की रस्सी के फंदे को (न) नहीं (नियंसत्) जकड़ता, अपि तु (सुन्वते) भक्तिरस के निष्पादक के लिये (भूरि) प्रभूत (वामम्) तथा प्रशस्त आध्यात्मिक-सम्पत्ति (वहति) प्राप्त कराता है। [अन्तः=रम्य (आपटे)।]

५५५. उत प्रहामतिदीवा जयति कृतमिव श्वघ्नी वि चिनोति काले।
यो देवकामो न धनं रुणद्धि समित् तं रायः सृजति स्वधाभिः ॥९॥

(उत) तथा (अतिदीवा) अत्यधिक-स्तुतियां करनेवाला उपासक, (प्रहाम्) दुःख-प्रहाण करनेवाले परमेश्वर पर (जयति) विजय पा लेता है, (इव) जैसे कि (श्वघ्नी) वृद्धि के लिये प्रगतिशील मनुष्य, (काले) यथोचित समय में, (कृतम्) नए कर्म-क्षेत्र को (वि चिनोति) निश्चय करके चुन लेता है, और (जयति) उस पर विजय पा लेता है। (देवकामः) परमेश्वर-देव की कामनावाला (यः) जो मनुष्य (धनम्) धन को (रुणद्धि न) रोके नहीं रखता, उस का संग्रह नहीं करता रहता, Hoarding नहीं करता रहता, (तम् इत्) उस के साथ ही, परमेश्वर (स्वधाभिः) निज धारक-पोषक शक्तियों द्वारा, (रायः) आध्यात्मिक विभूतियों तथा भूसम्पत्तियों का (सं सृजति) संसर्ग करता है।

[प्रहाम्=प्र+हा (ओहाक् त्यागे)+कर्तरि क्विप्। अतिदीवा=अति+दिव् (स्तुतौ)+कनिन् (उणा० कोष १।१५६)। "कृतमिव" इत्यादि=इतने भाग का अर्थ प्रायः जूए-सम्बन्धी किया जाता है। सूक्त में जूए का कोई प्रसङ्ग नहीं, इसलिये प्रसङ्गानुसार यहां अर्थ किया है। धनं रुणद्धि=धनलोलुप व्यक्ति आध्यात्मिक-धन प्राप्त नहीं कर सकता। श्वघ्नी=श्वयति वर्द्धते; तन्निमित्तं, हन्ति प्रगतिमान् भवति; श्वि=वृद्धौ+हन् (गतौ, प्रगतौ)।]

५५६. गोभिष्टरेमामतिं दुरेवां यवेन वा क्षुधं पुरुहूत विश्वे।
वयं राजसु प्रथमा धनान्यरिष्टासो वृजनीभिर्जयेम ॥१०॥

(गोभिः) वेदवाणियों की नौका द्वारा (विश्वे) हम सब (दुरेवाम्) दुष्परिणामी (अमतिम्) अज्ञान या अविद्या की नदी से (तरेम) पार हो जांय, (वा) तथा हम सब (यवेन) जौ आदि सात्त्विक अन्नों द्वारा (क्षुधम्) क्षुधा को शान्त करें। (पुरुहूत) हे बहुतों द्वारा, या बहुत नामों द्वारा पुकारे गए परमेश्वर! (वयम्) हम (अरिष्टासः) रोगादि से रहित होकर, (वृजनीभिः) अपनी शक्तियों द्वारा, परिश्रमों द्वारा (राजसु) योगिराजों में स्थित (प्रथमा धनानि) सर्वश्रेष्ठ आध्यात्मिक धनों पर (जयेम) विजय पा लें, उन्हें अपनालें।

["वयं राजसु" का आधिभौतिक अभिप्राय यह है कि राजा लोग "कर" लगाकर प्रजा के श्रेष्ठ धनों के स्वामी बनकर, यदि उन का उपयोग निज भोगों में करते हैं, तो प्रजा को चाहिये कि (वृजनीभिः) सेनाओं में विप्लव तथा विद्रोह जागरित कर, उन धनों पर विजय पाकर, उन का उपयोग प्रजा की भलाई के निमित्त करें। वैदिक समाजवाद का यह एक अत्युत्तम सिद्धान्त है।]

५५७. बृहस्पतिर्नः परि पातु पश्चादुतोत्तरस्मादधरादघायोः ।
इन्द्रः पुरस्तादुत मध्यतो नः सखा सखिभ्यो वरिवः कृणोतु ॥११॥

(बृहस्पतिः) महाब्रह्माण्ड का पति, तथा (इन्द्रः) सर्वैश्वर्यों का स्वामी परमेश्वर, (परि) सब ओर से (नः) हमारी (पातु) रक्षा करे, —अर्थात् (पश्चात्) पश्चिम से, (उत) और (उत्तरस्मात्) उत्तर से, (अधरात्) तथा दक्षिण से, (पुरस्तात्) पूर्व से, (उत) और (मध्यतः) मध्य दिशा से। ताकि (अघायोः) पाप-चाहनेवाला कामादि हमारी हत्या न करे। बृहस्पति-इन्द्र (सखा) सखा बनकर, (सखिभ्यः) सखिरूप हम उपासकों के लिये, (वरिवः) सांसारिक धन से श्रेष्ठ आध्यात्मिकधन (कृणोतु) सम्पादित करे।

["कृणोतु" में एकवचन है, अतः बृहस्पति और इन्द्र, एक ही कर्त्ता है, दो नहीं। ये दो पद परमेश्वर के दो गुणों के प्रदर्शक हैं।]

सूक्त ६०

१-३ भरद्वाजः । बृहस्पतिः । त्रिष्टुप् ।

५५८. यो अद्रिभित् प्रथमजा ऋतावा बृहस्पतिराङ्गिरसो हविष्मान् ।
द्विबर्हज्मा प्राघर्मसत् पिता न आ रोदसी वृषभो रोरवीति ॥१॥

(यः) जो (बृहस्पतिः) महाब्रह्माण्डपति, (अद्रिभित्) अविद्या के पर्वत को छिन्न-भिन्न करता, (ऋतावा) सत्य और नियमों का नियन्ता, (आङ्गिरसः) हमारे अङ्ग-अङ्ग तथा समग्र शरीरों का रसरूप, (हविष्मान्) उपासकों की आत्मसमर्पणरूपी हवियों को स्वीकार करता, (द्विबर्हज्मा) सांसारिक और आध्यात्मिक दोनों दृष्टियों से पृथिवी को बढ़ाता, (प्राघर्मसत्) और प्रतप्त सूर्यादिलोकों में स्थित है, वह (नः पिता) हमारा पिता, (प्रथमजाः) प्रथम प्रकट होकर, (रोदसी) सिर से लेकर पैरों तक को

(आ रोरवीति) अन्तर्नाद द्वारा गुञ्जा देता है, और (वृषभः) आनन्दरस की वर्षा करता है।

[रोदसी=आध्यात्मिक दृष्टि में, द्युलोक और भूलोक, सिर और पैर हैं। यथा—"शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत, पद्भ्यां भूमिः" (यजु० ३१।१३)। प्राघर्मसत्=प्र+आ+घर्म (घृ दीप्तौ)+सत्। द्विबर्हज्मा=द्वि (दो)+बर्ह (वृद्धौ)+ज्मा (पृथिवी)।]

५५९. जनाय चिद् य ईवत उ लोकं बृहस्पतिर्देवहूतौ चकार ।
घ्नन् वृत्राणि वि पुरो दर्दरीति जयञ्छत्रूँरमित्रान् पृत्सु साहन् ॥२॥

(देवहूतौ) बृहस्पति-देव का जब आह्वन किया जाता है, तब (यः चित्त बृहस्पतिः) जो चेतन महाब्रह्माण्डपति, (ईवते) प्रगतिशील (जनाय) उपासक-जन के लिये, (उ) निश्चय से (लोकम्) आलोक या प्रज्ञालोक (चकार) प्रकट कर देता है, वह (पृत्सु) देवासुर-संग्रामों में (अमित्रान्) अमित्ररूप कामादि का (सहन्) पराभव करता हुआ, और (शत्रून्) इन शत्रुओं पर (जयन्) विजय प्राप्त करता हुआ, (वृत्राणि) और इन पापमय-वृत्रों का (घ्नन्) हनन करता हुआ, (पुरः) जीवन्मुक्तों की शरीर-पुरियों को (वि दर्दरीति) विदीर्ण कर देता है, उन्हें मोक्ष दिला देता है।

[ईवते=ई गतौ+वत्+चतुर्थ्येकवचन।]

५६०. बृहस्पतिः समजयद् वसूनि महो व्रजान् गोमतो देव एषः ।
अपः सिषासन्त्स्वरप्रतीतो बृहस्पतिर्हन्त्यमित्रमर्कैः ॥३॥

(एषः) यह (बृहस्पतिः देवः) ब्रह्माण्डपति-देव (वसूनि) ८ वसुओं पर (समजयत्) सम्यक् विजय पाए हुए है, और (गोमतः) इन्द्रियोंवाले (महः व्रजान्) महा प्राणिवर्गों पर भी (समजयत्) सम्यक् विजय पाए हुए हैं। (अप्रतीतः) प्रतीत न होता हुआ भी (बृहस्पतिः) ब्रह्माण्डपति, (अपः) प्राणों तथा (स्वः) सुखों का (सिषासन्) महादान करता हुआ, (अर्कैः) निज तेजों द्वारा (अमित्रम्) शत्रुरूप कामादि का (हन्ति) हनन करता है।

[वसूनि=अग्नि पृथिवी; वायु अन्तरिक्ष; चन्द्र सूर्य; नक्षत्र तारागण। गोः=इन्द्रियां (उणा० कोष २।६७), वैदिक यन्त्रालय, अजमेर। (महः व्रजान्=कीट, पतङ्ग, पशु, पक्षी, मनुष्य,—ये महा प्राणिवर्ग। अपः=प्राणान्, यथा "सप्तापः स्वपतो लोकमीयुः", षडिन्द्रियाणि विद्या सप्तमी (निरु० १२।४।३७)।]

सातवां अनुवाक समाप्त ॥

सूक्त ९१

१-१२ अयास्यः । बृहस्पतिः । त्रिष्टुप् ।

५९१. इमां धियं सप्तशीर्ष्णीं पिता न ऋतप्रजातां बृहतीमविन्दत् ।
तुरीयं स्विज्जनयद् विश्वजन्योऽयास्य उक्थमिन्द्राय शंसन् ॥१॥

(सप्तशीर्ष्णीम्) शिरोभूत अर्थात् मुख्य ७ छन्दोंवाली, (ऋतप्रजाताम्) सत्यस्वरूप परमेश्वर से प्रकट हुई, या यथार्थज्ञान के प्रदान के लिये प्रकट हुई, (इमाम्) इस (धियम्) ज्ञानमयी (बृहतीम्) महा-वाणी अर्थात् वेदवाणी को, (नः पिता) हम सब के पिता परमेश्वर ने, (अविन्दत्) हमें दिया है (विश्वजन्यः) विश्वजन हितकारी परमेश्वर ने (अयास्यः) विना किसी प्रयास के: (इन्द्राय) जीवात्मा के प्रति (उक्थम्) वैदिक-सूक्तियों का (शंसन्) कथन करते हुए, (तुरीयं स्वित्) केवल चतुर्थांश ज्ञान को (जनयत्) प्रकट किया है ।

[तुरीयम्=यजुर्वेद के पुरुषसूक्त में परमेश्वर-पुरुष का वर्णन 'चतुष्पाद" रूप में हुआ है । उसका एक पाद अर्थात् चतुर्थांश जगद्रूप तथा अमृतत्व (मोक्ष) रूप है । इसी एक-पाद में समग्र भूमि और भूमिष्ठ तत्त्व, तथा भूत-भौतिक जगत् समाविष्ट हैं । परमेश्वर के अवशिष्ट तीन पादों का जगत् की रचना, स्थिति और प्रलय के साथ कोई सम्बन्ध नहीं, त्रिपादरूप में परमेश्वर जगत् से ऊर्ध्वं है, और इस का एक पाद ही पुनः-पुनः आविर्भूत होता रहता है । इस दृष्टि से मन्त्र में वैदिकज्ञान को "तुरीय" कहा है । माण्डूक्योपनिषद् में परमेश्वर के "तुर्यं" रूप का वर्णन है, तुर्यं=तुरीय । अयास्यः—परमेश्वर से चारों वेद प्रकट हुए हैं । इन के प्रकाशन में परमेश्वर को कोई प्रयास नहीं करना पड़ता, जैसे कि श्वास-प्रश्वास में हमें यत्न या प्रयास नहीं करना पड़ता । श्वासोच्छ्वास क्रिया स्वभावतः विना प्रयास के हो रही है, जागते सोते,—यह क्रिया विना परिश्रम और प्रयत्न के हो रही है । इसी प्रकार चारों वेद परमेश्वर के निःश्वासरूप हैं, अप्रयत्न-साध्य हैं । यथा—"स यथार्द्रैधाग्नेरभ्याहितात्पृथग् धूमा विनिश्चरन्ति, एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः" (बृहदा० उप० अध्याय २, ब्राह्मण ४, खण्ड ९)।]

५९२. ऋतं शंसन्त ऋजु दीध्याना दिवस्पुत्रासो असुरस्य वीराः ।
विप्रं पदमङ्गिरसो दधाना यज्ञस्य धाम प्रथमं मनन्त ॥२॥

(दिवः) प्रकाशमान, तथा (असुरस्य) प्रज्ञानवान् परमेश्वर के,—(अङ्गिरसः) प्राणाभ्यासी (वीराः पुत्रासः) धर्मवीर उपासक-पुत्र,—(ऋतम्) सत्य और (ऋजु) सरल वेदज्ञान का (शंसन्तः) प्रकथन करते हुए, (दीध्यानाः) समाधि में मग्न होकर (पदं विप्रम्) प्रापणीय मेधावी पद को (दधानाः) अपनी-अपनी आत्माओं में धारण करते हुए, (यज्ञस्य) उपासना-यज्ञ की (प्रथमं धाम) सर्वोत्कृष्ट ज्योति अर्थात् परमेश्वर का (मनन्त) मनन करते हैं ।

५९३. हंसैरिव सखिभिर्वावदद्भिरश्मन्मयानि नहना व्यस्यन् ।
बृहस्पतिरभिकनिक्रदद् गा उत प्रास्तौदुच्च विद्वाँ अगायत् ॥३॥

(अश्मन्मयानि) लोहसमान सुदृढ़ (नहना) राग-द्वेष-अविद्या आदि के बन्धनों को (व्यस्यन्) काटते हुए (विद्वान् बृहस्पतिः) विज्ञानी ब्रह्माण्ड-पति ने,—(वावदद्भिः) कलरव करते हुए (हंसैः) नीर-क्षीर विवेकी हंसों के सदृश वर्तमान विवेकी-परमहंस (सखिभिः)ऋषि-सखाओं द्वारा, (वावदद्भिः) संवादरूप में, (गाः) वेदवाणियों को (प्रास्तौत्) प्रस्तुत किया । और (अभि) साक्षात् रूप में (कनिक्रदत्) इन्हें वेदवाणियों का उपदेश दिया । (उत च) और तदनन्तर इन ऋषि-सखाओं द्वारा वेदवाणियों का (उद् अगायत्) बृहस्पति ने उच्चस्वर में गान कराया, अर्थात् उनके द्वारा प्रजा को वेदवाणियों का मौखिक उपदेश कराया ।

[इस विषय का प्रसङ्ग अथर्ववेद में अन्यत्र भी हुआ है । यथा—"यत्र ऋषयः प्रथमजा ऋचः साम यजुः मही" (अथर्ववेद की वाणी), अर्थात् मनुष्य-सृष्टि के आदि में प्रथमोत्पन्न ऋषियों द्वारा परमेश्र ने ऋग्वेदादि का उपदेश दिया (अथर्व० १०।७।१४) ।]

५९४. अवो द्वाभ्यां पर एकया गा गुहा तिष्ठन्तीरनृतस्य सेतौ ।
बृहस्पतिस्तमसि ज्योतिरिच्छन्नुदुस्रा आकर्वि हि तिस्र आवः ॥४॥

(परः) परस्तात्-पर अर्थात् सर्वादिशक्ति बृहस्पति नें, (अनृतस्य) अनृतरूप अर्थात् अनित्य जगत् के (सेतौ) सेतुरूप स्वाश्रय में (गुहा तिष्ठन्तीः)

छिपी बैठी (गाः) वेदवाणियों को, (द्वाभ्याम्) दो अर्थात् पद्य और गीति रूपी रचनाओं द्वारा, तथा (एकया) एक अर्थात् गद्यमयी रचना द्वारा, (वि आ अकः) व्याकृत किया, प्रकट किया। (बृहस्पतिः) महाब्रह्माण्डपति ने (तमसि) तमोरूप पार्थिव जगत् में (ज्योतिः) ज्ञान-ज्योति (इच्छन्) चाहते हुए, (उस्राः) सूर्यरश्मिवत् प्रकाश देनेवाली (तिस्रः) तीन रचनाओं का (वि आवः) आविर्भाव किया।

[परः= अव्यक्तात्पुरुषः परः । पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा, सा परा गतिः (कठ० १।३।११) । अवः=अ (अट्)+वृ आवरण। मन्त्र के चतुर्थपाद से "वि" और "आ" का अन्वय होता है। पद्यरचना और गीतिरचना का परस्पर सम्बन्ध है। पद्यरचना पर ही गीतिरचना अवलम्बित है, "ऋच्यधिरूढं साम गीयते"। तथा "ऋक्सामाभ्याम्" इस वैदिक समस्त पद द्वारा भी ऋक् अर्थात् पद्यरचना और साम अर्थात् गीतिरचना का परस्पर सम्बन्ध दर्शाया गया है। इसलिये मन्त्र में "द्वाभ्याम्" द्वारा ऋक् और साम का या पद्य और गीति का वर्णन हुआ है, और "एकया" द्वारा गद्यरचना का निर्देश किया है। तथा इन्हीं तीन रचनाओं को मन्त्र के चतुर्थपाद में "तिस्रः" पद द्वारा निर्दिष्ट किया है।]

५६५. वि भिन्द्या पुरं शयथेमपाचीं निस्त्रीणि साकमुदधेरकृन्तत् ।
बृहस्पतिरुषसं सूर्यं गामर्कं विवेद स्तनयन्निव द्यौः ॥५॥

हे तीन वैदिक रचनाओ! (पुरम्) ब्रह्माण्ड-पुरी को (विभिद्य) छिन्न-भिन्न करके, (अपाचीम्) प्रलयावस्था में (शयथ) जब तुम मानो सोई पड़ी थी, तदनन्तर (बृहस्पतिः) महाब्रह्माण्डपति ने, (साकम्) एक साथ, (त्रीणि) तीन रचनाओं को, (उदधेः) निज ज्ञान-सागर से (निः अकृन्तत्) मानो काट निकाला। तदनन्तर ब्रह्माण्डपति ने (उषसं, सूर्यं, गाम्, अर्कम्) उषा, सूर्य, पृथिवी और मन्त्रसमूह (विवेद) हमें प्राप्त कराए, (इव) जैसे कि (द्यौः) चमकती विद्युत् (स्तनयन्) बादलों में गर्जती हुई जल प्राप्त कराती है।

मन्त्र में कविशैली के अनुसार तीन रचनाओं का सम्बोधन किया है। अपाचीम्=इस पद द्वारा प्रलयावस्था को सूचित किया है। अपाची, अपाक्, अपाच्, अपाचीन=going backwards, turned backwards, not visible, imperceptible(आपटे)। उदधेः=जैसे समुद्र से, सूर्यताप द्वारा, भापरूप में जल काट कर अलग कर दिया जाता है, वैसे बृहस्पति के ज्ञानोदधि से तीन रचनाएं मानो कट कर उस से पृथक् हुईं। सृष्टिक्रम में प्रथम उषारूप उज्ज्वल प्रकाश प्रकट हुआ, तदनन्तर सूर्य, सूर्य के अनन्तर पृथिवी, और पृथिवी के अनन्तर मानुष-सृष्टि के प्रारम्भ में मन्त्रसमूह प्रकट हुआ। गाम्=गौः पृथिवी (निघ० १।१)। अर्कम्=अर्कः मन्त्रो भवति, यदनेनार्चन्ति(निरु० ५।१।४)। विवेद=विद्लृ लाभे। मन्त्र में ब्रह्माण्ड-पुरी के भेदन, तदनन्तर प्रलयावस्था, तत्पश्चात् उषा आदि के क्रम से सृष्टि की पुनः रचना के वर्णन द्वारा, सृष्टि और प्रलय की अनादि और अनन्त परम्परा को सूचित किया है।]

५६६. इन्द्रो वलं रक्षितारं दुघानां करेणेव वि चकर्ता रवेण ।
स्वेदाञ्जिभिराशिरमिच्छमानोऽरोदयत् पणिमा गा अमुष्णात् ॥६॥

सृष्टिक्रम में, (दुघानाम्) दुहे जानेवाले तत्त्वों में से, (वलम्) आकाश को घेरे हुए, (रक्षितारम्) और अपने जल की अपने में रक्षा करते हुए मेघ को, (इन्द्रः) परमेश्वर ने, (रवेण) विद्युत् की गर्जना द्वारा (विचकर्त) काट गिराया, (इव) जैसे कोई (करेण) हाथ द्वारा किसी वृक्ष आदि को काट गिराता है। तथा (स्वेदाञ्जिभिः) जल के आर्द्र-कणों द्वारा अभिव्यक्त हुए मेघों द्वारा (आशिरम्) भोजन-सामग्री को (इच्छमानः) चाहते हुए परमेश्वर ने, (पणिम्) व्यवहार के साधनभूत मेघ को (अरोदयत्) विद्युत् द्वारा गर्जवाया, और (गाः) उस के जलों को (अमुष्णात्) मानो चुरा लिया।

[वलम्=वृ आवरणे। दुघानाम्=दुह्यन्ते इति दुघाः, तेषाम्। आशिरम्=आ+अश् भोजने, यथा "आशितम्" =भोजनम्। पणिम्=पण् व्यवहारे। गाः=गौः (जलम्), उणादि कोष २।६७; वैदिक यन्त्रालय, अजमेर।]

५६७. स ईं सत्येभिः सखिभिः शुचद्भिर्गोधायसं वि धनसैरदर्दः ।
ब्रह्मणस्पतिर्वृषभिर्वराहैर्घर्मस्वेदेभिर्द्रविणं व्यानट् ॥७॥

(सत्येभिः) सत्य का अनुष्ठान करनेवाले, (शुचद्भिः) पवित्र, (धनसैः) आध्यात्मिक-धनों के प्रदाता, (वृषभिः) उपदेशामृतवर्षी,

(वराहैः) श्रेष्ठ-सात्विक आहारोंवाले, (घर्मस्वेदेभिः) यज्ञियकर्मों में अतिपरिश्रमी (सखिभिः) उपासक-सखाओं द्वारा, (ब्रह्मणस्पतिः) वेदपति या ब्रह्माण्डपति ने, (गोधायसम्) पृथिवीवासियों के धारण-पोषण करनेवाले वैदिक-रहस्यों को (वि अदर्दः) विशेषरूप में खोल दिया, और (द्रविणम्) वैदिक-ज्ञानरूपी धन को (व्यानट्) फैलाया।

[सखिभिः—सखा का अर्थ है "समान ख्यातिवाले, समान धर्मवाले। उपासक जब उपकार, न्याय, पवित्रता, सत्यानुष्ठान, ज्ञानप्रदान, तथा यज्ञीय-कर्मों की दृष्टि से, परमेश्वर के लिये समानधर्मा हो जाते हैं, तब परमेश्वर उन्हें सखारूप जानता है। धनसैः=धन+षणु दाने। वराहैः= श्रेष्ठाहारवद्भिः। अथवा "वराहैः वृषभिः"—मेघों के समान, विना भेदभाव के सर्वत्र उपदेशामृतों की वर्षा करनेवाले। घर्म=यज्ञ (निघ० ३।१७)।]

५६८. ते सुत्येन मनसा गोपतिं गा इयानास इषणयन्त धीभिः ।
बृहस्पतिर्मिथो अवद्यपेभिरुदुस्रिया असृजत स्वयुग्भिः ॥८॥

(ते) उन उपासक-सखाओं ने (गाः) वेदवाणियों को प्राप्त करने की (इषणयन्त) इच्छा की, और (सत्येन मनसा) सच्चे मन से की गई (धीभिः) ध्यानविधियों द्वारा उन्होंने (गोपतिम्) वेदवाणियों के पति से (गाः) वेदवाणियों को (इयानासः) प्राप्त किया। और (बृहस्पतिः) महा-वाणियों के पति ने, (स्वयुग्भिः) अपने में योगयुक्त, तथा (अवद्यपेभिः) अकथनीय आनन्दरस का पान करनेवाले उपासक-सखाओं द्वारा, (उस्रियाः) सूर्यरश्मियों के सदृश ज्ञानप्रकाशवाली वेदवाणियों को (मिथः) एक साथ, (उद् असृजत) प्रकट कर दिया।

[धीभिः—धी का अर्थ प्रज्ञा और कर्म भी है। प्रसङ्गानुसार यहां "प्रज्ञा" का अभिप्राय योगविधि द्वारा प्राप्त प्रज्ञा है, और "कर्म" का अभिप्रायः योगोपयोगी कर्मों से है।]

५६९. तं वर्धयन्तो मतिभिः शिवाभिः सिंहमिव नानदतं सधस्थे ।
बृहस्पतिं वृषणं शूरसातौ भरेभरे अनु मदेम जिष्णुम् ॥९॥

जीवात्मा और परमात्मा के (सधस्थे) सह-स्थान अर्थात् सह-वास-स्थान हृदय में, (सिंहम् इव) मानो सिंह के समान (नानदतम्) अन्तर्नाद करते हुए, तथा (वृषणम्) आनन्दरस की वर्षा करते हुए, (जिष्णुम्) सर्वविजयी

(बृहस्पतिम्) वेदपति या ब्रह्माण्डपति के सद्गुणों का,—(शिवाभिः मतिभिः) वेदोक्त कल्याणमयी मतियों द्वारा,—(वर्धयन्तः) बढ़-बढ़कर कीर्तन करते हुए हम उपासक-सखा, (शूरसातौ) शूर बने-कामादि के विनाश के निमित्त (भरे भरे) प्रत्येक देवासुर-संग्राम में, (तम् अनु मदेम) उस बृहस्पति को सदा प्रसन्न रखते हैं।

[शूरसातौ=सातिः स्यतेः विनाशार्थस्य। सातिः=Destruction (आपटे)।]

५७०. यदा वाजमसनद् विश्वरूपमा द्यामरुक्षदुत्तराणि सद्म ।
बृहस्पतिं वृषणं वर्धयन्तो नाना सन्तो बिभ्रतो ज्योतिरासा ॥१०॥

परमेश्वर जब (विश्वरूपम्) नानाविध (वाजम्) बल या शक्तियां (असनत्) प्रदान करता है, तब उपासक ध्यानबल द्वारा, (द्याम्) मस्तिक में (आ अरुक्षत्) आरोहण करता है, अर्थात् शनैः-शनैः निचले चक्रों से आरम्भ कर (उत्तराणि सद्म) ऊपर-ऊपर के चक्रों में आरोहण करता हुआ, मस्तिष्क के चक्र तक आरोहण करता है। और फिर (नाना सन्तः) ये नाना-सन्त अर्थात् योगी (ज्योतिः) परमेश्वरीय ज्योति को (बिभ्रतः) धारण करते हुए, (आसा) अपने मौखिक उपदेशों द्वारा, (वृषणम्) आनन्दरसवर्षी (बृहस्पतिम्) महाब्रह्माण्डपति का (वर्धयन्त) बढ़-बढ़ कर वर्णन करते हैं।

[द्याम्="शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत" (यजु० ३१।१३), अतः द्यौः= सिर, मस्तिष्क। उत्तराणि सद्म=सुषुम्णानाड़ी में ८ चक्र होते हैं। नीचे गुदा के समीप मूलाधार चक्र होता है, उस के ऊपर की ओर उत्तरोत्तर चक्र हैं—स्वाधिष्ठान, मणिपुर, हृदय-चक्र, विशुद्ध चक्र, आज्ञाचक्र, ब्रह्मरन्ध्र, तथा सहस्रार चक्र। योगी निचले-चक्रों में ध्यानाभ्यास द्वारा शनैः-शनैः उत्तरोत्तर चक्रों अर्थात् कमलों को विकसित करता हुआ, मस्तिष्क तक आरोहण करता है। मस्तिष्क में आज्ञा-चक्र तक पहुंच कर मस्तिष्क के और उत्तरोत्तर चक्रों में आरोहण करता है। ये उत्तरोत्तर चक्र हैं—ब्रह्मरन्ध्र तथा सहस्रार-चक्र। सहस्रारचक्र में परमेश्वरीय-ज्योति का महाप्रकाश प्रकट होता है।]

५७१. सत्यामाशिषं कृणुता वयोधै कीरिं चिद्ध्यवथ स्वेभिरेवैः ।
पश्चा मृधो अप भवन्तु विश्वास्तद् रोदसी शृणुतं विश्वमिन्वे ॥११॥

हे उपासको ! तुम (वयोधैः) वयोवृद्ध-उपासकों द्वारा प्रदर्शित विधियों द्वारा, (सत्याम् आशिषम्) परमेश्वर के सत्य आशीर्वाद को (कृणुत) प्राप्त करो । और (स्वेभिः) निज (एवैः) प्रयत्नों द्वारा (कीरिम्) जगत् के कर्त्ता को (चित्) भी (हि) निश्चय से (अवथ) प्राप्त करो । (पश्चा) इस के पश्चात् ही (विश्वाः मृधः) संग्रामकारी कामादि सब शत्रु (अप भवन्तु) छूट जायंगे । (विश्वमिन्वे) विश्वरूप या विराट्रूप परमेश्वर को प्राप्त होनेवाले (रोदसी) हे स्त्री-पुरुषो ! (शृणुतम्) मेरे इस उपर्युक्त कथन को ध्यानपूर्वक सुनो ।

[रोदसी का अर्थ है—द्युलोक और भूलोक । वेदों में पुरुष को द्यौ, तथा स्त्री को पृथिवी कहा गया है । यथा—"**द्यौरहं पृथिवी त्वं, ताविह सं भवाव, प्रजामा जनयावहै**" (अथर्व० १४।२।७१) मन्त्र में कहा है कि तुम दोनों सुनो । सुनने का व्यवहार चेतनों में ही सम्भव है,अचेतनों में नहीं ।]

५७२. इन्द्रो मह्ना महतो अर्णवस्य वि मूर्धानमभिनदर्बुदस्य ।
अहन्नहिमरिणात् सप्त सिन्धून् देवैर्द्यावापृथिवी प्रावतं नः ॥१२॥

(इन्द्रः) परमेश्वर ने (मह्ना) निज महिमा से, सूर्य के ताप द्वारा (अर्बुदस्य) अम्बु अर्थात् जल के प्रदाता (महः अर्णवस्य) महा-समुद्र के (मूर्धानम्) उपरि-स्तरों का (अभिनत्) छेदन-भेदन किया, और परिणाम में पैदा हुए (अहिम्) अन्तरिक्षगामी मेघ का (अहन्) हनन किया, तथा (सप्त सिन्धून्) सर्पण करती हुई नदियों को (अरिणात्) प्रवाहित किया । इस प्रकार (देवैः) दिव्यशक्तियों द्वारा (द्यावापृथिवी) द्युलोक और पृथिवी-लोक (नः) हमारी (प्रावतम्) पूरी रक्षा करते हैं ।

[अर्बुदस्य=अर्बुदः, अम्बुदः (निरु० ३।२।१०) । अहिम्=मेघम् । अहिः अयनात्, एति अन्तरिक्षे (निरु० २।५।१७) । सप्त=सर्पणात् (निरु० ४।४।२६) ।]

सूक्त ९२

१-१५ प्रियमेधः; १६-२१ पुरुहन्मा । इन्द्रः । १-३ गायत्री; ४-७, ९-१२ अनुष्टुप्; ८, १३, १७, १९, २१ पंक्तिः; १४, १६, १८, २० बृहती ।

५७३. अभि प्र गोपतिं गिरेन्द्रमर्च यथाविदे ।
सूनुं सत्यस्य सत्पतिम् ॥१॥

हे उपासक ! तू (यथाविदे) परमेश्वर के यथार्थ स्वरूप के जानने के लिये, (गिरा) वैदिक-स्तुतिवाणियों द्वारा, (गोपतिम्) संसार के स्वामी या रक्षक, (सत्यस्य सूनुम्) सत्यज्ञान के प्रेरक, (सत्पतिम्) सच्चे रक्षक (इन्द्रम्) परमेश्वर की, (अभि) उसे साक्षात् करके, (प्र अर्च) प्रकृष्ट स्तुतियां किया कर ।

५७४. आ हरयः ससृज्रिरेऽरुषीरधि बर्हिषि ।
यत्राभि सं नवामहे ॥२॥

(अधि बर्हिषि) हमारे हृदयाकाशों में,—(यत्र) जिन हृदयाकाशों में (अभि) परमेश्वर को साक्षात् करके (सं नवामहे) हम इकट्ठे मिलकर सम्यक्-स्तुतियां करते हैं,—उन हृदयाकाशों में (अरुषीः) प्रकाशमयी तथा (हरयः) मनोहारी परमेश्वरीय-किरणें (आ ससृज्रिरे) पूर्णरूप में प्रकट हो गई हैं ।[अरुषीः=आरोचनात् (निरु० १२।१।७) । तथा रोष, क्रोध आदि से छुड़ा देनेवाली।]

५७५. इन्द्राय गाव आशिरं दुदुह्रे वज्रिणे मधु ।
यत् सीमुपह्वरे विदत् ॥३॥

(यत्) जब (उपह्वरे) पर्वतों के एकान्त स्थान में अभ्यास द्वारा—(सीम्) सर्वव्याप्त परमेश्वर (विदत्) प्राप्त कर लिया जाता है, तब (गावः) हमारी स्तुतियां, (वज्रिणे) पापों पर वज्रप्रहारी (इन्द्राय) परमेश्वर के लिये, हमारे (मधु) मधुर तथा (आशिरम्) परिपक्व भक्तिरसों को (दुदुह्रे) प्रस्रवित कर देती हैं ।

[सीम्=परिग्रहार्थीयः (निरु० १।३।७) । परिग्रहः=सर्वतो ग्रहणं सर्वदेशित्वम् । गौः=वाङ् नाम (निघ० १।११) ।]

५७६. उद् यद् ब्रध्नस्य विष्टपं गृहमिन्द्रश्च गन्वहि ।
मध्वः पीत्वा सचेवहि त्रिः सप्त सख्युः पदे ॥४॥

(ब्रध्नस्य) बृहद्-ब्रह्म के (विष्टपम्) ताप-संताप रहित (गृहम्) हृदय-गृह में, (यद्) जब (इन्द्रः) परमेश्वर (च) और मैं उपासक (उद् गन्वहि) इकट्ठे हो जाते हैं, तब (मध्वः पीत्वा) परमेश्वर मेरे मधुर-भक्तिरस को, और मैं उपासक परमेश्वर के आनन्दरस को पीकर,—

(सख्युः) सखिपन के (त्रिः सप्त पदे) २१ वें पद पर। (सचेवहि) परस्पर एक-दूसरे के संगी साथी हो जाते हैं।

[त्रिः सप्त पदे=त्रिः सप्तमे पदे, अर्थात् २१ वें पद पर। ५ भूतों से उत्पन्न स्थूल शरीर के ५ पद, ५ तन्मात्रों के सूक्ष्मशरीर के ५ पद, ५ कर्मेन्द्रियों के ५ पद, ५ ज्ञानेन्द्रियों के ५ पद। २१ वां पद है अन्तःकरण। अर्थात् उपासक जब स्थूल शरीर, पंच-तन्मात्राओं ५ कर्मेन्द्रियों और ५ ज्ञानेन्द्रियों पर विजय पाकर, आनन्दानुगत तथा अस्मितानुगत समाधियों में, अन्तःकरण में लीन हो जाता है,—तब इस २१ वें स्थान में, पद में, परमेश्वर और उपासक में सखिभाव स्थापित हो जाता है। अभ्वस्य= अभ्वः महान् (निघ० ३।३)। विष्टपम्=वि+तप (ताप-सन्ताप)। पंच तन्मात्रा—शीत, उष्ण, सुख, दुःख की अनुभूतियां पञ्चतन्मात्रिक शरीर द्वारा होती हैं। गीता में कहा है कि—"मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुख-दुःखदाः" (गीता २।१४)। थिओसोफिस्ट जिसे Astral body कहते हैं, वह यह पञ्चतन्मात्रिक शरीर ही है।]

६७७. अर्चत प्रार्चत प्रियमेधासो अर्चत ।
अर्चन्तु पुत्रका उत पुरं न धृष्ण्वर्चत ॥५॥

(प्रियमेधासः) हे उपासना-यज्ञ के प्यारो! (अर्चत) परमेश्वर की अर्चना किया करो, (प्रार्चत) प्रकृष्ट विधि से और प्रभूत अर्चना किया करो। (अर्चत) बार-बार अर्चना किया करो। (उत) और (पुत्रकाः) छोटे पुत्र तथा छोटी पुत्रियां भी (अर्चन्तु) अर्चना किया करें। (न) जैसे (पुरम्) तुम अपने देह की अर्चना करते हो, वैसे (धृष्णु) पाप-धर्षक ब्रह्म की (अर्चत) अर्चना किया करो।

[पुरम्=दिन-रात तथा पल-पल में, आयुपर्यन्त हम अपने शरीरों की देखभाल में, तथा पालन-पोषण में लगे रहते हैं, इसी लगन से परमेश्वर की अर्चना में भी लगना चाहिये। [मेधः=यज्ञः (निघ० ३।१७)।]

६७८. अव स्वराति गर्गरो गोधा परि सनिष्वणत् ।
पिङ्गा परि चनिष्कददिन्द्राय ब्रह्मोद्यतम् ॥६॥

(गर्गरः) प्रभूत स्तुतियां करनेवाला उपासक, जब (अवस्वराति) धीमे स्वर में स्वरपूर्वक स्तुतियां करता है, तब (गोधा) उपासकों का

धारण-पोषण करनेवाली ब्राह्म-शक्ति (सनिष्वणत्) बार-बार अन्तर्नाद करती है। (च) और (पिङ्गा) पिङ्गा स्त्री भी (परि) सर्वत्र जब (चनिष्कदत्) घूमती है, तब (अवस्वराति) धीमे स्वर में स्वरपूर्वक स्तुतियां करती है, तब (इन्द्राय) स्त्री और पुरुष के "जीवात्मा" को शक्ति देने के लिये (ब्रह्म) परमेश्वर (उद्यतम्) सदा उद्यत रहता है।

[गर्गरः=गॄशब्दे, यङ्लुक्; गृणाति अर्चतिकर्मा (निघ० ३।१४)। गोधाः=गौः स्तोता(निघ० ३।१६)+धा+धारणपोषणयोः। सनिष्वणत्= स्वन् शब्दे, यङ्लुक्। "पिङ्गा" शब्द स्त्रीलिङ्ग है। पिङ्ग के अर्थ, आपटे ने Reddish-brown, yellow-red; तथा saffron दिये हैं। लालिमा लिये भूरे या केसरी रंग के कपड़े धारण करनेवाली प्रचारिका-उपासिका को मन्त्र में "पिङ्गा" द्वारा निर्देश किया प्रतीत होता है। स्त्री को बुढ़ापे में ज्ञानोपदेश करने का अधिकार वेद ने दिया है। यथा—"अथ जीर्विः विदथमावदासि" (अथर्व० १४।१।२१), अर्थात् हे विवाहित पत्नी! बूढ़ी होकर तू ज्ञानोपदेश किया कर; जीर्विः=जीर्णा। मुनियों के सम्बन्ध में ऋग्वेद में कहा है कि—"मुनयो वातरशनाः "पिशङ्गा" वसते मला" (ऋ० १०।१३६।२), अर्थात् मुनि लोग पिशङ्ग वस्त्रों को धारण करते हैं, वे वस्त्र सुफैद नहीं होते। आपटे ने पिङ्ग और पिशङ्ग इन दोनों शब्दों के अर्थ Reddish-brown किये हैं। सम्भवतः मुनि-स्त्रियों और मुनि-पुरुषों के लिये पिशङ्ग वस्त्र धारण करने का उपदेश वेदविहित हो। उपरि-लिखित ऋग्वेद के प्रमाण में "वसते" शब्द वस्त्र का निर्देश करता है। चनिष्कदत्=पदपाठ में "स्कद्" धातु का यङ्लुगन्त प्रयोग प्रतीत होता है। स्कद्=गतौ।]

६७९. आ यत् पतन्त्येन्यः सुदुघा अनपस्फुरः ।
अपस्फुरं गृभायत सोममिन्द्राय पातवे ॥७॥

(एन्यः) भिन्न-भिन्न वर्णोंवाली गौएं (यत्) जब चरागाह से घर की ओर (आ पतन्ति) उछलती-कूदती हुई आती हैं, तब (अनपस्फुरः) एक स्थान में टिकी हुई होकर, (सुदुघाः) ये सुगमता से दुही जाने योग्य होती हैं, इसी प्रकार हे उपासको! तुम (इन्द्राय पातवे) परमेश्वर के पान के लिये, निश्चल चित्तवृत्ति द्वारा (अपस्फुरम्) चञ्चलता से अपगत अर्थात् स्थिर (सोमम्) भक्तिरस को (गृभायत) प्राप्त किया करो।

[गौओं को भिन्न-भिन्न वर्णोंवाली, तथा घर की ओर उछल-कूद कर आनेवाली कहा है, परन्तु ये नानावर्णोंवाली गौएं तब सुगमता से दुही जा सकती है, जब दोहते समय ये एक स्थान में टिकी रहें । इसी प्रकार चित्तवृत्तियां भी नाना रूपोंवाली और चञ्चल हैं, अस्थिर हैं । जब चित्त-वृत्तियां चञ्चलता से रहित होकर स्थिर हो जाती हैं, तभी ये स्थिर अर्थात् निश्चल भक्तिरस देती हैं, जिस का कि पान परमेश्वर करता है । अस्थिर भक्तिरस को परमेश्वर स्वीकार नहीं करता । एन्यः=of variegated colour (आपटे) । एनीः=धेनवः (अथर्व० १८।४।३३ तथा १८।१।३२) । अनपस्फुरः=अन्+अपस्फुरः । दोहनकाले गवां यद् अपस्फुरणं, दूषितं स्फुरणं, स्वस्थानात् विचलनम्, तद्रहिताः । अपस्फुरम्=अपगतस्फुरम्, स्फुरणरहितम् ।]

५८०. अपा॒दिन्द्रो॒ अपा॑द॒ग्निर्विश्वे॑ दे॒वा अ॑मत्सत ।
वरु॑ण॒ इदि॒ह क्ष॑यत् तमापो॑ अ॒भ्य॑नूषत व॒त्सं सं॒शिश्व॑रीरिव ॥८॥

जब (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् परमेश्वर (अपात्) स्थिर-भक्तिरस (मन्त्र ५७९) का पान कर लेता है, जब (अग्निः) सर्वाग्रणी परमेश्वर (अपात्) स्थिर तथा निश्चल भक्तिरस का पान कर लेता है, तब (विश्वे) सब (देवाः) दिव्य-उपासक (अमत्सत) प्रसन्न और तृप्त हो जाते हैं । जब (वरुणः) वरण करनेवाला या वरण किया गया परमेश्वर (इह) इन हमारे हृदयों में (क्षयत् इत्) निवास कर ही लेता है, तब (आपः) हमारे प्राण तक (तम्) उस परमेश्वर की (अभि अनूषत) साक्षात् स्तुतियां करने लगते हैं, (इव) जैसे (संशिश्वरीः) मिल कर शिशु की वृद्धि करनेवाली माताएं (वत्सम्) शिशु की स्तुतियां और प्रशंसाएं करती हैं ।

[संशिश्वरीः=सम्+श्वि (वृद्धौ)+यङ् लुक् । आपः="आपनानि षडिन्द्रियाणि विद्या सप्तमी" (निरु० १२।४।३८) ।]

५८१. सु॒दे॒वो अ॑सि वरुण॒ यस्य॑ ते स॒प्त सिन्ध॑वः ।
अ॒नु॒क्षर॑न्ति का॒कुदं॑ सू॒र्म्यं॑ सुषि॒रामि॑व ॥९॥

(वरुण) हे उपासकों का वरण करनेवाले, या उपासकों द्वारा वरण किये जानेवाले परमेश्वर ! आप (सुदेवः असि) सर्वोत्तम देव हैं, (यस्य ते) जिस आपके निमित्त, (सप्त) सात वैदिक-छन्दों से युक्त स्तुतियां

(सिन्धवः) मानो स्यन्दन करती हुई (काकुदम्) उपासकों के तालुओं की ओर, अर्थात् मुखों में, (अनु) निरन्तर (क्षरन्ति) प्रवाहित होती रहती हैं, (इव) जैसे कि (सूर्म्यम्) बहु-तरंगोंवाले स्रोत अर्थात् नदियां, (सुषिराम्) निचली भूमि की ओर निरन्तर प्रवाहित होती रहती हैं ।

[**सूर्म्यम्=सूर्मिमयं स्रोतः** (निरु० ५।४।२७) । काकुदम्=तालु । **जिह्वा कोकुवा, साऽस्मिन् धीयते** (निरु० ५।४।२७) । सुषिरा=दो पर्वतों के बीच की खड्ड । Hollow, cavity (आपटे) ।]

५८२. यो व्य॒ती॑रफा॒णय॒त् सुयु॑क्ताँ॒ उप॑ दा॒शुषे॑ ।
त॒क्वो ने॒ता तदिद् वपु॑रुप॒मा यो अमु॑च्यत ॥१०॥

(यः) जिस परमेश्वर ने (व्यतीन्) व्युत्थित-वृत्तियों से रहित उपासकों को (अफाणयत्) योगमार्ग में प्रगतिशील किया, और उन्हें (सुयुक्तान्) सुगमता से योगयुक्त किया, तथा (उपयुक्तान्) योगमार्ग के उपयोगी किया, वह परमेश्वर (तक्वः) प्रसन्न होकर, (दाशुषे) आत्म-समर्पक के लिये, (नेता) मार्ग प्रदर्शन करता है, वह (उपमा) उपमारूप है, (यः) जो कि उपासक के (तत् इत्) उसी वर्त्तमान (वपुः) शरीर को (अमुच्यत) छुड़ा देता, और उसे मुक्त कर देता है ।

[व्यतीन्=वि+अत् (सातत्यगमने)=चित्त की सततगति से विहीन । **अफाणयत्=फणति गतिकर्मा** (निघ० २।१४) । तक्व=तक् हसने ।]

५८३. अती॑दु श॒क्र ओ॑हत॒ इन्द्रो॒ विश्वा॒ अति॒ द्विषः॑ ।
भि॒नत् क॒नीन॑ ओद॒नं प॒च्यमा॑नं प॒रो गि॒रा ॥११॥

(शक्रः) शक्तिशाली (इन्द्रः) परमेश्वर, उपासक को (विश्वा द्विषः) सब प्रकार की द्वेष-भावनाओं से (अति) अतिक्रान्त करके, पृथक् करके (इत्) ही, (उ) अवश्य, उस का (अति ओहते) अतिवाहन करता है, उसे बन्धनों से छुड़ा देता है । (कनीनः) कान्तिमान् (परः) पर-ब्रह्म (गिरा) वेदवाणियों के कथनानुसार, (पच्यमानम् ओदनम्) पक रहे कर्म-भोगों को (भिनत्) छिन्न-भिन्न कर देता है ।

[कनीनः=कन् दीप्तिकान्तिगतिषु । ओदनम्=जैसे "भात का

भोग किया जाता है, वैसे "कर्मों" का भी भोग किया जाता है। मन्त्र में "ओदन" पद कर्मभोग के लिये लाक्षणिक है। कर्मों का भी परिपाक होता है। कनीनः=कनि (कान्ति)+इनः (स्वामी)=कान्ति का स्वामी=अतिकान्तिमान्।]

५८४. अर्भको न कुमारकोऽधि तिष्ठन्नवं रथम्।
स पक्षन्महिषं मृगं पित्रे मात्रे विभुक्रतुम् ॥१२॥

(अर्भकः) छोटा बच्चा, जब (नवम्) नवीन तथा प्रशंसनीय (रथम्) शरीर-रथ में, (अधितिष्ठन्) स्थित होता है, अर्थात् शरीर धारण करता है, जन्म लेता है, वह बड़ा होकर यदि (कुमारकः न) कुत्सित काम-वृत्तियोंवाले युवा के सदृश हो जाता है, तो (सः) वह (महिषं मृगम्) भैंसे तथा मृग आदि पशुओं को (पित्रे मात्रे) पिता और मातारूप में (पक्षत्) ग्रहण करता है, और (विभुक्रतुम्) विविध प्रकार के बहुत पाशविक-कर्मों का ग्रहण करता है। [पक्षत्=पक्ष् परिग्रहे। कुमारकः=कु (कुत्सित)+मार (मारक कामवासना)। अभिप्राय यह कि भाग्यवश जीवात्मा मानुष शरीर धारण करके भी, यदि युवा होकर, कामादि-वासनाओं से वासित हो जाता है, तो उसे फिर पाशविक शरीरों में जाकर विविध प्रकार के पाशविक कर्मों के भोग भोगने पड़ते हैं।]

५८५. आ तू सुशिप्र दंपते रथं तिष्ठा हिरण्ययम्।
अध द्युक्षं सचेवहि सहस्रपादमरुषं स्वस्तिगामनेहसम् ॥१३॥

(सुशिप्र) सत्कर्मों के करने से हे शोभन मुखोंवाले (दंपते) सद्गृहस्थी पति-पत्नी! तुम दोनों (हिरण्ययम्) सुवर्णसमान बहुमूल्य (रथम्) शरीर रथों में (आ तिष्ठ) आ स्थित हुए हो। (अध) तदनन्तर यह संकल्प करो कि हम दोनों (द्युक्षम्) द्युलोक-निवासी, (सहस्रपादम्) हजारों पैरोंवाले अर्थात् सर्वगत, तथा हजारों लोकलोकान्तरों के प्रतिष्ठानरूप, (अरुषम्) द्युतिमान् रोष-क्रोध से रहित, (स्वस्तिगाम्) कल्याणमार्गी, (अनेहसम्) अपापविद्ध परमेश्वर का (सचेवहि) संग किया करेंगे।

[द्युक्षम्=द्युलोक की विभूतियों और द्युलोक के असंख्येय तारागणों की दृष्टि से उन के नियामकरूप में, परमेश्वर को "द्युलोकवासी" कहा है। सहस्रपादम्=यजुर्वेद पुरुषसूक्त (अध्या० ३१) में परमेश्वर को सहस्रपाद्

कहा है। पैरों का काम है एक स्थान से दूसरे स्थान में ले जाना। इस द्वारा परमेश्वर को सर्वगतरूप में वर्णित किया है। तथा पैरों का काम "प्रतिष्ठा," अर्थात् शरीर को दृढ़ स्थित रखना है। "पादयोः प्रतिष्ठा" (अथर्व० १९।६०।२)। अनेहसम्=पापरहित, अपापविद्ध (यजु० ४०।८)। मन्त्र (५८४) में कुकर्मों के दुष्परिणाम का वर्णन है, और मन्त्र (५८५) में सुकर्मों का वर्णन हुआ है। रथम्=रथ का अभिप्राय "गृहस्थ-रथ" भी सम्भव है।]

५८६. तं घेमित्था नमस्विन उप स्वराजमासते।
अर्थं चिदस्य सुधितं यदेतव आवर्तयन्ति दावने ॥१४॥

(इत्था) यह सत्य है कि उपासक (नमस्विनः) नमस्कार करते हुए (तं स्वराजम्) उस स्वयं ज्योतिस्वरूप परमेश्वर के (उप) समीप (घ) अवश्य (आसते) आसीन हो जाते हैं। (यत्) चूंकि (अस्य) इस परमेश्वर के दिये (सुधितम्) उत्तम-हितकारी (अर्थम्) प्राकृतिक और आध्यात्मिक धन को (एतवे) प्राप्त करके, वे उपासक, (दावने) दान के निमित्त उस धन का (आवर्तयन्ति) आवर्तन-प्रत्यावर्तन करते रहते हैं।

[नमस्कार तथा परमेश्वर से प्राप्त सांसारिक और आध्यात्मिक सम्पत्तियों का दान,—ये दो उपाय हैं परमेश्वर के समीप आसीन होने के। इत्था=सत्यम् (निघ० ३।१०)।]

५८७. अनु प्रत्नस्यौकसः प्रियमेधास एषाम्।
पूर्वामनु प्रयतिं वृक्तबर्हिषो हितप्रयस आशत ॥१५॥

(एषाम्) इन उपासकों में से जो उपासक (प्रियमेधासः) उपासना-यज्ञों को प्रिय जानते हैं, इसलिये जिन्होंने (वृक्तबर्हिषः) द्रव्ययज्ञों का परित्याग कर दिया है, और जो (हितप्रयसः) हितकर आध्यात्मिकयज्ञों में प्रयासशील हैं, वे (प्रत्नस्य) अनादि (ओकसः) सर्वाश्रय परमेश्वर के दर्शाए (अनु) मार्गानुसार, (पूर्वां प्रयतिम्) अनादिकाल से प्रचलित आध्यात्मिक प्रयत्नों में (अनु) निरन्तर (आशत) व्याप्त रहते हैं।

[गृहस्थियों के लिये द्रव्य-यज्ञों का विधान है, जो कि द्रव्य द्वारा साध्य हैं। परन्तु वानप्रस्थियों तथा संन्यासियों के लिये आध्यात्मिक-यज्ञ हितकर हैं।]

५८८. यो राजा चर्षणीनां याता रथेभिरध्रिगुः ।
विश्वासां तरुता पृतनानां ज्येष्ठो यो वृत्रहा गृणे ॥१६॥

(यः) जो परमेश्वर (चर्षणीनाम्) सब मनुष्यों का (राजा) राजा है, जो (रथेभिः) हमारे शरीर-रथों द्वारा, तथा गतिशील और रमणीय लोकलोकान्तरों द्वारा (याता) प्राप्त होता और जाना-जाता है। (अध्रिगुः) जिस की गतिविधि को कोई रोक नहीं सकता। (यः) जो (विश्वासां पृतनानाम्) सब विरोधी शक्तियों को (तरुता) पराजित किया हुआ, (ज्येष्ठः) पुराणपुरुष, सर्वप्रशस्त, तथा (वृत्रहा) पाप-वृत्रों का हनन करता है, (गृणे) उसके मैं स्तुतिगान गाता हूं।

[रथेभिः="शरीरं रथमेव तु" (कठ० १।३।३)। तथा रथः=रंहते-र्वा स्याद् गतिकर्मणः (निरु० ९।२।११)। तरुता=तॄ प्लवनसंतरणयोः। अध्रिगुः=अधृतगमनः।]

५८९. इन्द्रं तं शुम्भ पुरुहन्मन्नवसे यस्य द्विता विधर्तरि ।
हस्ताय वज्रः प्रति धायि दर्शतो महो दिवे न सूर्यः ॥१७॥

(पुरुहन्मन्) हे पापों का अति हनन करनेवाले उपासक! (अवसे) पापों से आत्मरक्षार्थ, तू (तम्) उस (इन्द्रम्) परमेश्वर की (शुम्भ) स्तुतियों और कीर्तनों द्वारा शोभा बढ़ाया कर, (यस्य) जिस के कि (विधर्तरि) विशेष-धारण-सामर्थ्य पर (द्विता) दो प्रकार के—द्युलोक तथा तथा भूलोक, इहलोक तथा परलोक स्थित हैं; तथा जिस परमेश्वर ने (हस्ताय) पापियों और पापों के हनन के लिये, (दर्शतः) दर्शनीय (वज्रः) ज्ञानरूपी वज्र (प्रतिधायि) धारण किया हुआ है, (न) जैसे कि उसने (दिवे) प्रकाश के लिये अर्थात् अन्धकार के हनन के लिये (महः सूर्यः) प्रकाशमय महा सूर्य धारण किया हुआ है।

[हस्ताय=हस्तः हन्तेः, प्राशुर्हनने (निरु० १।३।७)।]

५९०. नकिष्टं कर्मणा नशद् यश्चकार सदावृधम् ।
इन्द्रं न यज्ञैर्विश्वगूर्तमृभ्वसमधृष्टं धृष्ण्वोजसम् ॥१८॥

(कर्मणा) किसी भी कर्म द्वारा (नकिः) कोई भी नहीं (तम्) उस परमेश्वर की महिमा को (नशत्) प्राप्त कर सकता, (यः) जो परमेश्वर

कि (सदावृधम्) सब की सदा वृद्धि (चकार) करता है। (विश्वगूर्तम्) विश्व में जिस का उद्यम हो रहा है, (ऋभ्वसम्) जो अतिप्रकाशमान है, (अधृष्टम्) जो अपराभवनीय है, और (धृष्णु ओजसम्) जिस का ओज सब का पराभव करता है, उस (इन्द्रम्) परमेश्वर को महिमा तक, (यज्ञैः) यज्ञ-यागादि द्वारा, (नकिः नशत्) कोई नहीं पहुंच सकता।

[नशत् व्याप्तिकर्मा (निघ० २।१८)। गूर्तम्=गुरी उद्यमने। ऋभ्वसम्=ऋभवः उरु भान्ति (निरु० ११।२।१६); अथवा ऋभु+असम्=अतिप्रकाशमान सूर्यादि के प्रकाशों को भी परास्त करनेवाला।]

५९१. अषाल्हमुग्रं पृतनासु सासहिं यस्मिन् महीरुरुज्रयः ।
सं धेनवो जायमाने अनोनवुर्द्यावः क्षामो अनोनवुः ॥१९॥

(यस्मिन्) जिस परमेश्वर के (जायमाने) प्रकट होते हुए,—(अषाल्हम्) अपराभवनीय, (उग्रम्) न्यायव्यवस्था में उग्ररूप, (पृतनासु) कामादि के नाना वर्गों के उपस्थित हो जाने पर भी (सासहिम्) उन का पूर्णप्रभाव करनेवाले जिस परमेश्वर की (सम् अनोनवुः) स्तुतियां सब लोकलोकान्तर मिलकर कर रहे हैं, (धेनवः) वेदवाणियां भी उसी परमेश्वर की (सम् अनोनवुः) मिलकर सम्यक् स्तुतियां कर रही हैं। (उरुज्रयः) तथा महावेगी (महीः द्यावः) महा-द्योतमान सूर्य, नक्षत्र, तारागण, तथा महापरिमाणी (क्षामः) पृथिवी भी उसी की स्तुतियां कर रहे हैं।

[धेनवः=धेनुः वाक् (निघ० १।११)। उरुज्रयः=बहुजवाः (निरु० १२।४।४३)।]

५९२. यद् द्याव इन्द्र ते शतं शतं भूमीरुत स्युः ।
न त्वा वज्रिन्त्सहस्रं सूर्या अनु न जातमष्ट रोदसी ॥२०॥

देखो—मन्त्र संख्या (५२०)।

५९३. आ पप्राथ महिना वृष्ण्या वृषन् विश्वा शविष्ठ शवसा ।
अस्माँ अव मघवन् गोमति व्रजे वज्रिञ्चित्राभिरूतिभिः ॥२१॥

देखो—मन्त्र संख्या (५२१)।

सूक्त ९३

१-३ प्रगाथः; ४-८ देवजामयः । इन्द्रः । गायत्री ।

५९४. उत् त्वा मदन्तु स्तोमाः कृणुष्व राधो अद्रिवः ।
अव ब्रह्मद्विषो जहि ॥१॥

(अद्रिवः) हे अविदीर्ण शक्तियोंवाले परमेश्वर ! (स्तोमाः) हमारे स्तुतिगान (त्वा) आप को (उत् मदन्तु) प्रसन्न करें, और आप (राधः) आध्यात्मिक-धन (कृणुष्व) हमें प्रदान कीजिये, और (ब्रह्मद्विषः) आप-ब्रह्म सम्बन्धी विरोधी भावनाओं का (अव जहि) हनन कीजिये ।

५९५. पदा पणीँरराधसो नि बाधस्व महाँ असि ।
नहि त्वा कश्चन प्रति ॥२॥

हे परमेश्वर ! (अराधसः) आराधना-विहीन (पणीन्) हमारी व्यावहारिक-भावनाओं को (पदा) मानो पैर की ठोकर द्वारा आप (नि बाधस्व) दूर कर दीजिये, आप (महान् असि) महान् है । (कश्चन) कोई भी शक्ति (त्वा) आप का (प्रति न) प्रतिरोध नहीं कर सकती ।

[पदा=अथवा वैदिकपदों द्वारा ।]

५९६. त्वमीशिषे सुतानामिन्द्र त्वमसुतानाम् ।
त्वं राजा जनानाम् ॥३॥

(इन्द्र) हे परमेश्वर ! (त्वम्) आप (सुतानाम्) उत्पन्न सब पदार्थों के (ईशिषे) अधीश्वर हैं, (त्वम्) आप (असुतानाम्) उन पदार्थों के भी अधीश्वर हैं जो अभी उत्पन्न नहीं हुए, और भविष्य में उत्पन्न होंगे, या जो नित्य हैं । (त्वम्) आप (जनानाम्) सब जनों के (राजा) राजा हैं ।

५९७. ईङ्खयन्तीरपस्युव इन्द्रं जातमुपासते ।
भेजानासः सुवीर्यम् ॥४॥

(अपस्युवः) सत्कर्मों को चाहती हुई (ईङ्खयन्तीः) प्रगतिशील प्रजाएं, (जातम् इन्द्रम्) साक्षात् हुए परमेश्वर की (उपासते) उपासनाएं करती हैं, और (सुवीर्यम्) सात्त्विक शक्तियों से सम्पन्न परमेश्वर का (भेजानासः) भजन करती हैं ।

५९८. त्वमिन्द्र बलादधि सहसो जात ओजसः ।
त्वं वृषन् वृषेदसि ॥५॥

(इन्द्र) हे परमेश्वर ! आप (बलात् अधि) शारीरिक बल, और (सहसः) मानसिक साहस, तथा (ओजसः) आध्यात्मिक कोमल भावनाओं से (जातः) प्रकट होते हैं । (वृषन्) हे आनन्दरसवर्षी ! आप (इत्) वास्तव में (वृषा) आनन्दरस की वर्षा करते (असि) हैं ।

[बलात्—शारीरिक बल अर्थात् ब्रह्मचर्य, मानसिक उत्साह, तथा प्रेम, करुणा, मैत्रीभावना, सदा प्रसन्न रहना—आदि आध्यात्मिक साधनाओं द्वारा परमेश्वर का साक्षात्कार होता है। (ओजः=उब्ज आर्जवे=ऋजुपन ।]

५९९. त्वमिन्द्रासि वृत्रहा व्य१न्तरिक्षमतिरः ।
उद् द्यामस्तभ्ना ओजसा ॥६॥

(इन्द्र) हे परमेश्वर ! आप (वृत्रहा असि) पापों का हनन कर देते हैं, आप (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष से भी (व्यतिरः) परे विद्यमान हैं । आपने (ओजसा) निज प्रभाव के कारण (द्याम्) द्युलोक को (उद् अस्तभ्नाः) ऊपर थामा हुआ है ।

६००. त्वमिन्द्र सजोषसमर्कं बिभर्षि बाह्वोः ।
वज्रं शिशान ओजसा ॥७॥

जैसे कोई व्यक्ति (बाह्वोः) अपनी बाहुओं में (सजोषसम्) प्रिय पुत्र आदि को धारण करता है, वैसे (इन्द्र) हे परमेश्वर ! (त्वम्) आप (अर्कम्) सूर्य को विना बाहुओं के ही (बिभर्षि) धारण कर रहे हैं, और आप (ओजसा) निज ओज द्वारा (वज्रम्) अन्धकार आदि के लिये वज्र-समान सूर्य को (शिशानः) ताप से तीखा कर रहे हैं।

६०१. त्वमिन्द्राभिभूरसि विश्वा जातान्योजसा ।
स विश्वा भुव आभवः ॥८॥

(इन्द्र) हे परमेश्वर ! आपने (ओजसा) निज ओज के कारण (विश्वा जातानि) सब उत्पन्न पदार्थों पर (अभिभूः असि) विजय पाई हुई

है। (सः) वे आप (विश्वाः भुवः) सब भुवनों में (आभवः) पूर्णतया स्थित हैं।

सूक्त ६४

१-११ कृष्णः । इन्द्रः । १-३, १०-११ त्रिष्टुप्; ४-९ जगती ।

६०२. आ यात्विन्द्रः स्वपतिर्मदाय यो धर्मणा तूतुजानस्तुविष्मान् ।
प्रत्वक्षाणो अति विश्वा सहांस्यपारेण महता वृष्ण्येन ॥१॥

(स्वपतिः) समग्रैश्वर्यों का पति परमेश्वर (मदाय) उपासकों की प्रसन्नता और तृप्ति के लिये (आ यातु) हम उपासकों में प्रकट हो। (यः) जो परमेश्वर (तुविष्मान्) बहुविध पदार्थों का स्वामी है, वह (धर्मणा) वैदिक धर्म के द्वारा (तूतुजानः) हमारा पालन कर रहा है। वह (अपारेण) असीम (महता) और महान् (वृष्ण्येन) सामर्थ्य द्वारा (विश्वा) सब (सहांसि) पराभवकारी राग-द्वेष और तज्जन्य बुराइयों का (अति प्रत्वक्षाणः) अत्यन्त और पूर्ण विनाश करता है, या उन्हें तनूकृत कर देता है।

[तूतुजानः=तुजि पालने+कानच् । त्वक्ष् =तनूकरणे ।]

६०३. सुष्ठामा रथः सुयमा हरी ते मिम्यक्ष वज्रो नृपते गभस्तौ ।
शीभं राजन्त्सुपथा याह्यर्वाङ् वर्धाम ते पपुषो वृष्ण्यानि ॥२॥

हे परमेश्वर ! (रथः) मेरा यह शरीर रथ (सुष्ठामा) चञ्चलता से रहित होकर अब उत्तम स्थिरता को प्राप्त हो गया है, और (हरी) ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियरूपी अश्व (सुयमा) सुनियन्त्रित हो गए हैं। (नृपते) हे नर-नारियों के स्वामिन् ! (ते) आप ज्योतिर्मय की (गभस्तौ) अज्ञानान्धकार-निवारक किरणों में (वज्रः) मानो एक वज्र है, जो कि कामादि पर (मिम्यक्ष) गर्जा है। (राजन्) हे जगत् के राजन् ! (सुपथा) योग के सुगममार्ग द्वारा (अर्वाङ्) हमारी ओर (शीभम्) शीघ्र (आ याहि) आइये, प्रकट हूजिये, (पपुषः) पुष्टि करनेवाले (ते) आपके (वृष्ण्यानि) सामर्थ्यों का, (वर्धाम) प्रचार द्वारा हम वर्धन करते हैं।

[**गभस्तिः=गभम् अन्धकारम्, अस्यतीति=किरणः** (उणादि कोष ४।१८०) वैदिक पुस्तकालय, अजमेर ।]

६०४. एन्द्रवाहो नृपतिं वज्रबाहुमुग्रमुग्रासस्तविषास एनम् ।
प्रत्वक्षसं वृषभं सत्यशुष्ममेमस्मत्रा सधमादो वहन्तु ॥३॥

(इन्द्रवाहः) परमेश्वर को अपने शरीर-रथों में वहन करनेवाले, (उग्रासः) कर्तव्यों में सुदृढ़, (सधमादः) परमेश्वर के साथ रह कर आनन्द भोगनेवाले, (तविषासः) महान् आत्माएं,—(नृपतिम्) नर-नारियों के स्वामी, (वज्रबाहुम्) न्यायवज्र द्वारा पापों को विलोडनेवाले, या वज्रहस्त राजा के समान न्यायवज्रधारी, (उग्रम्) पापों के प्रति उग्ररूप, (प्रत्वक्षसम्) अविद्या-रागद्वेष को तनूकृत करनेवाले, (वृषभम्) आनन्दरसवर्षी, (सत्यशुष्मम्) वास्तव में अविद्या आदि का शोषण करनेवाले (एनम्) इस परमेश्वर को,—(अस्मत्रा) हम शिष्य उपासकों में (आ वहन्तु) प्राप्त कराएं, उस का प्रत्यक्ष दर्शन कराएं।

[**इम्=पदपूरणः** (निरु० १।३।९) । प्रत्वक्षसम्=त्वक्ष् तनूकरणे । **बाहुः=बाध्यन्ते विलोडयन्ते पदार्था येन सः** (उणादि कोष, १।२७, रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़) ।]

६०५. एवा पतिं द्रोणसाचं सचेतसमूर्ज स्कम्भं धरुण आ वृषायसे ।
ओजः कृष्व सं गृभाय त्वे अप्यसो यथा केनिपानामिनो वृधे॥४॥

(पतिम्) सब के पति अर्थात् रक्षक, (द्रोणसाचम्) पापविनाश के साथी, या हृदय-गृह के साथी, (सचेतसम्) सदा-चेतन, (ऊर्जः) आध्यात्मिक-अन्नरूप, (स्कम्भम्) सर्वाधार परमेश्वर को, हे उपासक ! तू (धरुणे) परमेश्वर को धारण करने के स्थान हृदय में,—(आ वृषायसे) अपने भक्ति-रस से सींचता है। (ओजः कृष्वः) हे उपासक ! तू अपना ओज प्रकट कर, और (संगृभाय) ओज का अधिक संग्रह कर, (त्वे=त्वयि) तुझ में (अप्यसः=अपि+अस् भुवि) भी परमेश्वर प्रकट होगा, (यथा) क्योंकि (इनः) स्वामी परमेश्वर (केनिपानाम्) मेधावी-उपासकों का (वृधे) वृद्धि को लिये है। [**द्रोण=द्रूणाति वधकर्मा** (निघ० २।१९), अथवा **द्रोण=दुरोण** (गृह, निघ० ३।४) । **केनिपाः=मेधाविनः** (निघ० ३।१५) । के= सांसारिक सुखों में रहते हुए भी जो, निपाः=भक्तिरस का निरन्तर पान करते रहते हैं।]

६०६. गमन्नस्मे वसून्या हि शंसिषं स्वाशिषं भरमा याहि सोमिनः ।
त्वमीशिषे सास्मिन्ना सत्सि बर्हिष्यनाधृष्या तव पात्राणि धर्मणा ।।५।।

(अस्मे) मुझे (वसूनि) आध्यात्मिक-सम्पत्तियां, (हि) निश्चय से, (आ गमन्) प्राप्त हुई हैं। (स्वाशिषम्) मैंने अपनी इच्छा (शंसिषम्) प्रकट कर दी है कि हे परमेश्वर! (सोमिनः) भक्तिरस की भेंटवाले मुझ उपासक के (भरम्) देवासुर-संग्राम में (आ याहि) आप सहायतार्थ प्रकट हूजिये, यतः (त्वम्) आप (ईशिषे) सब के अधीश्वर हैं, अतः (सः) वह आप (अस्मिन्) इस (बर्हिषि) हृदयासन पर (आ सत्सि) आ विराजिये। (तव) आप के (पात्राणि) सत्पात्र-उपासक (धर्मणा) धर्मकर्म के कारण या आप को धारण कर लेने के कारण (अनाधृष्याः) अब पापों द्वारा पराभव योग्य नहीं हैं।

[अस्मे=मह्यम् ?। स्वाशिषम्=स्व+आशिस् (आङः शासु इच्छायाम्)। सास्मिन्=सः अस्मिन्।]

६०७. पृथक् प्रायन् प्रथमा देवहूतयोऽकृण्वत श्रवस्यानि दुष्टरा।
न ये शेकुर्यज्ञियां नावमारुहमीर्मैव ते न्यविशन्त केपयः ।।६।।

(प्रथमाः देवहूतयः) दिव्य-उपासकों की श्रेष्ठ पुकारें, (पृथक्) पृथक्-पृथक् रूप में, (प्रायन्) हे परमेश्वर! आप तक पहुंची हैं। उन्होंने (श्रवस्यानि) प्रशंसा-योग्य (दुष्टरा) अतिकठिन काम अर्थात् अन्ततःशत्रुओं का विनाश (अकृण्वत) किया है। (ये) जो लोग (यज्ञियां नावम्) उपासना-यज्ञ की नौका में (आरुहम्) आरोहण (न शेकुः) नहीं कर सके, (ते) वे (केपयः) कुपूय अर्थात् कुत्सितकर्मी, (ईर्मा एव) इस ही जन्म-मरण की शृङ्खला में (न्यविशन्त) जकड़े रहते हैं, अर्थात् इसी पृथिवी में बार-बार प्रविष्ट होते रहते हैं।

६०८. एवैवापागपरे सन्तु दूढ्योऽश्वा येषा दुर्युज आयुयुज्रे ।
इत्था ये प्रागुपरे सन्ति दावने पुरूणि यत्र वयुनानि भोजना।।७।।

(एव-एव) इस ही प्रकार (अपरे) अन्य अर्थात् (दूढ्यः) दुर्बुद्धि लोग (अपाक्) पिछड़े रहते (सन्ति) हैं (येषाम्) जिनके कि (अश्वाः) इन्द्रियाश्व उन के साथ (आ युयुज्रे) सदा जुते रहते हैं, और (दुर्युजः) दुःखदायीरूप में जुते रहते हैं। (इत्था) इसी प्रकार (ये) जो (परे) इन से अतिरिक्त उपासक हैं, (यत्र) जिन में कि (वयुनानि) आध्यात्मिक-ज्ञान-रूपी (भोजना) भोजन (पुरूणि) बहुमात्रा में होता है, वे (दावने) परमेश्वर के प्रति सर्वस्व-दान में, (प्राक् सन्ति) आगे बढ़े हुए होते हैं।

६०९. गिरींरज्रान् रेजमानाँ अधारयद् द्यौः क्रन्ददन्तरिक्षाणि कोपयत्।
समीचीने धिषणे वि ष्कभायति वृष्णः पीत्वा मद उक्थानि शंसति।।८।।

परमेश्वर ने (अज्रान्) गतिमान्, चञ्चल और (रेजमानान्) कम्पित (गिरीन्) पर्वतों को (अधारयत्) अपने-अपने स्थानों में सुदृढ़ किया। परमेश्वर द्वारा (द्यौः) द्युलोक (क्रन्दत्) नानाविध क्रन्दनोंवाला हुआ। परमेश्वर ने (अन्तरिक्षाणि) अन्तरिक्षस्थ वायु, मेघ, बिजुली आदि को (कोपयत्) प्रकुपित किया। परमेश्वर (धिषणे) द्युलोक और भूलोक को (विष्कभायति) थाम रहा है, (समीचीने) अतः ये दोनों समीचीन अवस्था में हैं। तत्पश्चात्, अर्थात् द्युलोक और भूलोक के समीचीन अवस्था में आने के पश्चात् (वृष्णः) भक्तिरस की वर्षा करनेवाले उपासक के भक्तिरस को (पीत्वा) पीकर, स्वीकार कर, (मदे) और प्रसन्नता में आने पर, उपासक के प्रति (उक्थानि) वैदिक-सूक्तों का (शंसति) कथन परमेश्वर करता है।

[मन्त्र में जगदुत्पत्ति की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं का वर्णन हुआ है, और जगत् के समीचीन अवस्था में आ जाने पर आदि-ऋषियों को वेदज्ञान देने का वर्णन हुआ है। देखो—मन्त्र-संख्या (३७८ तथा ३८८)। मन्त्र का अभिप्राय है कि—(१) पृथिवी सूर्य से पैदा हुई। तब पृथिवी अग्निमय थी, जैसे कि सूर्य अभी तक प्रायः अग्निमय है। सूर्य के आकर्षण और पृथिवी के अग्निमय होने के कारण पृथिवी पर ऊंची-ऊंची आग्नेय लहरें उठती थीं। पृथिवी शनैः-शनैः ठण्डी होती गई और द्रवावस्था में आई, तब पृथिवी से द्रवावस्था के पार्थिवतत्त्वों की लहरें उठती रहीं, जैसे कि जलीय-समुद्र से जलीय-लहरें उठा करती हैं। पृथिवी और ठण्डी हुई और दलदल की अवस्था में आई। तब इससे दलदल की सी घनी लहरें उठती रहीं। ये लहरें आकाश में उठकर पृथिवी के पृष्ठ की अपेक्षा अधिकाधिक ठण्डी होती गईं, और भूपृष्ठ भी अधिकाधिक ठण्डा होता गया, और समयानुसार दलदली लहरें पर्वतों के रूप में भूपृष्ठ पर स्थिर हो गईं। लहरों की अवस्था में जो पार्थिव-तत्त्व पहले भूपृष्ठ की आग्नेय, तथा द्रवावस्था तथा

दलदली अवस्था में वायु के प्रबल वेगों के कारण चलायमान तथा अपना-अपना स्थान बदलते रहते थे, उन्हें मन्त्र में "अज्रान्" तथा "रेजमानान्" शब्दों द्वारा सूचित किया है। इसी भाव को 'येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा' (यजु० ३२।६) द्वारा भी सूचित किया है।

(२) पृथिवी पर अभी जल न था। पृथिवी के वायुमण्डल में दूर दूर तक आक्सीजन तथा हाइड्रोजन गैसें फैली हुई थीं। बिजुलियां खूब चमकती थीं। इस कारण आक्सीजन तथा हाइड्रोजन का परस्पर रासायनिक मेल होता रहा, और वायुमण्डल में जल-संग्रह होता रहा। इस अवस्था की वैद्युत-चमकों और वैद्युत-कड़ाकों का वर्णन "द्यौः क्रन्दत्" शब्दों द्वारा मन्त्र में हुआ है।

(३) पृथिवी के वायुमण्डल में जब जल की भाप घनी होती गई, तो प्रभूत मात्रा में मेघ बनें, और इनसे सतत-धाराओं के रूप में वर्षा होती रही। मेघों के उमड़ने, मेघीय हवाओं के प्रबल प्रवाहों, और मेघीय विद्युत् की चमकों और गर्जनाओं को "अन्तरिक्षाणि कोपयत्" शब्दों द्वारा सूचित किया है।

(४) उग्र वर्षा के कारण पृथिवी ठण्डी होती गई। पृथिवी पर जल-संग्रह हुआ। नदियां बहने लगीं, तथा समुद्र बनें, और शनैः-शनै घास-पात, तथा ओषधियां वनस्पतियां आदि पैदा हुईं। इस अवस्था को मन्त्र में "समीचीने धिषणे" शब्दों द्वारा सूचित किया है।

(५) कालान्तर में जब मनुष्य-सृष्टि हुई, तब परमेश्वर ने मानसिक पुत्रों को पैदा किया, जो कि आदि के चार ऋषि थे, और इनके द्वारा वैदिक सूक्तियों का प्रचार और प्रसार हुआ। इस अवस्था को मन्त्र में "उक्थानि शंसति" द्वारा वर्णित किया है।

९१०. इमं बिभर्मि सुकृतं ते अङ्कुशं येनारुजासि मघवञ्छफारुजः।
अस्मिन्त्सु ते सवने अस्त्वोक्यं सुत इष्टौ मघवन् बोध्याभगः ॥९॥

हे परमेश्वर! (सुकृतम्) प्रजा को सुकर्मी करनेवाले, (ते) आपके (इमम् अङ्कुशम्) इस न्यायाङ्कुश को (बिभर्मि) मैं अपने जीवन में धारण करता हूं, (येन) जिस न्यायाङ्कुश द्वारा (मघवन्) हे ऐश्वर्यशालिन्! (शफारुजः) गौ आदि के खुर के स्पर्शमात्र से जैसे खुम्भ नष्ट हो जाती है, वैसे आप दुष्कर्मियों को (आ रुजासि) सम्पूर्णतया नष्ट-भ्रष्ट कर देते

हैं। (मघवन्) हे ऐश्वर्यशालिन्! (अस्मिन् सवने) इस भक्तिरसमय-उपासना-यज्ञ में (ते) आपका (सु ओक्यम्) उत्तम निवास (अस्तु) हो, और (इष्टौ) इस उपासना-यज्ञ में (सुते) प्रकट हुए भक्तिरस के आप (आ भगः) पूर्णतया भागी बनिये, और (बोधि) हमारी भावनाओं और इच्छाओं को जानिये।

९११. मोभिष्टरेमामतिं दुरेवां यवेन क्षुधं पुरुहूत विश्वाम्।
वयं राजभिः प्रथमा धनान्यस्माकेन वृजनेना जयेम ॥१०॥

देखो—मन्त्र-संख्या (९६ तथा ५५६)।

९१२. बृहस्पतिर्नः परि पातु पश्चादुतोत्तरस्मादधरादघायोः।
इन्द्रः पुरस्तादुत मध्यतो नः सखा सखिभ्यो वरिवः कृणोतु ॥११॥

देखो—मन्त्र-संख्या (९७ तथा ५५७)।

सूक्त ९५

१ गृत्समदः; २-४ सुदाः पैजवनः। इन्द्रः। १ अष्टिः, २-४ शक्वरी।

९१३. त्रिकद्रुकेषु महिषो यवाशिरं तुविशुष्मस्तृपत् सोममपिबद् विष्णुना सुतं यथावशत्। स ईं ममाद महि कर्म कर्तवे महामुरुं सैनं सश्चद् देवो देवं सत्यमिन्द्रं सत्य इन्दुः ॥१॥

(त्रिकद्रुकेषु) पृथिवी के तीन स्थानों—जल, स्थल, पर्वत में, अथवा पार्थिव शरीर के शरीर-मन-आत्मा में (विष्णुना) व्यापक परमेश्वर की कृपा से (सुतं सोमम्) निष्पादित भक्तिरस को,—(यवाशिरम्) जो भक्तिरस कि राग-द्वेष की भावनाओं से रहित होकर दृढ़ाभ्यास और वैराग्य की भावनाओं द्वारा परिपक्व किया गया है,—उस भक्तिरस को (महिषः) महान् तथा (तुविशुष्मः) महाबली परमेश्वर ने (यथावशत्) यथेच्छ (अपिबत्) पिया है, (तृपत्) और तृप्त हो गया है, (सः) उस भक्तिरस ने (ईम्) इस (महाम्) महान् तथा (उरुम्) सर्वाच्छादक अर्थात् सर्व-व्यापक परमेश्वर को (ममाद) प्रसन्न कर दिया है (महि कर्म कर्तवे) ताकि परमेश्वर पाप-वृत्र के वध का महाकर्म वा मोक्षप्रदानरूपी कर्म करे। (सः) वह (देवः) दिव्य (सत्यः) सत्पुरुषों द्वारा सेवित और, (इन्दुः)

चन्द्रसम आह्लादकारी भक्तिरस, (एनम्) इस (देवम्) देवाधिदेव, (सत्यम् इन्द्रम्) सनातन परमेश्वर को (मश्चत्) प्राप्त होता है।

[कद्रुक="इयं पृथिवी कद्रूः" (श० ब्रा० ३।६।२।२)। द्रु=गतौ; कद्रु=कुत्सित गतिवाली; कद्रुक=और अल्प गतिवाली। पृथिवी परिक्रमा कर रही है सूर्य की। इस परिक्रमा की अनुभूति हमें नहीं हो रही। इसलिये पृथिवी को "कद्रुक" कहा है, अर्थात् अल्प गतिवाली, और वह अल्पगति भी कुत्सित, न अनुभूत होनेवाली। त्रिकद्रुक=शरीर, मन, आत्मा (ऋ० २।११।१७, महर्षि दयानन्द)। यवाशिरम्=यु अमिश्रण; यथा—"यवोऽसि यवयास्मद् द्वेषो यवयारातीः" (यजु० ५।२६); आशिर=श्रा पाके। सत्यः=सत्सु तायते (निरु० ३।३।१३)।]

६१४. प्रो ष्वस्मै पुरोरथमिन्द्राय शूषमर्चत ।
अभीके चिदु लोककृत् संगे समत्सु वृत्रहास्माकं बोधि चोदिता
नभन्तामन्यकेषां ज्याका अधि धन्वसु ॥२॥

हे उपासको ! (अस्मै इन्द्राय) इस परमेश्वर के प्रति, तुम अपने (पुरोरथम्) पुरस्कृत शरीर-रथों को, और (शूषम्) शक्तियों को (सु) पूर्णरूप में तथा सम्यक् विधि से (उ) अवश्य (प्र अर्चत) प्रकृष्ट मात्रा में समर्पित कर दो। क्योंकि परमेश्वर (अभीके चित्) हृदय के समीपवर्ती होकर (उ) अवश्य (लोककृत्) आलोक पैदा कर देता है। (संगे) और उसके मेल हो जाने पर (समत्सु) देवासुर-संग्रामों में वह (वृत्रहा) हमारे पाप-वृत्रों का हनन कर देता है, और (चोदिता) हमें प्रेरणाएं देता है, और (अस्माकम्) हमारी कामनाओं को (बोधि) अवगत कर लेता है, ये कामना कि (अन्यकेषाम्) दिव्य भावनाओं से भिन्न आसुरी भावनाओं के (धन्वसु) धनुषों पर चढ़ी (ज्याकाः) डोरियां (नभन्ताम्) टूट-फूट जांय।

६१५. त्वं सिन्धूँरवासृजोऽधराचो अहन्नहिम् ।
अशत्रुरिन्द्र जज्ञिषे विश्वं पुष्यसि वार्यं तं त्वा परि ष्वजामहे
नभन्तामन्यकेषां ज्याका अधि धन्वसु ॥३॥

हे परमेश्वर ! (त्वम्) आप ने (अहिम्) अन्तरिक्षवर्ती मेघ का (अहन्) हनन किया है, और (सिन्धून्) स्यन्दनशील मेघीय जल-धाराओं का (अवासृजः) नीचे की ओर सर्जन किया है, और उन्हें (अधराचः) नीचे पृथिवी पर बहाया है। (इन्द्र) हे परमेश्वर ! आप (अशत्रुः) किसी के भी शत्रु नहीं हैं, (जज्ञिषे) यह गुण आपका स्वाभाविक है। आप (विश्वम्) सब (वार्यम्) वरण करने योग्य सद्गुणों का (परि पुष्यसि) परिपोषण करते रहते हैं। इसलिये (तं त्वा) उस आपका (परिष्वजामहे) हम परिष्वङ्ग करते हैं, आलिङ्गन करते हैं। (नभन्ताम्…… ‥) मन्त्र-संख्या ६१४ के सदृश।

[उपासक समाधि में, शरीर की सुधबुध से रहित होकर जब निज आत्मरूप से परमेश्वर में लीन हो जाता है, तब यह लीन होना ही आलिङ्गन है। यह आत्मिक-आलिङ्गन है। यथा—"उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनात्मानमभि सं विवेश" (यजु० ३२।११), अर्थात् सत्य के प्रथम-जनयिता का उपस्थान करके, उपासक आत्मस्वरूप से परमात्मा में प्रवेश पा जाता है, यही परिष्वङ्ग अर्थात् आलिङ्गन है। वार्यम्=अथवा वारि अर्थात् जल द्वारा पोषणयोग्य सभी प्रकार के पदार्थों का, ओषधि आदि का परिपोषण परमेश्वर करता है।]

६१६. वि षु विश्वा अरातयोऽर्यो नशन्त नो धियः ।
अस्तासि शत्रवे वधं यो न इन्द्र जिघांसति या ते रातिर्ददिर्वसु
नभन्तामन्यकेषां ज्याका अधि धन्वसु ॥४॥

हे परमेश्वर ! (विश्वा अरातयः) सब प्रकार की अदान-भावनाएं (अर्यः) अरिरूप हैं, शत्रुरूप हैं, आपकी कृपा से ये (सु) सम्यक् प्रकार से (वि नशन्त) हम से विगत हो जांय, दूर हट जांय, और (नः) हमारी (धियः) बुद्धियां, कर्म तथा ध्यानवृत्तियां (वि) विशेषरूप में (नशन्त) आपको व्याप्त कर लें। हे परमेश्वर ! (यः) जो अदान आदि भाव (नः) हमारी (जिघांसति) हिंसा करने में उन्मुख होता है, उस (शत्रवे) हमारे शत्रु के प्रति आप (वधम्) अपना वज्र (अस्ता असि) प्रहार करते हैं। हे परमेश्वर ! (ते) आपका (या) जो (रातिः) दान है, वह (वसु) श्रेष्ठ दान (ददिः) सब के प्रति दान के योग्य है। (नभन्ताम् ‥) मन्त्र-संख्या ६१४ के सदृश।

सूक्त ६६ (क)

१-५ पूरणः; ६-१० यक्ष्मनाशनः; ११-१६ रक्षोहाः; १७-२३ विवृहा; २४ प्रचेताः । १-५ इन्द्रः; ६-१०, १७-२३ यक्ष्मनाशनम्; ११-१६ गर्भसंस्रावः; २४ दुःष्वप्नघ्नः । १-१० त्रिष्टुप्; ११-२४ अनुष्टुप् ।

६१७. तीव्रस्याभिवयसो अस्य पाहि सर्वरथा वि हरी इह मुञ्च ।
इन्द्र मा त्वा यजमानासो अन्ये नि रीरमन् तुभ्यमिमे सुतासः ॥१॥

(इन्द्र) हे परमेश्वर ! (तीव्रस्य) तीव्रसंवेगी और (अभिवयसः) मानो अपने पूर्णयौवन को प्राप्त (अस्य) इस मेरे भक्तिरस की (पाहि) आप रक्षा कीजिये, और (सर्वरथा) सब के शरीर-रथों में जुते हुए (हरी) विषयों में हरण करनेवाले द्विविध इन्द्रियाश्वों को, (इह) मेरे इस जीवन में, (वि मुञ्च) विषयों में हरण करने से वियुक्त कर दीजिये, छुड़ा दीजिये । हे परमेश्वर ! (अन्ये) मुझ से भिन्न, (यजमानासः) उपासना-यज्ञों के यजन करनेवाले उपासक भी, (त्वा=त्वां विहाय) आप का त्याग कर, (मा नि रीरमन्) विषयों में रमण नहीं करते, क्योंकि (इमे) ये भक्तिरस (तुभ्यम्) आप के निमित्त (सुतासः) इन सब यजमानों में प्रकट हो चुके हैं ।

६१८. तुभ्यं सुतास्तुभ्यमु सोत्वासस्त्वां गिरः श्वात्र्या आ ह्वयन्ति ।
इन्द्रेदमद्य सवनं जुषाणो विश्वस्य विद्वाँ इह पाहि सोमम् ॥२॥

(इन्द्र) हे परमेश्वर ! (सुताः) उत्पन्न भक्तिरस (तुभ्यम्) आप के लिये हैं, (तुभ्यम् उ) आप के लिये ही (सोत्वासः) भविष्य में उत्पन्न भक्तिरस होंगे । (श्वात्र्याः) शीघ्र आप तक पहुंचनेवाली, अर्थात् हमारी हार्दिक (गिरः) स्तुति और प्रार्थना की वाणियां (त्वाम्) आप का हो (आ ह्वयन्ति) आह्वान करती हैं । हे परमेश्वर ! आप (विश्वस्य विद्वान्) विश्ववेत्ता हैं, (इह) इस जीवन में (सोमम्) हमारे भक्तिरस की (पाहि) रक्षा कीजिये, और (अद्य) आज (इदम्) इस (सवनम्) भक्तिरसवाले यज्ञ का (जुषाणः) प्रीतिपूर्वक सेवन कीजिये ।

[श्वात्र्याः=शु (आशु)+अत् (सातत्यगमने)+रक् (उणादि कोष २।१३)+य, अथवा ई (स्त्रियाम्) ।]

६१९. य उशता मनसा सोममस्मै सर्वहृदा देवकामः सुनोति ।
न गा इन्द्रस्तस्य परा ददाति प्रशस्तमिच्चारुमस्मै कृणोति ॥३॥

(देवकाम) परमेश्वर-देव की प्राप्ति की कामनावाला (यः) जो व्यक्ति, (उशता मनसा) उत्कट-अभिलाषावाले मन से, तथा (सर्वहृदा) अपनी सब हार्दिक-भावनाओं से, (अस्मै) इस परमेश्वर के लिये (सोमम्) भक्तिरस की (सुनोति) भेंट देता है, (इन्द्रः) परमेश्वर (तस्य) उस की (गाः) प्रार्थना-वाणियों का (न पराददाति) तिरस्कार नहीं करता, अपि तु (अस्मै) इस उपासक के लिये, (चारुम्) रुचिकर और (प्रशस्तम्) प्रशंसनीय फल, (कृणोति) प्रदान करता है ।

६२०. अनुस्पष्टो भवत्येषो अस्य यो अस्मै रेवान् न सुनोति सोमम् ।
निररत्नौ मघवा तं दधाति ब्रह्मद्विषो हन्त्यनानुदिष्टः ॥४॥

(यः) जो (रेवान्) धनिक व्यक्ति, (अस्मै) इस परमेश्वर के लिये, (सोमम्) भक्तिरस (न सुनोति) नहीं रखता, अर्थात् भक्ति नहीं करता, (एषः) यह परमेश्वर (अस्य) इस भक्तिहीन के लिये (अनुस्पष्टः) प्रकट नहीं (भवति) होता; (मघवा) ऐश्वर्यशाली परमेश्वर (तम्) उसे (निररत्नौ) अपने से कुछ दूर ही (दधाति) रखता है; (ब्रह्मद्विषः) और जो ब्रह्मद्वेषी हैं उनका, (अनानुदिष्टः) विना किसी द्वारा निर्दिष्ट किये (हन्ति) स्वयं हनन करता है ।

[व्यक्ति तीन प्रकार के होते हैं,—भक्त, भक्तिविहीन, और भक्तिद्वेषी । मन्त्र में भक्तिविहीन और भक्तिद्वेषियों का वर्णन है । गरीब व्यक्ति, जो कि आजीविका के लिये दिनभर लगा रहता है,और थकामान्दा रात को सो जाता है, वह फिर भी क्षमा योग्य है । परन्तु धनिक व्यक्ति, जिसे कि आजीविकार्जन की चिन्ता नहीं, वह भी यदि भक्ति के लिये तत्पर नहीं होता, तो परमेश्वर उस के प्रति प्रकट नहीं होता, उसे अपने से कुछ दूर ही रखता है । परन्तु जो भक्तिद्वेषी हैं,और अनाचार में लिप्त हैं, उन का विनाश तो उन के कर्मानुसार स्वतःसिद्ध है । [अनुस्पष्टः=अन+उ+स्पष्टः। निररत्नौ =अरत्नि पैमाना है,—कोहनी से लेकर खुले हाथ की छोटी अंगुली तक । अभिप्राय है "कुछ दूर" नकि बहुत दूर । ऐसे

धनिक व्यक्ति, किसी भी चोट पर, भक्ति-परायण हो सकते हैं । परन्तु जो भक्ति के विद्वेषी हैं, ऐसे व्यक्ति आचार-विहीन होकर नष्ट ही हो जाते हैं, उनका भविष्य अन्धकारमय होता है। अनानुदिष्टः=अन्+आ+अनुदिष्टः। अनुस्पष्टः=अन्+उ+स्पष्टः; अथवा अनु (हीन)+स्पष्टः=स्पष्टता से विहीन ।]

९२१. अश्वायन्तो गव्यन्तो वाजयन्तो हवामहे त्वोपगन्तवा उं ।
आभूषन्तस्ते सुमतौ नवायां वयमिन्द्र त्वा शुनं हुवेम ॥५॥

(अश्वायन्तः) अश्व चाहते हुए, (गव्यन्तः) गौएं चाहते हुए, (वाजयन्तः) आत्मिक बल चाहते हुए हम, हे परमेश्वर ! (त्वा) आप का (हवामहे) आह्वान करते हैं, ताकि हम (उप गन्तवे) आप के समीप पहुंच सकें । (ते) आप की (नवायाम्) सदा नवीन (सुमतौ) वैदिक सुमति में (आभूषन्तः) अपने आप को विभूषित करते हुए हम (इन्द्र) हे परमेश्वर ! (शुनं त्वा) सुखस्वरूप आप का (हुवेम) सदा आह्वान करते रहें ।[मन्त्र में अभ्युदय और निःश्रेयस का समन्वय किया गया है । इस लिये अश्व प्राप्ति और गौओं की प्राप्ति के साथ-साथ आध्यात्मिक प्रार्थना भी हुई है । शुनम्=सुखम् (निघ० ३।६) ।]

[ख]

९२२. मुञ्चामि त्वा हविषा जीवनाय कमज्ञातयक्ष्मादुत राजयक्ष्मात् ।
ग्राहिर्जग्राह यद्येतदेनं तस्या इन्द्राग्नी प्र मुमुक्तमेनम् ॥६॥

हे रोगी ! (जीवनाय) तेरे जीने के लिये, (त्वा) तुझे (अज्ञात-यक्ष्मात्) जिस के लक्षण अभी प्रकट नहीं हुए ऐसे यक्ष्म-रोग से, तथा (राजयक्ष्मात्) प्रकट हुए यक्ष्मरोग से, (हविषा) यक्ष्मा की निवारक हवि द्वारा, (मुञ्चामि) छुड़ाता हूं । हे सम्बन्धी-जनो ! (यदि) अगर (एनम्) इस तुम्हारे सम्बन्धी को (ग्राहिः) जकड़नेवाले यक्ष्मरोग ने (जग्राह) पकड़ लिया है, जकड़ लिया है, तोभी (एतत्) इस हवि द्वारा, (तस्याः) उस रोग से (एनम्) इस रोगी को (इन्द्राग्नी) परमेश्वरीय-कृपा तथा यज्ञाग्नि (प्र मुमुक्तम्) पूर्णतया छुड़ा देते हैं ।

[यक्ष्मा-रोग-निवारक ओषधियों की हवि अग्नि में देते रहने से यक्ष्मरोग से छुटकारा हो जाता है । परन्तु इस सम्बन्ध में एतत्सम्बन्धी प्रार्थनाएं भी परमेश्वर से करनी चाहियें ।]

९२३. यदि क्षितायुर्यदि वा परेतो यदि मृत्योरन्तिकं नीत एव ।
तमा हरामि निर्ऋतेरुपस्थादस्पार्शमेनं शतशारदाय ॥७॥

(यदि क्षितायुः) यदि रोगी समझता है कि उस की आयु अर्थात् जीवन-काल समाप्त हो गया है, (यदि वा) अथवा (परेतः) जीवन से रोगी यदि पराङ्मुख हो गया है, और (यदि) अगर (मृत्योः) मृत्यु के (अन्तिकम्)समीप वह (नीत एव) पहुंच ही गया है, तब भी मैं चिकित्सक (निर्ऋतेः) रोगजन्य कष्ट की (उपस्थात्) गोद से (तम्) उसे (आहरामि) छीन लाता हूं; मैंने (एनम्) इस रोगी को, (शतशारदाय) सौ वर्षों तक जीने के लिये, (अस्पार्शम्) हस्तस्पर्श कर दिया है ।

[मन्त्र ९२२ में रोगी को रोग से छुड़ाने के दो उपाय दर्शाए हैं—(१)उचित ओषधियों को अग्नि में डाल कर, निकले धूम्र का पान । इसके द्वारा ओषधि का सूक्ष्मांश फेफड़ों में पहुंचकर, रक्तप्रवाह द्वारा, रोग का शीघ्र विनाश करता है । साथ ही गृहशुद्धि भी हो जाती है । (२) परमेश्वरीय-प्रार्थना । मन्त्र ९२३ में हस्तस्पर्श-चिकित्सा का वर्णन हुआ है । हस्तस्पर्श-चिकित्सा का उत्तम वर्णन निम्नलिखित मन्त्रों में भी हुआ है । यथा—

'अयं मे हस्तो भगवानयं मे भगवत्तरः ।
अयं मे विश्वभेषजोऽयं शिवाभिमर्शनः ॥
हस्ताभ्यां दशशाखाभ्यां जिह्वा वाचः पुरोगवी ।
अनामयित्नुभ्यां हस्ताभ्यां ताभ्यां त्वाभि मृशामसि ॥'

अथर्व० ४।१३।६,७ ॥

इन दो मन्त्रों का अंग्रेजी अनुवाद—"This is my fortunate hand, this my more fortunate one, this my all-healing one, this is of propitious touch with two ten-branched hands—the tongue is forerunner of voice—with two disease-removing hands: with them do we touch thee."

[इन दो मन्त्रों में हस्तस्पर्श के साथ-साथ, जिह्वा द्वारा बोल कर रोगी को रोगोन्मुक्ति के आश्वासन भी देते चाहियें । मन्त्र ९२३ में यह भी दर्शाया है कि जीवन की कोई नियत अवधि नहीं होती । स्वास्थ्य के नियमों के पालन से तथा यथोचित उपचार द्वारा आयु १०० वर्षों की सम्भव है ।]

६२४. सहस्राक्षेण शतवीर्येण शतायुषा हविषाहार्षमेनम् ।
इन्द्रो यथैनं शरदो नयात्यति विश्वस्य दुरितस्य पारम् ॥८॥

(सहस्राक्षेण) हजारों रोगों का क्षय करनेवाली, (शतायुषा) १०० वर्षों की आयु करनेवाली, (शतवीर्येण) १०० वर्षों तक बल प्रदान करनेवाली (हविषा) हवि द्वारा, (एनम्) इस रोगी को (आहार्षम्) मैं मृत्यु के फंदे से छीन लाया हूं। (यथा) ताकि (इन्द्रः) परमेश्वर (एनम्) इसे (शरदः) सौ वर्षों तक (नयाति) पहुंचा दे, और इसे (विश्वस्य दुरितस्य) सब कष्टों के (पारम् अति) पार कर दे ।

[अति=अति नयाति । "सहस्राक्षेण" द्वारा यह भी सूचित किया है कि हवि-चिकित्सा द्वारा एक साथ हजारों रोगियों के समान-रोग की चिकित्सा हो सकती है। क्योंकि अग्नि में आहुत हवि के सूक्ष्मांश हजारों रोगियों के समीप एक साथ पहुंच सकते हैं ।]

६२५. शतं जीव शरदो वर्धमानः शतं हेमन्ताञ्छतमु वसन्तान् ।
शतं त इन्द्रो अग्निः सविता बृहस्पतिः शतायुषा हविषाहार्षमेनम् ॥९॥

(वर्धमानः) वृद्धि को प्राप्त होता हुआ तू (शतं शरदः जीव) सौ शरदृतुओं तक जीवित रह, (शतं हेमन्तान्) सौ हेमन्त ऋतुओं तक, (उ शतं वसन्तान्) और सौ वसन्त ऋतुओं तक जीवित रह । (इन्द्रः) परमेश्वर, (अग्निः) यज्ञियाग्नि, (सविता) सूर्य, (बृहस्पतिः) वायु तुझे सौ वर्षों तक जीवित रखें । मैं चिकित्सक (शतायुषा हविषा) सौ वर्षों तक जीवित रखनेवाली हवि द्वारा (एनम्) इस रोगी को (आहार्षम्) मृत्यु से छीन लाया हूं ।

["अयं वै बृहस्पतिर्योऽयं वायुः पवते" (श० ब्रा० १४।२।२।१०)।]

६२६. आहार्षमविदं त्वा पुनरागाः पुनर्णवः ।
सर्वाङ्ग सर्वं ते चक्षुः सर्वमायुश्च तेऽविदम् ॥१०॥

(सर्वाङ्ग) हे सब स्वस्थ अङ्गोंवाले ! (आहार्षम्) मैं तुझे मृत्यु से छीन लाया हूं, (त्वा) तुझे (अविदम्) मैंने पुनः पा लिया है, (पुनरागाः) तू फिर संसार में आ गया है, (पुनर्णवः) तू फिर नया हो गया है; (ते) तेरी (सर्वम्) सब (चक्षुः) दृष्टि आदि शक्तियां, और (ते) तेरी (सर्वम्)

सम्पूर्ण (आयुः) सौ वर्षों की आयु (अविदम्) तुझे, मैं चिकित्सक ने प्राप्त करा दी है ।

[ग]

६२७. ब्रह्मणाग्निः संविदानो रक्षोहा बाधतामितः ।
अमीवा यस्ते गर्भं दुर्णामा योनिमाशये ॥११॥

हे स्त्री ! (यः) जो (अमीवा) रोगोत्पादक, (दुर्णामा) दुष्परिणाम पैदा करनेवाला क्रिमि, (ते) तेरे (गर्भम्) गर्भभूत बच्चे में, तथा तेरी (योनिम्) योनि में (आशये) गुप्तरूप में शयन कर रहा है, प्रविष्ट हुआ-हुआ है उसे, (इतः) इस स्थान से, (रक्षोहा) कृमिरूप राक्षस का हनन करनेवाली (अग्निः) चित्रक अर्थात् चीता नामवाली ओषधि, (ब्रह्मणा) उदुम्बर के साथ (संविदानः) मिल कर, (बाधताम्) हटाए, नष्ट करे ।

[अमीवा=Amoeba । ब्रह्म=उदुम्बरः ब्रह्मवृक्षः । अग्निः= चित्रकः अनलनामा (भावप्रकाश) । अमीवा=अम (रोगे) ।]

६२८. यस्ते गर्भममीवा दुर्णामा योनिमाशये ।
अग्निष्टं ब्रह्मणा सह निष्क्रव्यादमनीनशत् ॥१२॥

हे स्त्री ! (यः) जो (अमीवा) रोगोत्पादक, (दुर्णामा) दुष्परिणाम पैदा करनेवाला कृमि, (ते) तेरे (गर्भम्) गर्भस्थ बच्चे में, तथा तेरी (योनिम्) योनि में (आ शये) गुप्तरूप में शयन कर रहा है, प्रविष्ट हुआ-हुआ है, (तम्) उस (क्रव्यादम्) कच्चा-मांस खानेवाले क्रिमि को, (अग्निः) चित्रक ओषधि ने (ब्रह्मणा सह) उदुम्बर ओषधि के साथ मिल कर (निः अनीनशत्) पूर्णतया नष्ट कर निकाल दिया है ।

६२९. यस्ते हन्ति पतयन्तं निषत्स्नुं यः सरीसृपम् ।
जातं यस्ते जिघांसति तमितो नाशयामसि ॥१३॥

(यः) जो कृमि (ते) तेरे गर्भाशय में (पतयन्तम्) गिरते हुए वीर्य को, (निषत्स्नुम्) तथा स्थित हुए गर्भ को स्रावित कर उसे (हन्ति) नष्ट करता है, और (यः) जो कृमि (सरीसृपम्) गर्भाशय में सरकते हुए

गर्भ को नष्ट करता है, और (यः) जो कृमि (ते) तेरे (जातम्) उत्पन्न हुए बच्चे की (जिघांसति) हिंसा करता है, उसे (इतः) यहां से (नाशयामसि) हम नष्ट करते हैं।

[निषत्स्नु=नि+सद्+स्नु (प्रस्रवणे)।]

९३०. यस्त ऊरू विहरत्यन्तरा दम्पती शयै।
योनिं यो अन्तरारेल्हि तमितो नाशयामसि ॥१४॥

हे स्त्री! (यः) जो रोगोत्पादक कृमि (ते) तेरी (ऊरू) दो जांघों के (अन्तरा) बीच अर्थात् मध्य में विद्यमान योनि में (विहरति) विचरता है, अथवा जो रोगोत्पादक कृमि (दम्पती) पति-पत्नी के सहवास (अन्तरा) में (आ शये) आकर मानो कुछ काल तक सोया सा रहता है, और कालान्तर में जिस के लक्षण प्रकट होते हैं; या (यः) जो रोगोत्पादक कृमि (अन्तरा) तेरे गर्भाशय में घुसा हुआ (आरेल्हि) तेरे गर्भ को चट कर देता है, (तम्) उस कृमि को (इतः) इन उपर्युक्त ओषधियों द्वारा (नाशयामसि) हम चिकित्सक विनष्ट करते हैं।

[सिफ़लिस या गनोरिया आदि रोग या तो पत्नी में हो, या पति के सहवास द्वारा पति से प्राप्त हो,—उस के विनाश का वर्णन मन्त्र में हुआ है।]

[घ]

९३१. यस्त्वा भ्राता पतिर्भूत्वा जारो भूत्वा निपद्यते।
प्रजां यस्ते जिघांसति तमितो नाशयामसि ॥१५॥

हे स्त्री! (यः) जो (जारः) व्यभिचारी पुरुष, (भ्राता भूत्वा) धोखे का भाई बन कर, और (पतिः भूत्वा) धोखे का पति बन कर, (त्वा निपद्यते) तुझ पर बलात्कार करता है, और इस प्रकार (यः) जो (ते) तेरी (प्रजाम्) गर्भस्थ-सन्तान का (जिघांसति) गर्भपातरूप में हनन करता है,(तम्) उसे (इतः) इस जीवन से (नाशयामसि) हम राज्याधिकारी विनष्ट कर देते हैं।

९३२. यस्त्वा स्वप्नेन तमसा मोहयित्वा निपद्यते।
प्रजां यस्ते जिघांसति तमितो नाशयामसि ॥१६॥

हे स्त्री! (यः) जो व्यभिचारी पुरुष (स्वप्नेन) स्वापन ओषधि द्वारा, या (तमसा) अन्धकार में, (त्वा) तुझे (मोहयित्वा) ज्ञानरहित करके (निपद्यते) तुझ पर बलात्कार करता है, और इस प्रकार (यः) जो (ते) तेरी (प्रजाम्) गर्भस्थ-सन्तान का (जिघांसति) गर्भपात द्वारा हनन करना चाहता है, या हनन करता है, (तम्) उसे (इतः) इस जीवन से (नाशयामसि) हम राज्याधिकारी विनष्ट कर देते हैं।

[ङ]

९३३. अक्षीभ्यां ते नासिकाभ्यां कर्णाभ्यां छुबुकादधि।
यक्ष्मं शीर्षण्यं मस्तिष्काज्जिह्वाया वि वृहामि ते ॥१७॥

हे रोगी! (ते) तेरी (अक्षीभ्याम्) दोनों आंखों से, (नासिकाभ्याम्) दोनों नासा-छिद्रों से, (कर्णाभ्याम्) दोनों कानों से, (छुबुकात् अधि) निचले जबाड़े से, (मस्तिष्कात् अधि) मस्तिष्क से (जिह्वायाः) जिह्वा से (ते) तेरे (शीर्षण्यं यक्ष्मम्) शिरःसंस्थान सम्बन्धी यक्ष्मरोग को (वि वृहामि) मैं चिकित्सक निकालता हूं।

[छुबुक=चिबुक। चिबुक-यक्ष्मा=निचले जबाड़े का गल जाना, नर्म पड़ जाना। इन अंगों के यक्ष्मा को "शीर्षण्य-यक्ष्म" कहा है।]

९३४. ग्रीवाभ्यस्त उष्णिहाभ्यः कीकसाभ्यो अनूक्यात्।
यक्ष्मं दोषण्यमंसाभ्यां बाहुभ्यां वि वृहामि ते ॥१८॥

हे रोगी! (ते) तेरे (ग्रीवाभ्यः) गले के भागों से, (उष्णिहाभ्यः) कण्ठ के स्निग्ध भागों से, (कीकसाभ्यः) हंसली के भागों से, (अनूक्यात्) पृष्ठवंश के मूल अर्थात् उपरि भाग से, (अंसाभ्याम्) दोनों कन्धों से, (बाहुभ्याम्) दोनों बाहुओं से (ते) तेरे (दोषण्यं यक्ष्मम्) भुजा-संस्थान सम्बन्धी रोग को दूर करता हूं।

[ग्रीवाभ्यः=गले की हड्डियों से। उष्णिहाभ्यः=उ+स्निह (स्नेहने), कण्ठ-नाली कफ़ के कारण स्निग्ध रहती है। अनूक्य=अनु (एक-दूसरे के पीछे)+उच् समवाये, परस्पर लगी हुई छोटी-छोटी हड्डियां, अर्थात् पृष्ठवंश की।]

६३५. हृदयात् ते परि क्लोम्नो हलीक्ष्णात् पार्श्वाभ्याम् ।
यक्ष्मं मतस्नाभ्यां प्लीह्नो यक्नस्ते वि वृहामसि ॥१९॥

हे रोगी ! (ते) तेरे (हृदयात्) हृदय से, (क्लोम्नः परि) दाहिने फेफड़े से, (हलीक्ष्णात्) बाएं फेफड़े से, (पार्श्वाभ्याम्) दोनों कोखों से, (मतस्नाभ्याम्) दोनों गुर्दों से, (प्लीह्नः) तिल्ली से, (यक्नः) यकृत् अर्थात् गुर्दे से (यक्ष्मम्) यक्ष्मा रोग को (विवृहामसि) हम दूर करते हैं।

[क्लोमा="वामतः प्लीहा फुफ्फुसः, दक्षिणतो यकृत् क्लोम च" (सुश्रुत शरीर० ४।३७)। मतस्नाभ्याम्=मद से शोधन करनेवाले, शारीरिक मादक तत्त्वों को मूत्र द्वारा निकाल कर शरीर की शुद्धि करनेवाले; मत (मद)+स्ना (शौचे)। प्लीहा=Spleen। परिक्लोमा=Ganerea।]

६३६. आन्त्रेभ्यस्ते गुदाभ्यो वनिष्ठोरुदरादधि ।
यक्ष्मं कुक्षिभ्यां प्लाशेर्नाभ्या वि वृहामि ते ॥२०॥

हे रोगी (ते) तेरी (आन्त्रेभ्यः) आन्तों से, (गुदाभ्यः) गुदाभागों से, (वनिष्ठोः) बड़ी आन्त से, (उदरात् अधि) पेट से, (कुक्षिभ्याम्) दोनों कोखों से, (प्लाशेः) प्लाशि से, (नाभ्याः) नाभि से (ते) तेरे (यक्ष्मम्) यक्ष्मा रोग को (वि वृहामि) मैं चिकित्सक दूर करता हूं।

[प्लाशि=Flesh, या मूत्राशय। (अथर्ववेदीय चिकित्साशास्त्र, ब्रह्ममुनि परिव्राजक, दयानन्द संस्थान दिल्ली)। मूत्राशय=Bladder।]

६३७. ऊरुभ्यां ते अष्ठीवद्भ्यां पार्ष्णिभ्यां प्रपदाभ्याम् ।
यक्ष्मं भसद्यं१श्रोणिभ्यां भासदं भंससो वि वृहामि ते ॥२१॥

(ते) तेरी (ऊरुभ्याम्) जंघाओं से, (अष्ठीवद्भ्याम्) दोनों घुटनों से, (पार्ष्णिभ्याम्) दोनों एड़ियों से, (प्र पदाभ्याम्) पैर के दोनों पंजों से, (श्रोणिभ्याम्) दोनों कूल्हों से, (भंससः) गुप्त इन्द्रिय से, (भासदम्) गुप्त संस्थान सम्बन्धी रोग को, तथा (भसद्यं यक्ष्मम्) उक्त अधराङ्ग सम्बन्धी (ते) तेरे रोगों को (वि वृहामि) मैं चिकित्सक दूर करता हूं।

६३८. अस्थिभ्यस्ते मज्जभ्यः स्नावभ्यो धमनिभ्यः ।
यक्ष्मं पाणिभ्यामङ्गुलिभ्यो नखेभ्यो वि वृहामि ते ॥२२॥

(ते) तेरी (अस्थिभ्यः) हड्डियों से, (मज्जभ्यः) मज्जाओं से, (स्नावभ्यः) मांस-बन्धनियों से, (धमनिभ्यः) धमनि-नाड़ियों से, (पाणिभ्याम्) हाथों से, (अङ्गुलिभ्यः) अङ्गुलियों से, (नखेभ्यः) नखों से, (ते) तेरे (यक्ष्मम्) यक्ष्म-रोग को (वि वृहामि) मैं चिकित्सक दूर करता हूं।

[स्नाव=वे मांस-तन्तु जिनके द्वारा मांसपेशियां हड्डियों के साथ बन्धी रहती हैं। धमनि=Arteries।]

६३९. अङ्गेअङ्गे लोम्निलोम्नि यस्ते पर्वणिपर्वणि ।
यक्ष्मं त्वचस्यं ते वयं कश्यपस्य वीबर्हेण विष्वञ्चं वि वृहामसि ॥२३॥

हे रोगी ! (ते) तेरे (अङ्गे-अङ्गे) अङ्ग-अङ्ग में, (लोम्नि-लोम्नि) रोम-रोम में (पर्वणि-पर्वणि) जोड़-जोड़ में स्थित (ते) तेरे (त्वचस्यम्) त्वचा-संस्थान सम्बन्धी (यक्ष्मम्) यक्ष्म-रोग को, तथा (विष्वञ्चम्) सर्वत्र फैले यक्ष्मा रोग को, (वयम्) हम चिकित्सक, (कश्यपस्य) कश्यप के (वीबर्हेण) जड़ काट देनेवाले साधन द्वारा (वि वृहामसि) दूर करते हैं।

["कश्यप का वीबर्ह" क्या है, यह विचारणीय है। अथर्ववेदीय चिकित्साशास्त्र (स्वामी ब्रह्ममुनि जी, दयानन्द संस्थान, दिल्ली) में चन्द्रमा और सूर्य को "कश्यप" कहा है, और उनकी किरणों को "वीबर्ह" कहा है।]

६४०. अपेहि मनसस्पतेऽप क्राम परश्चर ।
परो निर्ऋत्या आ चक्ष्व बहुधा जीवतो मनः ॥२४॥

हे रोगी ! तू दृढ-संकल्प से (आ चक्ष्व) कह कि (मनसस्पते) हे मन के स्वामी बने हुए पाप ! तू (अपेहि) जुदा हो जा, (अप क्राम) हट जा, (परः चर) परे हो जा। (निर्ऋत्यै) पाप-जन्य कष्ट के प्रति भी (आ चक्ष्व) तू दृढ़-संकल्प से कह कि (परः) तू भी परे हो जा; यद्यपि (जीवतः) जीवित मनुष्य का (मनः) मन (बहुधा) बहुत प्रकार का होता है।

[चिकित्सक रोगी से कहता है कि यद्यपि जीवित मनुष्य का मन बहुत प्रकार का होता है, वह कभी पाप की ओर झुकता है और कभी पुण्य की ओर, तब भी हे रोगी ! तू मनोनिष्ठ पाप के साथ लड़, इस आसुरी प्रवृत्ति को हटाने के लिये दृढ़ संकल्प का आश्रय ले, मानसिक पाप की जड़ उखेड़ने के लिये पाप को मानसिक भूमि से उखाड़ फेंक। इसी प्रकार पापजन्य कष्टों और रोगों को दूर करने के लिये भी तू कटिबद्ध हो जा। उनके प्रति भी तू उपर्युक्त दृढ़ भावना को अपने में जागरित कर। इस प्रकार तू मानसिक पापों और तज्जन्य रोगों से छुटकारा पा लेगा। वैदिकदृष्टि में रोग प्रायः करके परिणाम हैं,—पापों के, विशेषतया मानसिक-पापों के, दुश्चिन्ताओं के। मानसिक-पापों के प्रति दृढ़-संकल्प की भावना का वर्णन निम्नलिखित मन्त्र में विशेषरूप से हुआ है। यथा—

"परोऽपेहि मनस्पाप किमशस्तानि शंससि ।
परेहि न त्वा कामये" ।। (अथर्व० ६।४५।१) ।

होम्योपेथिक चिकित्सा में रोगों की चिकित्सा के लिये, रोगी की मानसिक अवस्थाओं पर भी विशेष बल दिया है। क्योंकि मानसिक-अवस्था, भिन्न-भिन्न रोगों के उत्पादन में, एक विशेष कारण है। वर्त्तमान सूक्त में यक्ष्मा का विस्तृत वर्णन कर, और २३वें मन्त्र में "कश्यप के वीबर्ह" के पश्चात् ही जो २४वें मन्त्र में "मनसस्पति" या "मनस्पाप" का वर्णन किया है, और उसे और उस से प्रकट होनेवाले कष्टों और रोगों के हटाने में जो "दृढ़-संकल्प" का वर्णन किया है, इस से स्वभावतः यह सूचित किया है कि "कश्यप का वीबर्ह" दृढ़-संकल्प है, जो कि कश्यप=पश्यक अर्थात् सर्वद्रष्टा परमात्मा की परम कृपा द्वारा प्राप्त होता है।]

अष्टम अनुवाक समाप्त ॥

सूक्त ९७

१-३ कलिः । इन्द्रः । प्रगाथः (बृहती) ।

६४१. वयमेनमिदा ह्योऽपीपेमेह वज्रिणम् ।
तस्मा उ अद्य समना सुतं भरा नूनं भूषत श्रुते ॥१॥

(वयम्) हम उपासकों ने (इह) इस उपासना-यज्ञ में, (वज्रिणम्) पापों के प्रति वज्रधारी (एनम्) इस परमेश्वर को (इदा) ही (आ पीपेम) भक्तिरस पिलाया है। हे उपासक ! तू (समनाः) मनोभावनाओं के

साथ (अद्य) आज अर्थात् प्रतिदिन, (तस्मै उ) उसी परमेश्वर के लिये (सुतं भर) उत्पन्न भक्तिरस की भेंट ला। हे उपासको ! (श्रुते) वेदों द्वारा परमेश्वर-सम्बन्धी श्रवण कर लेने पर (नूनम्) निश्चयपूर्वक (आ भूषत) स्तुतियों द्वारा इस की शोभा को बढ़ाओ।

६४२. वृकश्चिदस्य वारण उरामथिरा वयुनेषु भूषति ।
सेमं नः स्तोमं जुजुषाण आ गहीन्द्र प्र चित्रया धिया ॥२॥

(अस्य) इस परमेश्वर-सम्बन्धी (वयुनेषु) सत्यज्ञानों के प्राप्त हो जाने पर, (वृकः चित्) भेड़िये के समान क्रूर स्वभाववाला व्यक्ति, तथा (वारणः) हाथी के सदृश प्रबल तथा मदमस्त, और (उरामथिः) अति व्यथादायक व्यक्ति भी (आ भूषति) स्तुतियों द्वारा परमेश्वर की शोभा को बढ़ाने लगता है। (इन्द्र) हे परमेश्वर ! (सः) वह आप (नः) हमारे (इमम्) इस (स्तोमम्) स्तवन को (जुजुषाणः) प्रीतिपूर्वक स्वीकार करते हुए, (चित्रया धिया) आश्चर्यकारी प्रज्ञा के प्रदान द्वारा (आगहि) हमें प्राप्त हूजिये।

६४३. कदू न्वस्याकृतमिन्द्रस्यास्ति पौंस्यम् ।
केनो नु कं श्रोमतेन न शुश्रुवे जनुषः परि वृत्रहा ॥३॥

(अस्य) इस (इन्द्रस्य) परमेश्वर के (पौंस्यं कृतम्) वृद्धिप्रद कर्म (कद् उ नु न) कब नहीं (आशुश्रुवे) सर्वत्र सुने गए ? (श्रोमतेन) श्रुतिसंमत (केन) किस विधि द्वारा (कम्) किस की प्रार्थना को (न शुश्रुवे) परमेश्वर ने नहीं सुना ? (जनुषः) किस जन्मधारी उपासक के (वृत्रहा) पाप-वृत्रों का हनन, (परि) पूर्णरूप से, परमेश्वर ने (न कृतम्) नहीं किया? अभिप्राय यह कि परमेश्वर के वृद्धिप्रद कर्म सदा सुने गये हैं। यथार्थ विधि द्वारा की गई प्रार्थनाओं को परमेश्वर सदा सुनता है। तथा सच्चे उपासकों के पापों का हनन परमेश्वर पूर्णतया कर देता है।

[पौंस्यम्=पुंस् अभिवर्धने।]

सूक्त ९८

१-२ शंयुः । इन्द्रः । प्रगाथः (बृहती) ।

६४४. त्वामिद्धि हवामहे साता वाजस्य कारवः ।
त्वां वृत्रेष्विन्द्र सत्पतिं नरस्त्वां काष्ठास्वर्वतः ॥१॥

(कारवः) हम कर्मयोगी उपासक, (वाजस्य) शक्ति और आध्यात्मिक-सम्पत्ति की (साता) प्राप्ति के लिये, (त्वाम् इत् हि) हे परमेश्वर! आप का ही (हवामहे) आह्वान करते हैं। (इन्द्र) हे परमेश्वर! (वृत्रेषु) पाप और अज्ञान के घेरों में, (त्वाम्) आप (सत्पतिम्) सच्चे-पति का ही हम आह्वान करते हैं। (अर्वतः नरः) दुःखी नर-नारियां (काष्ठासु) दुःखों की पराकाष्ठाओं में (त्वाम्) आप का ही आह्वान करते हैं।

[अर्वतः=ऋ=अर्(रेषण)+वत्; अथवा अर्व(हिंसायाम्)+शतृ।]

६४५. स त्वं नश्चित्र वज्रहस्त धृष्णुया मह स्तवानो अद्रिवः।
गामश्वं रथ्यमिन्द्र, सं किर सत्रा वाजं न जिग्युषे ॥२॥

(चित्र) हे आश्चर्यस्वरूप! (वज्रहस्त) हे ज्ञानवज्रधारिन्! (अद्रिवः) हे पापों का भक्षण अर्थात् ध्वंस कर देनेवाले! (महः) महा-ज्ञान अर्थात् पराविद्या का (स्तवानः) कथन करते हुए आप, (धृष्णुया) अज्ञान का पराभव करनेवाले महाज्ञान के द्वारा हमारे अज्ञानों का विनाश कीजिये। (इन्द्र) हे परमेश्वर! (गाम्) वेदवाणी या इन्द्रिय-समूह और (रथ्यम्) शरीर-रथ के वहन करने योग्य (अश्वम्) अश्वसदृश बलिष्ठ मन, हमें (सं किर) प्रदान कीजिये, (न) जैसे कि (जिग्युषे) इन्द्रिय-विजेता के लिये आप, (सत्रा वाजम्) सच्चा आध्यात्मिक बल प्रदान करते हैं।

सूक्त ९९

१-२ मेध्यातिथिः। इन्द्रः। प्रगाथः (बृहती)।

६४६. अभि त्वा पूर्वपीतय इन्द्र स्तोमेभिरायवः।
समीचीनास ऋभवः समस्वरन् रुद्रा गृणन्त पूर्व्यम् ॥१॥

(इन्द्र) हे परमेश्वर! (पूर्वपीतये) भक्तिरस के या आनन्दरस के प्राथमिक पान के लिये, (आयवः) उपासक-जन (स्तोमेभिः) सामगानों द्वारा (त्वा) आप की (अभि) प्रत्यक्षरूप में (गृणन्त) स्तुतियां करते हैं; (समीचीनासः) सम्यक्रूप से शिल्प-कार्यों का सम्पादन करनेवाले (ऋभवः) दिव्य कारीगर (सम्)मिलकर(पूर्व्यम्)आप अनादि देव का (अस्वरन्) स्वर-

पूर्वक गान करते हैं। (रुद्राः) शत्रुओं को रुलानेवाले क्षत्रिय अनादि देव आपका स्वरपूर्वक गान करते हैं।

[पूर्वपीतये=उपासनामार्ग का अवलम्बन करने पर, अन्य किसी देवता की भक्ति न करते हुए, प्रारम्भ से ही परमेश्वर की उपासनापूर्वक भक्ति करनी चाहिये, और इस के प्रति ही अपने भक्तिरस की भेंट देनी चाहिये।]

६४७. अस्येदिन्द्रो वावृधे वृष्ण्यं शवो मदे सुतस्य विष्णवि।
अद्या तमस्य महिमानमायवोऽनु ष्टुवन्ति पूर्वथा ॥२॥

(विष्णवि) व्यापक परमेश्वर के निमित्त, जिस उपासक पर (सुतस्य) निष्पादित भक्तिरस की (मदे) मस्ती चढ़ जाती है, (अस्य) इस उपासक के (इत्) ही (शवः) आध्यात्मिक-बल को (इन्द्रः) परमेश्वर (वावृधे) बढ़ाता है, जो आध्यात्मिक-बल कि (वृष्ण्यम्) सब पर सुखों की वर्षा करता है। (पूर्वथा) पूर्व अर्थात् अनादिकाल के सदृश (अद्य) आज भी (आयवः) उपासक-जन, (अस्य) इस परमेश्वर की (तं महिमानम्) उस महिमा का (अनुष्टुवन्ति) निरन्तर-स्तवन करते हैं।

सूक्त १००

१-३ नृमेधः। इन्द्रः। उष्णिक्।

६४८. अधा हीन्द्र गिर्वण उप त्वा कामान् महः ससृज्महे।
उदेव यन्त उदभिः ॥१॥

(गिर्वण) हे वेदवाणियों द्वारा भजनीय (इन्द्र) परमेश्वर! (अधा) अब (हि) निश्चय से (महः कामान्) हम अपनी महा-कामनाओं का (उप ससृज्महे त्वा) संसर्ग, आप के साथ, कर देते हैं, (इव) जैसे कि (उदभिः) जलों के साथ (उदा=उदानि=उदकानि) जल (यन्त) मिल जाते और एकरस हो जाते हैं। अर्थात् हम अपनी कामनाओं का संसर्ग संसार के साथ न कर, आप के साथ करते हैं।

[महः=मह (क्विप्), द्वितीया बहुवचन।]

६४९. वार्ण त्वा यव्याभिर्वर्धन्ति शूर ब्रह्माणि।
वावृध्वांसं चिदद्रिवो दिवेदिवे ॥२॥

(वाः) जल (न) जैसे (यव्याभिः) नदियों द्वारा (वर्धन्ति) हमें बढ़ाते हैं, वैसे (शूर) हे पराक्रमशील! तथा हे (अद्रिवः) पापविनाशक परमेश्वर! (ब्रह्माणि) ब्रह्मप्रतिपादक स्तोत्र, (वावृध्वांसं त्वा) वृद्धि-दायक आपकी महिमा को, (दिवेदिवे) प्रतिदिन (वर्धन्ति) बढ़ाते हैं।

[वाः=वारि, जल। यव्याः=नदीनाम (निघ० १।१३)। अद्रिः=अत्तेर्वा स्यात् (निरु० ४।१।४)। परमेश्वर को अत्ता तथा अन्नाद कहते हैं। यथा—"अत्ता चराचरग्रहणात्" (वेदान्त १।२।९।)]

६५०. युञ्जन्ति हरी इषिरस्य गाथयोरौ रथ उरुयुगे।
इन्द्रवाहा वचोयुजा ॥३॥

(इषिरस्य) अभीष्टों को सिद्ध करनेवाले परमेश्वर के (गाथया) स्तुति-गानों द्वारा, उपासक (हरी) अपने द्विविध इन्द्रियाश्वों को,— (उरौ रथे) बहुमूल्य और प्रशस्त शरीर-रथ में लगे (उरुयुगे) प्रशस्त युगों में, (युञ्जन्ति) योग-विधियों द्वारा, प्रत्याहार आदि साधनों द्वारा योगयुक्त करते हैं। तब ये इन्द्रियाश्व (इन्द्रवाहा) परमेश्वर का वहन करने लगते हैं, और (वचोयुजा) वेदवचनों की विधियों द्वारा योगयुक्त होते हैं।

[उरु=exellent, valuable (आपटे)। युगे=A yoke (आपटे), रथ का अगला डण्डा, जिसके साथ बैलों को बान्धा जाता है। इन्द्रिय गोलोकों को शरीर-रथ के 'युग' कहा है।]

सूक्त १०१

१-३ मेध्यातिथिः। अग्निः। गायत्री।

६५१. अग्निं दूतं वृणीमहे होतारं विश्ववेदसम्।
अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम् ॥१॥

(दूतम्) कामादि दुर्वासनाओं को भस्म कर देनेवाले, (होतारम्) दाता, (विश्ववेदसम्) विश्ववेत्ता, और (अस्य) इस (यज्ञस्य) संसार-यज्ञ या उपासना-यज्ञ के (सुक्रतुम्) श्रेष्ठ विधाता, (अग्निम्) सर्वाग्रणी परमेश्वर का (वृणीमहे) हम वरण करते हैं।

[दूतम्=दूङ् परितापे।]

६५२. अग्निमग्निं हवीमभिः सदा हवन्त विश्पतिम्।
हव्यवाहं पुरुप्रियम् ॥२॥

(विश्पतिम्) सब प्रजाओं के स्वामी तथा रक्षक, (हव्यवाहम्) भक्तिरसरूपी हवि के स्वीकर्त्ता, या खान-पान के योग्य पदार्थ प्राप्त करानेवाले, (पुरुप्रियम्) सर्वप्रिय (अग्निम्) आगे ले जानेवाले, तथा (अग्निम्) सर्वाग्रणी का, (हवीमभिः) आह्वान-मन्त्रों द्वारा, उपासक (सदा हवन्त) सदा आह्वान करते हैं।

[अग्निः अग्रणीर्भवति (निरु० ७।४।१५)। तथा "अग्ने नय सुपथा" (यजु० ४०।१६)।]

६५३. अग्ने देवाँ इहा वह जज्ञानो वृक्तबर्हिषे।
असि होता न ईड्यः ॥३॥

(अग्ने) हे जगन्नेता परमेश्वर! (जज्ञानः) प्रकट हुए सर्वज्ञ आप, (वृक्तबर्हिषे) बाह्य-अग्नि का परित्याग कर अध्यात्माग्नि के उपासक के लिये, (इह) इसी जीवन में (देवान्) दिव्यशक्तियां (आ वह) प्राप्त कराइये। (होता) शक्तिप्रदाता आप ही (नः) हमारे अब (ईड्यः असि) स्तुत्य और उपास्य हैं।

[संन्यास में अग्निहोत्र आदि बाह्य अग्नियों का परित्याग कर देना होता है।]

सूक्त १०२

१-३ विश्वामित्रः। अग्निः। गायत्री।

६५४. ईळेन्यो नमस्यस्तिरस्तमांसि दर्शतः।
समग्निरिध्यते वृषा ॥१॥

(ईळेन्यः) स्तुति के योग्य, (नमस्यः) नमस्कार के योग्य, (तमांसि) अज्ञानान्धकार तथा तज्जन्य कामादि और तमोगुण के परिणामों को (तिरः) तिरस्कृत करनेवाला, (दर्शतः) दर्शनीय, और (वृषा) सुखों की वर्षा करनेवाला (अग्निः) जगदग्रणी (समिध्यते) हृदय में सम्यक्-प्रदीप्त किया जाता है।

६६५. वृषो अग्निः समिध्यतेऽश्वो न देववाहनः ।
तं हविष्मन्त ईलते ॥२॥

(वृषा उ) सुखों की वर्षा करनेवाला (अग्निः) जगन्नेता (समिध्यते) हृदय में सम्यक् प्रदीप्त किया जाता है। (अश्वः न) जैसे अश्व वहन-कार्य करता है वैसे जगन्नेता दिव्यगुणों का वहन करता है। (हविष्मन्तः) समर्पणों की हविवाले उपासक (तम्) उसकी (ईलते) स्तुतियां करते हैं।

[वाहनः=वहन करता अर्थात् प्राप्त कराता है।]

६६६. वृषणं त्वा वयं वृषन् वृषणः समिधीमहि ।
अग्ने दीद्यतं बृहत् ॥३॥

(अग्ने) हे जगन्नेता! (वृषन्) हे आनन्दरसवर्षी! (वृषणः वयम्) भक्तिरसों की वर्षा करनेवाले हम उपासक,—(वृषणम्) आनन्दरसवर्षी, (दीद्यतम्) देदीप्यमान, (बृहत्) तथा सर्वतो महान् (त्वा) आपको (समिधीमहि) हृदयों में सम्यक् प्रदीप्त करते हैं।

सूक्त १०३

१ सुदीतिपुरुमीळ्हौ; २-३ भर्गः । अग्निः । १-२ बृहती; ३ सतोबृहती ।

६६७. अग्निमीलिष्वावसे गाथाभिः शीरशोचिषम् ।
अग्निं राये पुरुमीळ्ह श्रुतं नरोऽग्निं सुदीतये छर्दिः ॥१॥

हे उपासक! तू (शीरशोचिषम्) सोई हुई ज्योति के रूप में सब में रम रहे, (अग्निम्) प्रकाशमय प्रभु की (गाथाभिः) सामगानों द्वारा (ईलिष्व) स्तुतियां किया कर। (पुरुमीळ्ह) हे पालक और परिपूर्ण प्रभु के स्तोता! तू (राये) आध्यात्मिक-धन की प्राप्ति के लिये (अग्निम्) जगन्नेता प्रभु की स्तुतियां किया कर, (श्रुतम्) जो कि वेदों में विश्रुत है। (नरः) हे नर-नारीरूप उपासको! तुम सब (अग्निम्) सर्वाग्रणी प्रभु की स्तुतियां किया करो, जो कि (सुदीतये) क्लेशों के क्षय करने के लिये (छर्दिः) छत्त-वाले घर के सदृश है। [छर्दिः=गृहनाम (निघ० ३।४)।]

६६८. अग्न आ याह्यग्निभिर्होतारं त्वा वृणीमहे ।
आ त्वामनक्तु प्रयता हविष्मती यजिष्ठं बर्हिरासदे ॥२॥

(अग्ने) हे प्रकाशस्वरूप जगन्नेता! आप अपने (अग्निभिः) प्रज्वलित तेजों के साथ (आ याहि) प्रकट हूजिये। (त्वा होतारम्) आप-दानी का (वृणीमहे) हम वरण करते हैं। (प्रयता) संयम-सम्पन्न हमारी बुद्धि (हविष्मती) समपर्णरूपी हवि की भेंट लेकर, (यजिष्ठम्) यज्ञों को सफल करनेवाले (त्वा) आपको (आ अनक्तु) पूर्णतया अभिव्यक्त करे, ताकि (बर्हिः) हृदयासनों पर आप (आसदे) आ विराजें।

६६९. अच्छा हि त्वा सहसः सूनो अङ्गिरः स्रुचश्चरन्त्यध्वरे ।
ऊर्जो नपातं घृतकेशमीमहेऽग्निं यज्ञेषु पूर्व्यम् ॥३॥

(सहसः सूनो) हे शक्ति के प्रेरक! (अङ्गिरः) हे हमारे अङ्ग-अङ्ग के प्राण! (अध्वरे) द्रव्य-साध्य यज्ञों में भी (त्वा हि अच्छ) आप को लक्ष्य करके ही (स्रुचः) घृताहुति के यज्ञिय-पात्र (चरन्ति) गतिमान् होते हैं, विचरते हैं। (ऊर्जः) बल और प्राण को (न पातम्) न गिरने देने-वाले अर्थात् उनके अवष्टम्भक, तथा (यज्ञेषु घृतकेशम्) यज्ञों में घृताहुति द्वारा ज्वालारूपी केशोंवाले यज्ञियाग्नि के समान ज्योतिःस्वरूप, (पूर्व्यम्) तथा पूर्वकाल से विद्यमान अनादि परमेश्वर से (ईमहे) हम याचनाएं करते हैं, या उसे हम प्राप्त होते हैं।

[सूनो=सू प्रेरणे। अङ्गिरः=अङ्गों के रसरूप प्राण। ईमहे= याञ्चाकर्मा (निघ० ३।१९); अथवा "ई" गतौ।]

सूक्त १०४

१-२ मेध्यातिथिः; ३-४ नृमेधः । इन्द्रः । प्रगाथः (बृहती) ।

६७०. इमा उ त्वा पुरूवसो गिरो वर्धन्तु या मम ।
पावकवर्णाः शुचयो विपश्चितोऽभि स्तोमैरनूषत ॥१॥

(पुरूवसो) हे महासम्पत्शालिन्, या पालन करनेवाले, तथा सम्पत्तियों से परिपूर्ण संसार में बसे हुए परमेश्वर! (इमाः) ये (याः) जो (मम) मेरी (गिरः) वाणियां हैं, वे (त्वा उ) आपकी ही महिमा को (वर्धन्तु) बढ़ाया करें। (पावकवर्णाः) पवित्र करनेवाले आपका सदा वर्णन करनेवाले, प्रवचन करनेवाले, (शुचयः) शरीर, इन्द्रियों, मन और

आत्मा से पवित्र, (विपश्चितः) मेधावी विद्वान् उपासक, (अभि) साक्षात् रूप में (स्तोमैः) स्तुति-मन्त्रों द्वारा (त्वा अनूषत) आपकी ही स्तुतियां करते रहते हैं ।

६६१. अयं सहस्रमृषिभिः सहस्कृतः समुद्र इव पप्रथे ।
सत्यः सो अस्य महिमा गृणे शवो यज्ञेषु विप्रराज्ये ॥२॥

(अयम्) यह परमेश्वर (सहस्रम् ऋषिभिः) हजारों ऋषियों द्वारा (सहस्कृतः) साहस और धैर्यपूर्वक साक्षात् किया जाता है। यह (समुद्र इव) जलीय-समुद्र या आकाश के सदृश (पप्रथे) फैला हुआ है। (अस्य) इस परमेश्वर की (सः) वह (महिमा) महिमा (सत्यः) यथार्थ है,—(गृणे) यह मैं कहता हूं। (यज्ञेषु) यज्ञों में (विप्रराज्ये) तथा विप्रों के राज्य में (शवः) इसका बल प्रसिद्ध है ।

६६२. आ नो विश्वासु हव्य इन्द्रः समत्सु भूषतु ।
उप ब्रह्माणि सवनानि वृत्रहा परमज्या ऋचीषमः ॥३॥

(नः) हम उपासकों के (विश्वासु समत्सु) सब देवासुर-संग्रामों में (हव्यः) सहायतार्थ पुकारा गया (इन्द्रः) परमेश्वर, (आ भूषतु) आसुर-भावनाओं के पराभव द्वारा हमें विभूषित करे। (वृत्रहा) पाप-वृत्रों का हनन करनेवाला परमेश्वर, (ब्रह्माणि) हमारे ब्रह्मस्तावक स्तोत्रों, और (सवनानि) हमारे भक्तिरसमय यज्ञों में, (उप) हमारे समीपस्थ हो जाय। (परमज्या) पापों के विनाश के लिये उसकी धनुष्-डोरी सर्वोत्कृष्ट है, (ऋचीषमः) उसका ऋचाओं में समरूप से वर्णन हुआ है ।

६६३. त्वं दाता प्रथमो राधसामस्यसि सत्य ईशानकृत् ।
तुविद्युम्नस्य युज्या वृणीमहे पुत्रस्य शवसो महः ॥४॥

हे परमेश्वर ! (त्वम्) आप ही (राधसाम्) सम्पत्तियों के (प्रथमः) सर्वप्रथम (दाता असि) दाता हैं। आप (सत्यः असि) सत्यस्वरूप हैं,(ईशान-कृत्)आप हमें पापों पर नियन्त्रण करने योग्य करते हैं। जैसे (तुविद्युम्नस्य) महाधनिक (पुत्रस्य) पुत्र के धन का (वृणीमहे) हम वरण करते हैं, उपयोग करते हैं वैसे (महः शवसः) आपके महाबल तथा महा-आध्यात्मिक धन का हम वरण करते हैं।

सूक्त १०५

१-३ नृमेधः; ४-५ पुरुहन्मा । इन्द्रः । प्रगाथः (बृहती) ।

६६४. त्वमिन्द्र प्रतूर्तिष्वभि विश्वा असि स्पृधः ।
अशस्तिहा जनिता विश्वतूरसि त्वं तूर्य तरुष्यतः ॥१॥

(इन्द्र) हे परमेश्वर ! (त्वम्) आप (प्रतूर्तिषु) देवासुर-संग्रामों में, (स्पृधः) स्पर्धा आदि (विश्वाः) सब दुर्भावनाओं को (अभि असि) अभिभूत कर देते हैं; (अशस्तिहा) इन अप्रशस्त भावनाओं का हनन कर देते हैं; (जनिता) दिव्य-भावनाओं को जन्म देते हैं; (त्वम्) आप (विश्वतूः असि) सर्वविध पापों के विनाशक हैं। हे परमेश्वर ! (तरुष्यतः) इन हिंसक-वृत्तियों को आप (तूर्य) विनष्ट कीजिये।

[प्रतूर्तिषु, विश्वतूः, तूर्य आदि=तुर्वी हिंसायाम्; तरुष्यति=हिंसा-कर्मा (निरु० ५।१।२)।]

६६५. अनु ते शुष्मं तुरयन्तमीयतुः क्षोणी शिशुं न मातरा ।
विश्वास्ते स्पृधः श्नथयन्त मन्यवे वृत्रं यदिन्द्र तूर्वसि ॥२॥

हे परमेश्वर ! (ते) आपके (तुरयन्तम्) संहारकारी (शुष्मम् अनु) बल का मानो अनुचिन्तन करके (क्षोणी) द्युलोक और भूलोक (अनु ईयतुः) आप के अनुगामी हो रहे हैं, (न) जैसे कि (मातरा) माता-पिता (शिशु अनु ईयतुः) शिशु की सुरक्षा का अनुचिन्तन करके उस के अनुगामी होते हैं, उसके पीछे-पीछे चलते हैं। (स्पृधः) स्पर्धा आदि (विश्वाः) सब दुर्भावनायें, (ते मन्यवे) आपके मन्युरूप के प्रति, (श्नथयन्त) शिथिल पड़ जाती हैं, (यद्) क्योंकि (इन्द्र) हे परमेश्वर ! आप) तूर्वसि) उनका विनाश करनेवाले हैं। [क्षोणी=द्यावापृथिवी नाम (निघ० ३।३०)।]

६६६. इत ऊती वो अजरं प्रहेतारमप्रहितम् ।
आशुं जेतारं हेतारं रथीतममतूर्तं तुग्र्यावृधम् ॥३॥

हे उपासको ! (इतः) इन क्लेशों से (वः) तुम्हारी रक्षा के लिये मैं,—(अजरम्) जीर्ण न होनेवाले, (प्रहेतारम्) सर्वप्रेरक,(अप्रहितम्) स्वयं किसी के द्वारा प्रेरित न हुए, (आशुम्) शीघ्र फलप्रदाता, (जेतारम्) सर्व-

विजयी (हेतारम्) प्रगति तथा वृद्धि के प्रदाता (रथीतमम्) शरीर-रथों के सर्वश्रेष्ठ स्वामी, (अतूर्तम्) अविनाशी तथा (तुग्र्यावृधम्) शारीरिक रस-रक्तों के वर्धक परमेश्वर के (गृणे) गुण वर्णन करता हूं।

[तुग्र्या=उदकम् (निघ० १।१२)। मन्त्र में शारीरिक जल का अर्थात् रस-रक्त का वर्णन प्रतीत होता है, चूंकि शरीर-रथ का वर्णन हुआ है। गृणे=मन्त्र ६६७ से "गृणे" पद का सम्बन्ध इस मन्त्र के साथ भी है।]

६६७. यो राजा चर्षणीनां याता रथेभिरध्रिगुः।
विश्वासां तरुता पृतनानां ज्येष्ठो यो वृत्रहा गृणे ॥४॥

(यः) जो परमेश्वर (चर्षणीनाम्) सब मनुष्यों का (राजा) राजा है, (अध्रिगुः) जो अप्रतिबद्ध गतिवाला, (रथेभिः) उपासकों के शरीर-रथों का प्रेरक बनकर मानो उन रथों द्वारा (याता) गतिमान् होता है, उपासकों के व्यवहारों को सिद्ध करता है। जो (विश्वासाम्) सब (पृतनानाम्) काम, क्रोध, लोभ, मोहादि की सेनाओं का (तरुता) विनाश करता है, (ज्येष्ठः) जो सब से बड़ा तथा सर्वश्रेष्ठ है, (यः) जो (वृत्रहा) बुद्धि पर आवरण डाल देनेवाले पापों का हनन करता है, उस परमेश्वर का (गृणे) मैं वर्णन करता हूं।

६६८. इन्द्रं तं शुम्भ पुरुहन्मन्नवसे यस्य द्विता विधर्तरि।
हस्ताय वज्रः प्रति धायि दर्शतो महो दिवे न सूर्यः ॥५॥

(पुरुहन्मन्) पापों का स्वयं हनन करनेवाले हे उपासक! तू (अवसे) आत्म-रक्षा के लिये (तं इन्द्रम्) उस परमेश्वर की (शुम्भ) शोभा को बढ़ा स्तुतियों द्वारा, (विधर्तरि) जगत् के धारण करने में (यस्य) जिस के कि (द्विता) दो रूप हैं। उस परमेश्वर ने (हस्ताय) पापों के हनन के लिये (दर्शतः) दर्शनीय (वज्रः) न्याय-वज्र (प्रति धायि) धारण किया हुआ है, (न) जैसे कि (दिवे) प्रकाश के लिये (महः सूर्यः) तेजस्वी-सूर्य को, उसने धारण किया हुआ है।

[द्विता=परमेश्वर के दो रूप हैं—अनुग्रह करनेवाला रूप, और निग्रह करनेवाला रूप। सत्कर्मियों पर वह अनुग्रह रूपवाला है, और दुष्कर्मियों पर निग्रह रूपवाला है। हस्ताय=हन् हिंसायाम्।]

सूक्त १०६

१-३ गोषूक्तिः तथा अश्वसूक्तिः। इन्द्रः। उष्णिक्।

६६९. तव त्यदिन्द्रियं बृहत् तव शुष्ममुत क्रतुम्।
वज्रं शिशाति धिषणा वरेण्यम् ॥१॥

हे परमेश्वर! (तव) आप के (त्यत्) उस (बृहत् इन्द्रियम्) महा-ऐश्वर्य, (तव) आप के (शुष्मम्) रौद्र-बल, (उत) और (क्रतुम्) प्रज्ञा और क्रियाशक्ति, तथा (वरेण्यं वज्रम्) पापों से निवारण करनेवाले सर्वश्रेष्ठ न्याय-वज्र के सम्बन्ध में,—(धिषणा) बुद्धिप्रदा वेदवाणी, (शिशाति) हमें सम्यक् ज्ञान देती है।

[इन्द्रियम्=धनम् (निघ० २।१०)। शुष्मम्=बलम् (निघ० २।९), अर्थात् सुखा देनेवाला बल, पापियों का शोषण करनेवाला बल। क्रतुः=प्रज्ञा (निघ० ३।९); कर्म (निघ० २।१)। धिषणा=वाक् (निघ० १।११); धिषणा=वाक्, धी-सानिनी (निरु० ८।१।३)। धीः=बुद्धि, ज्ञान+षणु दाने, या षण संभक्तौ।]

६७०. तव द्यौरिन्द्र पौंस्यं पृथिवी वर्धति श्रवः।
त्वामापः पर्वतासश्च हिन्विरे ॥२॥

(इन्द्र) हे परमेश्वर! (द्यौः) द्युलोक (तव) आप के (पौंस्यम्) बल की महिमा (वर्धति) बढ़ाता है, और (पृथिवी श्रवः वर्धति) पृथिवी आप की कीर्त्ति बढ़ाती है। (आपः) सामुद्रिक जल, वर्षा के तथा नदी-नालों के जल, (च पर्वतासः) और पर्वत (त्वाम्) आप को (हिन्विरे) प्रसन्न कर रहे हैं। [हिन्विरे=हिवि प्रीणनार्थः।]

६७१. त्वां विष्णुर्बृहन् क्षयो मित्रो गृणाति वरुणः।
त्वां शर्धो मदत्यनु मारुतम् ॥३॥

हे परमेश्वर! (विष्णुः) सूर्य, (बृहन् क्षयः) बड़ा निवासस्थान अर्थात् महाकाश, (मित्रः) दिन और (वरुणः) रात्रि (त्वाम्) आप की (गृणाति) अर्चनाएं कर रहे हैं। (मारुतं शर्धः) मानसून तथा अन्तरिक्षस्थ वायु का बल (त्वाम्) आप की (अनु) निरन्तर (मदति) स्तुतियां कर रहा है।

सूक्त १०७

१-३ वत्सः; ४-१३ बृहद्दिवः; १४-१५ कुत्सः। १ १३ इन्द्रः; १४-१५ सूर्यः। १-८ गायत्री; ९-१४ त्रिष्टुप्; १५ जगती।

६७२. समस्य मन्यवे विशो विश्वा नमन्त कृष्टयः।
समुद्रायेव सिन्धवः ॥१॥

(अस्य) इस परमेश्वर के (मन्यवे) मन्यु के प्रति, (विश्वाः विशः) सब नागरिक प्रजाएं, तथा (कृष्टयः) कृषिकार प्रजाएं (सम् नमन्त) स्वभावतः नत हो रही हैं, झुक रहीं हैं, (इव) जैसे कि (सिन्धवः) बहती नदियां (समुद्राय) समुद्र के प्रति झुकी रहती हैं।

६७३. ओजस्तदस्य तित्विष उभे यत् समवर्तयत्।
इन्द्रश्चर्मेव रोदसी ॥२॥

(अस्य) इस परमेश्वर का (तत्) वह प्रसिद्ध (ओजः) पराक्रम (तित्विषे) चमकता है, (यत्) जब कि (इन्द्रः) परमेश्वर (रोदसी) द्युलोक और भूलोक,—(उभे) इन दोनों को, प्रलय काल में, (सम् अवर्तयत्) आसानी से लपेट लेता है, (इव) जैसे कि कोई (चर्म) मृगछाला को लपेट लेता है।

६७४. वि चिद् वृत्रस्य दोधतो वज्रेण शतपर्वणा।
शिरो बिभेद वृष्णिना ॥३॥

(चिद्) चित्स्वरूप परमेश्वर ने, (दोधतः) कम्पा देनेवाले (वृत्रस्य) पाप-वृत्र के (शिरः) मानो शिर को, (वृष्णिना) शक्तिशाली तथा (शतपर्वणा) मनुष्य की सौ वर्षों की आयु तक उस का पालन कर सकनेवाले (वज्रेण) ज्ञान-वज्र द्वारा, (बिभेद) काट दिया है।

[पाप का विनाश ज्ञानरूपी वज्र द्वारा होता है। परमेश्वर ने वेद-ज्ञान दिया है, जो कि मनुष्य के १०० वर्षों के जीवन-काल में, उस की पापों से रक्षा करता है।]

६७५. तदिदास भुवनेषु ज्येष्ठं यतो जज्ञ उग्रस्त्वेषनृम्णः।
सद्यो जज्ञानो नि रिणाति शत्रूननु यदेनं मदन्ति विश्व ऊमाः ॥४॥

(तत्) वह ब्रह्म (इत्) ही (भुवनेषु) समग्र संसार में (ज्येष्ठम्) सब से बड़ी शक्तिरूप में (आस) सदा रहा है, (यतः) जिस ब्रह्म से कि (उग्रः) तेजस्वी (त्वेषनृम्णः) दीप्ति-धनवाला सूर्य (जज्ञे) उत्पन्न हुआ है। वह ब्रह्म (जज्ञानः) हृदय में प्रकट होकर (सद्यः) तत्काल (शत्रून्) पाप-शत्रुओं की (नि रिणाति) नितरां हिंसा कर देता है, (विश्वे ऊमाः) संसार की सब रक्षक शक्तियां (यद् एनम्) चूंकि इसी ब्रह्म की (अनु) निरन्तर (मदन्ति) स्तुतियां कर रही हैं। [ऊमाः=अव् रक्षणे।]

६७६. वावृधानः शवसा भूर्योजाः शत्रुर्दासाय भियसं दधाति।
अव्यनच्च व्यनच्च सस्नि सं ते नवन्त प्रभृता मदेषु ॥५॥

(शवसा) अपने बल के कारण (वावृधानः) सब से बढ़ा हुआ, (भूर्योजाः) अति-ओजस्वी परमेश्वर, (शत्रुः) पापों का विनाश करता, और (दासाय) अन्यों का क्षय करनेवाले व्यक्ति के लिये (भियसम्) भय (दधाति) उपस्थित करता है। वह (अव्यनत्) अप्राणि जगत् (च) और (व्यनत्) प्राणिजगत् को (सस्निः) शुद्ध करता है। हे परमेश्वर! (मदेषु) आप द्वारा दिये आनन्दों और तृप्तियों में (प्रभृताः) परिपुष्ट हुए प्राणी, (सम्) मिलकर, (ते) आप की (नवन्त) स्तुतियां करते हैं।

[अव्यनत्=अ+वि+अन् (प्राणने)+शतृ। सस्निः=स्ना शौचे। नवन्त=नू स्तुतौ। शत्रुः=शातयति।]

६७७. त्वे क्रतुमपि पृञ्चन्ति भूरि द्विर्यदेते त्रिर्भवन्त्यूमाः।
स्वादोः स्वादीयः स्वादुना सृजा समदः सु मधु मधुनाभि योधीः ॥६॥

हे परमेश्वर! मनुष्य विवाह करके (यद्) जब (द्विः भवन्ति) दो हो जाते हैं, और सन्तानोत्पन्न हो जाने पर जब (त्रिः) तीन हो जाते हैं, और (ऊमाः) सब प्राणियों की रक्षा का व्रत धारण करते हैं, तब (एते) ये अपने (भूरि क्रतुम्) समग्र संकल्पों, कर्मों, और प्रज्ञाओं को (त्वे) आप के प्रति (अपि पृञ्चन्ति) समर्पित कर देते हैं। हे परमेश्वर! (स्वादोः) आप स्वादु से भी (स्वादीयः) अधिक स्वादु हैं। (स्वादुना) अपने स्वादु स्वरूप के साथ (सं सृज) हमारा संसर्ग कीजिये। (अदः मधु) जीवात्मा के उस मधुर स्वरूप को (मधुना) अपने मधुर स्वरूप के साथ, (अभि) प्रत्यक्षरूप में, (सु योधीः) अच्छे प्रकार संमिश्रित कर दीजिये।

[स्वाद्वीय:—उपासक सांसारिक रसास्वादन की अपेक्षा, परमेश्वरीय योग द्वारा प्राप्त आनन्दरस को अधिक स्वादु मानता है ।]

६७८. यदि चिन्नु त्वा धना जयन्तं रणेरणे अनुमदन्ति विप्राः ।
ओजीयः शुष्मिन्त्स्थिरमा तनुष्व मा त्वा दभन् दुरेवासः कशोकाः ॥७॥

हे उपासक ! (रणे-रणे) प्रत्येक देवासुर-संग्राम में (धना) आध्यात्मिक-धनों पर (जयन्तम्) विजय प्राप्त करते हुए (त्वा) तेरा, (यदि चित् नु) यदि (विप्राः) मेधावी उपासक, (अनुमदन्ति) अनुमोदन करते हैं, तब (शुष्मिन्) हे आध्यात्मिक बलवाले उपासक ! तू (स्थिरम्) दृढ़ता पूर्वक (ओजीयः) अधिकाधिक ओज (तनुष्व) योगाभ्यास में फैलाता जा, ताकि (दुरेवासः) दुष्परिणाम पैदा करनेवाले (कशोकाः) कुत्सित-शोक-सन्ताप (त्वा) तुझे (मा दभन्) दबा न पाएं ।

[दुरेवासः=दुर्+इ+वनिप्+असुन् । कशोकाः=क+शोकाः= कुत्सिते "कः", तस्य च पूर्वप्रयोगः छान्दसः । अथवा "कुशोकाः" ।]

६७९. त्वया वयं शाशद्महे रणेषु प्र पश्यन्तो युधेन्यानि भूरि ।
चोदयामि त आयुधा वचोभिः सं ते शिशामि ब्रह्मणा वयांसि ॥८॥

हे परमेश्वर ! (रणेषु) देवासुर-संग्रामों में, (युधेन्यानि) युद्ध करने योग्य (भूरि) प्रभूत आसुरी-वासनाओं को (प्र पश्यन्तः) देखते हुए (वयम्) हम, (त्वया) आप की सहायता द्वारा (शाशद्महे) उन का विनाश करते हैं, और (वचोभिः) वैदिक वचनों के अनुसार (ते) आप द्वारा दर्शाए गये (आयुधा) आयुधों को (चोदयामि) प्रेरित करता हूं, और (ते) आपके द्वारा दर्शाए (वयांसि) वाणों को (ब्रह्मणा) वेदोक्त विधि द्वारा (सं शिशामि) सम्यक् प्रकार से तेज करता हूं ।

[वयांसि=इषवः—"अथापीषुनामेह भवति" (निरु० २।२।६) । आयुधा, वयांसि=आध्यात्मिक-आयुध और आध्यात्मिक-वाण; यथा—यम, नियम, प्रत्याहार, ध्यान, ईश्वर-प्राणिधान । तथा असङ्ग-शस्त्र (गीता १५।३) । तथा "तीक्ष्णेषवो ब्राह्मणा हेतिमन्तः०" (अथर्व० ५।१८।९) ।]

६८०. नि तद् दधिषेऽवरे परे च यस्मिन्नाविथावसा दुरोणे ।
आ स्थापयत मातरं जिगत्नुमत इन्वत कर्वराणि भूरि ॥९॥

हे परमेश्वर ! (अवरे) अवरकालीन (च) और (परे) पूर्वकालीन (यस्मिन् दुरोणे) जिस हृदय-गृह में, (अवसा) उपासक की रक्षा की दृष्टि से (आविथ) आप प्रवेश कर लेते हैं, (तत्) उस उपासक का आप (नि दधिषे) पूर्णतया धारण-पोषण करते हैं । इसलिये हे उपासको ! तुम (जिगत्नुम्) सर्वविजयी (मातरम्) तथा मातृवत् स्नेहकारी परमेश्वर को अपने हृदय-मन्दिरों में (आ स्थापयत) स्थापित करो । और (अतः) इस माता से प्रेरणाएं पाकर, (भूरि) प्रभूत (कर्वराणि) श्रेष्ठ कर्मों को (इन्वत) करो । [कर्वराणि=कृ+वर ।]

६८१. स्तुष्व वर्ष्मन् पुरुवर्त्मानं समृभ्वाणमिनतममाप्तमाप्त्यानाम् ।
आ दर्शति शवसा भूर्योजाः प्र सक्षति प्रतिमानं पृथिव्याः ॥१०॥

(वर्ष्मन्) हे भक्तिरस की वर्षा करनेवाले उपासक ! तू,—(पुरुवर्त्मानम्) नाना मार्गों के स्वामी, (ऋभ्वाणम्) महाप्रकाशी, (इनतमम्) सर्वेश्वर, (आप्त्यानाम्) प्राप्तव्य पदार्थों में (आप्तम्) उपासकों ने जिसे प्राप्त किया है, उस की,—(सं स्तुष्व) सम्यक् स्तुतियां कर । (भूर्योजाः) महाप्रतापी वह परमेश्वर (शवसा) निज स्वाभाविक शक्ति द्वारा (आ दर्शति) तुझे जीवन-मार्ग दर्शाता है, तेरे लिये आदर्श-रूप है । वह (पृथिव्याः) पृथिवी का (प्रतिमानं प्र सक्षति) प्रतिरूप है, गुणों में पृथिवी के सदृश है ।

[पुरुवर्त्मानम्=पृथिवी, चांद, ग्रह, सूर्य तथा तारागणों के अपने-अपने घूमने के मार्ग नियत हैं, उन सब मार्गों का नियन्ता परमेश्वर है । प्रतिमानम्=जैसे पृथिवी के आधार पर हम रहते हैं, और पृथिवी हमारा पालन-पोषण करती है, वैसे परमेश्वर हमारा आधार है, और हम सब का धारण-पोषण कर रहा है ।]

६८२. इमा ब्रह्म बृहद्दिवः कृणवदिन्द्राय शूषमग्रियः स्वर्षाः ।
महो गोत्रस्य क्षयति स्वराजा तुरश्चिद् विश्वमर्णवत् तपस्वान् ॥११॥

(बृहद्दिवः) महाज्ञान के प्रकाशवाले, (अग्रियः) सर्वाग्रणी, तथा (स्वर्षाः) सुखदायी परमेश्वर ने, (इन्द्राय शूषम्) जीवात्मा के लिये सुख तथा बल देनेवाले (इमा ब्रह्म) ब्रह्म-प्रतिपादक इन वेदमन्त्रों की

(कृणवत्) रचना की है। (स्वराजा) निज दीप्ति से प्रदीप्त वह परमेश्वर (महः गोत्रस्य) महा-मन्त्रसमूह का (क्षयति) अधीश्वर है। (तपस्वान्) तपनेवाले सूर्य आदि का स्वामी (विश्वम्) विश्व में (अर्णवत्) व्याप्त है, (तुरः चित्) वह शीघ्रकारी है।

[**कृणवत्**=ऋग्वेद (१०।१२०।८) में "विवक्ति" पाठ है। **शुषम्**=**सुखम्** (निघ० ३।६), तथा **बलम्** (निघ० २।९)। **गोत्र=गो=वाक्**, (निघ० १।११)+त्र (समूहार्थे)। **क्षयति=ऐश्वर्यकर्मा** (निघ० २।२१) **अर्णवत्**=ऋण् गतौ+वत्। बृहद्दिवः=बृहत्+दिव् (प्रकाश)।]

६८३. एवा महान् बृहद्दिवो अथर्वावोचत् स्वां तन्वमिन्द्रमेव।
स्वसारौ मातरिभ्वरी अरिप्रे हिन्वन्ति चैने शवसा वर्धयन्ति च ॥१२॥

(एव) इस प्रकार (महान् बृहद्दिवः) महान् और महाज्ञान से प्रकाशित, (अथर्वा) कूटस्थ परमेश्वर ने, (इन्द्रम् एव) जीवात्मा के प्रति ही, वेदवाणी द्वारा, (स्वां तन्वम्) अपने स्वरूप का (अवोचत्) प्रवचन किया है, कथन किया है। परमेश्वर और इन्द्र=जीवात्मा ये दोनों (स्वसारौ) अपने निज स्वभाव से क्रियावान् हैं, (मातरिभ्वरी) और जगत् के निर्माण में विभूतिमान् हैं, तथा (अरिप्रे) पाप-रहित हैं। वेद-वाणियां (शवसा) अपने अभिप्रायों को प्रकाशित करने की निजशक्ति द्वारा (एने) परमेश्वर और इन्द्र इन दोनों का (हिन्वन्ति) ज्ञान देती हैं, और (वर्धयन्ति) इन दोनों के महत्त्व को बढ़ाती हैं।

[**अथर्वा=थर्वतिः चरतिकर्मा, तत्प्रतिषेधः** (निरु० ११।२।१९)। इन्द्रम् एव=जीवन में जब आत्मिकशक्ति, प्रधानरूप से कार्य करने लगती है, तभी जीवात्मा को वैदिक ज्ञान प्राप्त होता है। स्वसारौ=ब्रह्म जीव और प्रकृति,—इन तीनों में प्रकृति पराधीन है और ब्रह्म तथा जीवात्मा अपने-अपने स्वभावों द्वारा क्रिया करने में स्वतन्त्र हैं। मातरिभ्वरी=मातरि=जगत् के निर्माण में+भ्वरी=विभूतिमान् या सत्तावान् हैं। प्रकृति तो साधन है, परन्तु निर्मातृशक्ति ब्रह्म और जीवात्मा में निहित है। अरिप्रे=ब्रह्म निष्पाप है। जीवात्मा भी स्वभावतः शुद्ध है।]

६८४. चित्रं देवानां केतुरनीकं ज्योतिष्मान् प्रदिशः सूर्य उद्यन्।
दिवाकरोऽति द्युम्नैस्तमांसि विश्वातारीद् दुरितानि शुक्रः ॥१३॥

(देवानाम्) दिव्यप्रकाशों के (चित्रम्) अद्भुत (अनीकम्) समूह-रूप, (केतुः) यथार्थ वेत्ता, (ज्योतिष्मान्) ज्योतिर्मय, (प्रदिशः) हृदय-प्रदेश से (उद्यन्) उदित होते हुए (सूर्यः) सूर्यों के सूर्य परमेश्वर ने, (दिवाकरः) मुझ उपासक में प्रकाश पैदा कर दिया है, और (शुक्रः) शुचि परमेश्वर ने (द्युम्नैः) निज द्युतियों द्वारा (तमांसि अति) मेरे तमोगुणों को हटा कर, उन के (विश्वा दुरितानि) समग्र दुष्परिणामों से (तारीत्) मुझे तैरा दिया है, बचा दिया है।

[अनीकम्=समूह। केतुः=प्रज्ञानम् (निरु० १२।१।७) सूर्य के सम्बन्ध में मन्त्र स्पष्टार्थक है।]

६८५. चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः।
आप्राद् द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ॥१४॥

(देवानाम्) दिव्यप्रकाशों का (चित्रम्) अद्भुत (अनीकम्) समूह-रूप परमेश्वर (उदगात्) मेरे हृदयाकाश में उदित हुआ है। यह परमेश्वर (अग्नेः) अग्नि (वरुणस्य) वायु, और (मित्रस्य) सूर्य की (चक्षुः) मानो आंख है। यह (द्यावापृथिवी) द्युलोक और पृथिवीलोक में, तथा (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष में (आ प्रात्) व्याप्त है। (सूर्यः) सूर्यसम-प्रकाशी आदित्यवर्णी या सूर्यों का सूर्य परमेश्वर, (जगतः) जङ्गम जगत् अर्थात् प्राणिजगत् का, (च) तथा (तस्थुषः) स्थिर अर्थात् स्थावर और जड़ जगत् का (आत्मा) आत्मा है।

[चक्षुः=आंख मार्गदर्शक है। परमेश्वर अग्न्यादि का मार्गदर्शक है। अग्नि का जलना, सूर्य का तपना, विद्युत् वायु का निज कार्यों में प्रवृत्त रहना,—यह सब कुछ परमेश्वरीय निर्देशों के अधीन है। आत्मा=प्राणियों का जीवन तब तक रहता है, जब तक उन में जीवात्मा का निवास है। इसी प्रकार जड़-चेतन जगत् की सत्ता परमेश्वर या परम-आत्मा के आधार पर अवलम्बित है।]

६८६. सूर्यो देवीमुषसं रोचमानां मर्यो न योषामभ्येति पश्चात्।
यत्रा नरो देवयन्तो युगानि वितन्वते प्रति भद्राय भद्राम् ॥१५॥

(न) जैसे (मर्यः) पुरुष (योषाम्) अपनी पत्नी के (पश्चात्) पीछे-पीछे (अभ्येति) आता है, चलता है, वैसे ही (सूर्यः) सूर्यों का सूर्य

परमेश्वर (रोचमानाम् देवीम् उषसम्) रुचिकर दिव्य-उषा के पीछे-पीछे आता है। (देवयन्तः) परमेश्वर-देव की कामनावाले (नरः) उपासक-नेता (यत्र) जिस ऐसी अवस्था में (युगानि) मानों नवीन युगों का (प्रति वितन्वते) विस्तार करते हैं, और (भद्राय) भद्र के प्रति (भद्रम्) सदा भद्र व्यवहार करते हैं।

[योगमार्ग पर आरूढ़ हुए योगी को, परमेश्वर के साक्षात्कार से पूर्व, नाना प्रकार की दिव्य ज्योतियां दृष्टिगोचर होती हैं। ये ज्योतियां आध्यात्मिक जीवन के रुचिकर उषःकाल की ज्योतियां हैं। यथा— कोहरा, धूम्र, सूर्य, वायु, अग्नि, खद्योत, विद्युत्, स्फटिक, चन्द्रमा, तथा दिव्य रत्नादि,—ये ज्योतियां प्रकट होती हैं, जो कि परमेश्वर के साक्षात्कार के पूर्वरूप हैं। इन दिव्य रुचिकर ज्योतियों के पश्चात् परमेश्वर का साक्षात्कार होता है। (श्वेताश्व० द्र०—उप० २।११); तथा (योगदर्शन १।३६) सूत्र पर व्यासभाष्य।]

सूक्त १०८

१-३ नृमेधः । इन्द्रः । १ गायत्री; २ ककुप्; ३ पुर उष्णिक् ।

६८७. त्वं न इन्द्रा भरँ ओजो नृम्णं शतक्रतो विचर्षणे ।
आ वीरं पृतनाषहम् ॥१॥

(शतक्रतो) हे सैंकड़ों कर्मोंवाले महाप्रज्ञ ! (विचर्षणे) हे विश्व-द्रष्टा, (इन्द्र) परमेश्वर ! (त्वम्) आप (नः) हमें (ओजः) ओज अर्थात् तेज, (नृम्णम्) बल और-धन (आ भर) दीजिये; (वीरम्) और वीर-सन्तान (आ) दीजिये, जो कि (पृतनाषहम्) काम क्रोध आदि की सेनाओं को परास्त कर सके।

६८८. त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ ।
अधा ते सुम्नमीमहे ॥२॥

(वसो) हे सर्ववासी प्रभो ! (त्वम्) आप (हि) निश्चय से (नः) हमारे (पिता) सच्चे पिता हैं। (शतक्रतो) हे सैंकड़ों कर्मोंवाले महाप्रज्ञ ! (त्वम्) आप (माता बभूविथ) हमारी माता भी हैं। (अधा) अतः (ते) आप से (सुम्नम्) सुखों और मानसिक-प्रसन्नता की (ईमहे) हम याचना करते हैं।

६८९. त्वां शुष्मिन् पुरुहूत वाजयन्तमुप ब्रुवे शतक्रतो ।
स नो रास्व सुवीर्यम् ॥३॥

(शुष्मिन्) हे बलशाली !, (पुरुहूत) हे बहुत उपासकों द्वारा या बहुत नामों द्वारा पुकारे गए, (शतक्रतो) हे सैंकड़ों कर्मोंवाले महाप्रज्ञ ! (वाजयन्तम्) उपासकों को बल-प्रदान की इच्छावाले (त्वाम्) आप को (उपब्रुवे) मैं नम्रतापूर्वक कहता हूं कि (सः) वे आप (नः) हमें (सुवीर्यम्) धर्मकार्यों में उत्तम वीरता (रास्व) प्रदान कीजिये।

सूक्त १०९

१-३ गोतमः । इन्द्रः । पङ्क्तिः ।

६९०. स्वादोरित्था विषूवतो मध्वः पिबन्ति गौर्यः ।
या इन्द्रेण सयावरीर्वृष्णा मदन्ति शोभसे वस्वीरनु स्वराज्यम् ॥१॥

(गौर्यः) शुक्ल अर्थात् सात्त्विक-चित्तवृत्तियां (स्वादोः) अत्यन्त स्वादु, (विषूवतः) सांसारिक स्वादों से विलक्षण, (मध्वः) मधुर आनन्दरस का (पिबन्ति) पान करती हैं। (इत्था) यह सत्य है। (याः) जो शुक्ल अर्थात् सात्विक-चित्तवृत्तियां (इन्द्रेण) परमेश्वर के (सयावरीः) साथ विचरती हैं, (वृष्णा) वे आनन्दरसवर्षी परमेश्वर के साथ मिलकर (मदन्ति) सदा तृप्त रहती हैं। (वस्वीः) ये शुक्ल अर्थात् सात्त्विक-चित्तवृत्तियां उपासक के लिये वसुरूप हैं, सम्पत्-रूप हैं,और (स्वराज्यम्)अपने आत्मिक-राज्य को (अनु) लक्ष्य बनाकर (शोभसे) शोभायमान होती हैं।

६९१. ता अस्य पृशनायुवः सोमं श्रीणन्ति पृश्नयः ।
प्रिया इन्द्रस्य धेनवो वज्रं हिन्वन्ति सायकं वस्वीरनु स्वराज्यम् ॥२॥

(अस्य) इस उपासक की चित्तवृत्तियां, जो पहिले (पृश्नयः) नाना-रूपोंवाली अर्थात् प्रायः राजसिक और तामसिक थीं, और जो (पृशनायुवः) इन नानारूपों को चाहती थीं, (ताः) वे अब शुक्ल अर्थात् सात्त्विक बनकर (सोमम्) भक्तिरस का (श्रीणन्ति) परिपाक करने लगती हैं। वे (इन्द्रस्य) परमेश्वर की (प्रियाः) प्रिय बन जाती हैं, (धेनवः) और उपासक को आनन्दरसरूपी दुग्ध पिलाने लगती हैं, और (सायकम्) राजसिक तथा

तामसिक वृत्तियों को अन्त कर देनेवाला (वज्रम्) ज्ञान-वज्र (हिन्वन्ति) प्राप्त कराती हैं। (वस्वीः) ये शुक्ल अर्थात् सात्विक चित्तवृत्तियां उपासक के लिये वसुरूप हैं, सम्पत्-रूप हैं, और (स्वराज्यम्) अपने आत्मिक-राज्य के (अनु) अनुकूल होती हैं।

६९२. ता अस्य नमसा सहः सपर्यन्ति प्रचेतसः ।
व्रतान्यस्य सश्चिरे पुरूणि पूर्वचित्तये वस्वीरनु स्वराज्यम् ॥३॥

(अस्य) इस उपासक की (प्रचेतसः) ज्ञानप्रद (ताः) वे शुक्ल अर्थात् सात्त्विक चित्तवृत्तियां, (नमसा) परमेश्वर को नमस्कार करती हुई, (सहः) उपासक को साहस तथा शक्ति (सपर्यन्ति) प्रदान करती हैं, और (अस्य) इस उपासक के (पुरूणि व्रतानि) नानाविध व्रतों को (सश्चिरे) प्रगति देती हैं, और इस के (पूर्वचित्तये) प्रातिभ-ज्ञानों के लिये समर्थ होती हैं। (वस्वीरनु०) मन्त्र ६९१ के अनुसार।

[**सश्चिरे=सश्चति गतिकर्मा** (निघ० २।१४)। पूर्वचित्ति=घटनाओं का पूर्वज्ञान, जिसे कि 'प्रातिभज्ञान' कहते हैं।]

सूक्त ११०

१-३ श्रुतकक्षः, वा सुकक्षः। इन्द्रः। गायत्री।

६९३. इन्द्राय मद्वने सुतं परि ष्टोभन्तु नो गिरः ।
अर्कमर्चन्तु कारवः ॥१॥

(मद्वने) आनन्दस्वरूप (इन्द्राय) परमेश्वर के लिये (सुतम्) भक्ति-रस उत्पन्न हो चुका है। अब (नः) हमारी (गिरः) स्तुति-वाणियां (परि ष्टोभन्तु) परमेश्वर की खूब स्तुतियां करें, (कारवः) स्तोता लोग (अर्कम्) अर्चनीय परमेश्वर की (अर्चन्तु) अर्चनाएं करें।

[परि ष्टोभन्तु=स्तुभ् To praise, worship (आपटे)। **कारुः= स्तोता** (निघ० ३।१६)। मद् (मोद)+वने।]

६९४. यस्मिन् विश्वा अधि श्रियो रणन्ति सप्त संसदः ।
इन्द्रं सुते हवामहे ॥२॥

(यस्मिन् अधि) जिस परमेश्वर में (विश्वाः) सब शोभाएं और

सम्पत्तियां, तथा (सप्त संसदः) अपने-अपने स्थानों में सम्यक् प्रकार से स्थित ७ लोक (रणन्ति) रमण कर रहे हैं, (इन्द्रम्) उस परमेश्वर का, (सुते) भक्तिरस के उत्पन्न होने पर (हवामहे) हम आह्वान करते हैं।

[सप्त संसदः=भूलोक, भुवर्लोक, स्वर्लोक, महर्लोकः, जनलोक, तपोलोक तथा सत्यलोक।]

६९५. त्रिकद्रुकेषु चेतनं देवासो यज्ञमत्नत ।
तमिद्वर्धन्तु नो गिरः ॥३॥

(देवासः) दिव्य उपासक, (त्रिकद्रुकेषु) पृथिवी के तीन स्थानों में,— जल, स्थल, पर्वत में जिस (यज्ञम्) यज्ञ-स्वरूप (चेतनम्) चेतन ब्रह्म का (अत्नत) ध्यान तथा प्रचार द्वारा विस्तार करते हैं, (तम् इत्) उस ही परमेश्वर की (वर्धन्तु) बड़ाई करती हैं, (नः गिरः) हमारी स्तुतियां।

[**कद्रु=पृथिवी** (श० ब्रा० ३।६।२।६)। कद्रु=क (कुत्सित)+द्रु (गति), अर्थात् जो गति कर रही है, परन्तु जिस की गति का भान नहीं होता। अतः वह कुत्सित गतिवाली है।]

सूक्त १११

१-३ पर्वतः। इन्द्रः। उष्णिक्।

६९६. यत् सोममिन्द्र विष्णवि यद् वा घ त्रित आप्त्ये ।
यद् वा मरुत्सु मन्दसे समिन्दुभिः ॥१॥

(इन्द्र) हे परमेश्वर! (विष्णवि) विष्णु अर्थात् सूर्य में (यत्) जो (सोमम्) भक्तिरस है, उसका आप (मन्दसे) आनन्द लेते हैं। (यद् वा घ) और जो (त्रिते) तीसरे लोक द्युलोक में (सोमं मन्दसे) भक्तिरस है उसका आप आनन्द लेते हैं। (आप्त्ये) अप् अर्थात् जलवाले अन्तरिक्षलोक में (यत् सोमं मन्दसे) जो भक्तिरस है उसका आप आनन्द लेते हैं। (वा) तथा (मरुत्सु) मानसून तथा वायुओं में (यत् सोमं मन्दसे) जो भक्तिरस है उस का आप आनन्द लेते हैं। (इन्दुभिः) इन सब भक्तिरसों द्वारा आप (सम् मन्दसे) सम्यक् रूप से प्रसन्न होते हैं।

[**इन्दुभिः= उनत्तेर्वा** (निरु० १०।४।४२)। "इन्दु" शब्द की व्युत्पत्ति में निरुक्त में "उन्द" धातु का निर्देश किया है। जिसका अर्थ है

क्लेदन, अर्थात् गीला करना। मन्त्र में कवितारूप में कहा गया है कि इन भक्तिरसों द्वारा परमात्मा स्नेहार्द्र हृदय हो जाता है। मन्त्र में यह दर्शाया है कि सभी संसार मानो परमेश्वर के प्रति भक्तिरस में उमड़ा हुआ, परमेश्वर के प्रति आत्म-समर्पण कर रहा है।]

६९७. यद् वा शक्र परावति समुद्रे अधि मन्दसे ।
अस्माकमित् सुते रणा समिन्दुभिः ॥२॥

(वा) तथा (शक्र) हे शक्तिशाली परमेश्वर! (परावति समुद्रे अधि) दूर तक फैले हुए समुद्र तथा अन्तरिक्ष में (यत्) जो भक्तिरस है उसका आप (मन्दसे) आनन्द लेते हैं। इसलिये (अस्माकम् इत्) हमारे भी (सुते) भक्तियज्ञों में आप (इन्दुभिः) हमारे भक्तिरसों द्वारा (सम् रणा) सम्यक् रमण कीजिये, प्रसन्न हूजिये।

६९८. यद्वासि सुन्वतो वृधो यजमानस्य सत्पते ।
उक्थे वा यस्य रण्यसि समिन्दुभिः ॥३॥

(यद् वा) तथा (सत्पते) हे सच्चे रक्षक! (यस्य) जिस (सुन्वतः) भक्ति-यज्ञवाले (यजमानस्य) उपासक को आप (वृधः असि) बढ़ाते हैं, (वा) तथा जिसकी (उक्थे) स्तुतियों में आप (रण्यसि) रमण करते हैं,— उसके (इन्दुभिः) भक्तिरसों द्वारा भी आप (सम् रण) रमण कीजिये, प्रसन्न हूजिये।

सूक्त ११२

१-३ सुकक्षः इन्द्रः। गायत्री।

६९९. यदद्य कच्च वृत्रहन्नुदगा अभि सूर्य ।
सर्वं तदिन्द्र ते वशे ॥१॥

(वृत्रहन्) हे अज्ञानावरण का हनन करनेवाले! (सूर्य) हे सूर्यों के सूर्य! (अद्य) प्रतिदिन (अभि) हमारे सामने (यद् कत् च) जो कोई अर्थात् सूर्य, चांद तथा तारागण (उद् अगाः) उदित होते हैं, (इन्द्र) हे परमेश्वर! तत् सर्वम्) वह सब (ते) आपके (वशे) वश में है।

[मन्त्र में सूर्य और इन्द्र, दोनों शब्द परमात्मवाचक हैं।]

७००. यद्वा प्रवृद्ध सत्पते न मरा इति मन्यसे ।
उतो तत् सत्यमित् तव ॥२॥

(प्रवृद्ध) हे पुराण पुरुष या सद्गुणों में बढ़े हुए! (सत्पते) हे सच्चे-रक्षक! (यद् वा) ज्ञानी लोगों द्वारा जो आप (मन्यसे) माने जाते हैं कि आप (न मरा) मरते नहीं कि आप अजर अमर हैं, (उत उ तत्) वह तो (तव) आपके सम्बन्ध में (सत्यम् इत्) सत्य ही है।

७०१. ये सोमासः परावति ये अर्वावति सुन्विरे ।
सर्वांस्ताँ इन्द्र गच्छसि ॥३॥

(ये) जो (सोमासः) भक्तिरस (परावति) पराविद्यावालों में हैं और (ये) जो भक्तिरस (अर्वावति) अवराविद्यावालों में (सुन्विरे) प्रकट हुए हैं, (इन्द्र) हे परमेश्वर! (तान् सर्वान्) उन सब भक्तिरसों के प्रति आप (गच्छसि) प्राप्त होते हैं।

[अभिप्राय यह है कि परमेश्वर को स्वाभिमुख करने के लिये विशुद्ध भक्तिरस चाहिये, चाहे वह भक्तिरस पराविद्यावालों में हो, या अपराविद्यावालों में हो।]

सूक्त ११३

१-२ भर्गः। इन्द्रः। प्रगाथः।

७०२. उभयं शृणवच्च न इन्द्रो अर्वागिदं वचः ।
सत्राच्या मघवा सोमपीतये धिया शविष्ठ आ गमत् ॥१॥

(इन्द्रः) परमेश्वर (नः) हमारे (अर्वाक्) अभिमुख होकर, (इदम्) इन (उभयम्) दोनों प्रकार के (वचः) स्तुति-वचनों अर्थात् केवल ऋचाओं द्वारा की गई स्तुतियों तथा सामगानों द्वारा किये गये स्तुति-वचनों को (शृणवत्) सुनता है। (च) और वह (मघवा) ऐश्वर्यशाली (शविष्ठः) और अतिबलशाली परमेश्वर, (सत्राच्या) सदा सत्य की ओर झुकी हुई (धिया) निज करुणामयी धारणा द्वारा, (सोमपीतये) भक्तिरस के पान के लिये (आ गमत्) प्रकट हो जाता है।

७०३. तं हि स्वराजं वृषभं तमोजसे धिषणे निष्टतक्षतुः ।
उतोपमानां प्रथमो नि षीदसि सोमकामं हि ते मनः ॥२॥

(स्वराजम्) निज ज्योति द्वारा प्रकाशमान, (वृषभम्) आनन्दरस-वर्षी (तं तं हि) उसे और उसे ही,— (धिषणे) उपर्युक्त दो प्रकार की स्तुति-वाणियां, अर्थात् गीतिमयी और गीतिरहित वाणियां,—(ओजसे) हमें ओज प्रदान के लिये, – (निष्टतक्षुः) प्रकट कर देती हैं। हे परमेश्वर ! तदनन्तर हमें ज्ञान होता है कि आप ही (उपमानाम्) सब उपमाओं में (प्रथमः) सर्वश्रेष्ठ उपमारूप हैं, और आप ही संसार में (नि षीदसि) स्थिर रूप से स्थित हैं। हम यह भी जान गये हैं कि (ते) आप की (मनः) इच्छा, (हि) निश्चय से, (सोमकामम्) उपासक के भक्तिरस की कामना-वाली है।

सूक्त ११४

१-२ सौभरिः । इन्द्रः । गायत्री ।

७०४. अभ्रातृव्यो अना त्वमनापिरिन्द्र जनुषा सनादसि ।
युधेदापित्वमिच्छसे ॥१॥

(इन्द्र) हे परमेश्वर ! (जनुषा) स्वभाव से, (सनात्) पुराकाल से, ही, आप (अभ्रातृव्यः) भाई भतीजे तथा शत्रु से रहित हैं, (अना) आपका कोई नेता नहीं, मार्गदर्शक नहीं, (त्वम्) आप (अनापिः) जन्मजात सम्बन्धों से रहित हैं। (इत्) केवल (युधा) युद्ध द्वारा (आपित्वम्) सम्बन्ध (इच्छसे) आप चाहते हैं।

[युधा=जो व्यक्ति आसुर-भावों के साथ स्वयं युद्ध करता है,उसे ही आप अपना सम्बन्धी जानते हैं। शत्रुः=शातयिता, विनाशकर्त्ता। अना= अथवा आप नर-नारी का शरीर धारण नहीं करते।]

७०५. नकी रेवन्तं सख्याय विन्दसे पीयन्ति ते सुराश्वः ।
यदा कृणोषि नदनुं समूहस्यादित् पितेव हूयसे ॥२॥

हे परमेश्वर ! आप (रेवन्तम्) धनलोलुप को (सख्याय) सखिभाव के लिये (नकिः) नहीं (विन्दसे) स्वीकार करते। (ते) वे धन-लोलुप

(सुराश्वः) ऐश्वर्य की सुरा में वृद्धि को प्राप्त हुए-हुए (पीयन्ति) प्रजा को पीड़ित करते हैं। (यदा) जब आप (नदनुम्) मृत्युरूपी स्तनयित्नु की गर्जना (कृणोषि) करते हैं, और आप (समूहसि) संहार करने लगते हैं, (आत् इत्) तदनन्तर ही आप (पिता इव) उन धन-लोलुपों के द्वारा पिता कहकर (हूयसे) पुकारे जाते हैं।

[सुराश्वः=सुरा+श्वि (गति, वृद्धि), सुरया, धन-सुरया वृद्धाः प्रमत्ताः।]

सूक्त ११५

१-३ वत्सः । इन्द्रः । गायत्री ।

७०६. अहमिद्धि पितुष्परि मेधामृतस्य जग्रभ ।
अहं सूर्य इवाजनि ॥१॥

(अहम्) मैं उपासक ने, (इत् हि) अवश्य (पितुः) परमपिता परमेश्वर से, (ऋतस्य मेधाम्) सत्यज्ञान को (परि जग्रभ) प्राप्त कर लिया है। इस लिये (अहम्) मैं, (सूर्य इव) ज्ञानप्रकाश की दृष्टि से सूर्य के सदृश (अजनि) हो गया हूं।

७०७. अहं प्रत्नेन मन्मना गिरः शुम्भामि कण्ववत् ।
येनेन्द्रः शुष्ममिद् दधे ॥२॥

(अहम्) मैं (प्रत्नेन) अनादिकाल से प्राप्त (मन्मना) मननीय वैदिक-मन्त्रों द्वारा, स्तोत्रों द्वारा, (गिरः) अपनी वाणियों की (शुम्भामि) शोभा बढ़ाता हूं, (कण्ववत्) जैसे कि अन्य मेधावी व्यक्ति अपनी वाणियों की शोभा बढ़ाते हैं। (येन) जिन मननीय वैदिक मन्त्रों द्वारा (इन्द्रः) जीवात्मा,(शुष्मम्) पाप-शोषक बल (दधे) अपने में धारण करता है।

[कण्व=मेधावी (निघ० ३।१५)।]

७०८. ये त्वामिन्द्र न तुष्टुवुर्ऋषयो ये च तुष्टुवुः ।
ममेद् वर्धस्व सुष्टुतः ॥३॥

(ये) जो अज्ञानी लोग (इन्द्र) हे परमेश्वर ! (त्वाम्) आपको (न तुष्टुवुः) स्तुतियां नहीं करते, आप का गुण-गान नहीं करते, (च)

और (ये) जो (ऋषयः) ऋषि लोग (तुष्टुवुः) आप की स्तुतियां करते हैं, उन सब में से (मम) मेरी स्तुतियों द्वारा (सुष्टुतः) आप यथार्थ स्तुतियां पाकर (इत्) ही, (वर्धस्व) आप वास्तव में गुणों में बढ़े हुए प्रतीत होते हैं।

[मन्त्र में अनृषि, ऋषि, और महर्षि का वर्णन है। अनृषि तो परमेश्वर के गुणों को जानते ही नहीं, इसलिये वे परमेश्वर की स्तुतियां नहीं करते। ऋषि-कोटि के व्यक्तियों में भी आर्षदृष्टि का तारतम्य अर्थात् न्यूनाधिकभाव होता है। परन्तु महर्षि-कोटि के व्यक्ति में आर्षदृष्टि निरतिशयरूप में होती है। परमेश्वर के गुण निःसीम हैं, निरतिशय हैं। इस लिये महर्षि कोटि का व्यक्ति ही परमेश्वर के गुणों और स्वरूप को यथार्थरूप में वर्णन कर सकता है। ऐसे व्यक्ति द्वारा ही परमेश्वर "सुष्टुत" (सु+स्तुत) हो सकता है। महर्षि द्वारा परमेश्वर के गुणों का वर्णन सुनकर ही ज्ञात हो सकता है कि परमेश्वर परमेश्वरीय प्रत्येक गुण में, सब से बढ़ा हुआ है, वह महतो महान् है।]

सूक्त ११६

१-२ मेध्यातिथिः । इन्द्रः । बृहती ।

७०९. मा भूम निष्ट्याइवेन्द्र त्वदरणाइव ।
वनानि न प्रजहितान्यद्रिवो दुरोषासो अमन्महि ॥१॥

(इन्द्र) हे परमेश्वर ! (त्वत्) आप से (निष्टचाः इव) बहिष्कृत किये गए-से (मा भूम) हम न हों, और (अरणाः इव मा भूम) आप में रमण न करनेवाले भी हम न हों। (अद्रिवः) हे पापविदारक-साधनों से सम्पन्न ! (वनानि) भक्ति-भावनाओं का (न प्रजहितानि) हमने परित्याग नहीं किया। (दुरोषासः) राग-द्वेष, ईर्ष्या आदि के जलन से पृथक् होकर (अमन्महि) हम आप का मनन कर रहे हैं।

[निष्टचा=निः+त्यप्। अरणाः=अ+रमणाः (रमणकर्त्तारः)। वनानि=वन संभक्तौ। अद्रिवः=आवृणाति एतेन (निरु० ४।१।१४); तद्वान् (सम्बुद्धौ)। दुरोषासः=दुर् (दूर)+रोषासः (रुष्), या दुर् (दूर)+ओषासः (उष् दाहे)। अथवा दु (उपतापे)+(रोषासः), या (दुर्)+ओषासः।]

७१०. अमन्महीदनाशवोऽनुग्रासश्च वृत्रहन् ।
सकृत्सु ते महता शूर राधसानु स्तोमं मुदीमहि ॥२॥

(वृत्रहन्) हे पाप-वृत्रों का हनन करनेवाले परमेश्वर ! (अनाशवः) शीघ्रता से रहित, अर्थात् धैर्य धारण करनेवाले, अर्थात् शीघ्र फल-प्राप्ति की व्यग्रता से हीन, (च) और (अनुग्रासः) उग्र उपायों का अवलम्बन न करनेवाले हम उपासक, (अमन्महि इत्) आप का अवश्य लगातार मनन करते रहते हैं। (शूर) हे विक्रमशील परमेश्वर ! (ते) आप की (स्तोमम् अनु) स्तुति के अनन्तर, (महता राधसा) आप के महा-धन अर्थात् आनन्दरस के द्वारा, (सकृत्) एक वार तो, (सु मुदीमहि) हम उत्तम मोद पा लें। [राधसा=राधस् धनम् (निघ० २।१०)।]

सूक्त ११७

१-३ वसिष्ठः । इन्द्रः । विराट् ।

७११. पिबा सोममिन्द्र मन्दतु त्वा यं ते सुषाव हर्यश्वाद्रिः ।
सोतुर्बाहुभ्यां सुयतो नार्वा ॥१॥

(इन्द्र) हे परमेश्वर ! आप (सोमम्) भक्तिरस को (पिब) स्वीकार कीजिये। यह भक्तिरस (त्वा) आपको (मन्दतु) प्रसन्न करे। (यम्) जिस भक्तिरस को कि (ते) आपके लिये उपासक ने (सुषाव) निष्पन्न किया है। (हर्यश्व) हे प्रत्याहार-सम्पन्न इन्द्रियाश्वों के स्वामिन् ! आप (अद्रिः) पर्वतवत् कूटस्थ हैं। (सोतुः) अश्व के प्रेरक अश्वारोही की (बाहुभ्याम्) बाहुओं द्वारा (न) जैसे (अर्वा) अश्व (सुयतः) वश में हो जाता है, वैसे आप उपासक के वशवर्ती हो जाइये।

७१२. यस्ते मदो युज्यश्चारुरस्ति येन वृत्राणि हर्यश्व हंसि ।
स त्वामिन्द्र प्रभूवसो ममत्तु ॥२॥

(हर्यश्व) हे प्रत्याहार-सम्पन्न इन्द्रियाश्वों के स्वामिन् ! (यः) जो (मदः) प्रसन्न करनेवाला भक्तिरस (ते युज्यः) आप के योग्य, तथा (चारुः) आप के लिये रुचिकर (अस्ति) है, (येन) जिसके द्वारा कि आप (वृत्राणि) हमारे पापों का (हंसि) हनन करते हैं, (प्रभूवसो) हे प्रभूत

सम्पत्तिशाली, (इन्द्र) परमेश्वर ! (सः) वह भक्तिरस (त्वाम्) आपको (ममत्तु) प्रसन्न करे।

७१३. बोधा सु मे मघवन् वाचमेमां यां ते वसिष्ठो अर्चति प्रशस्तिम्। इमा ब्रह्म सधमादे जुषस्व ॥३॥

(मघवन्) हे सम्पत्ति-शालिन् परमेश्वर ! (मे) मेरी (इमाम्) इस (वाचम्) स्तुति-वाणी को (सु बोध) ठीक प्रकार जानिये, (याम्) जिस (प्रशिस्तम्) प्रशस्तवाणी को कि (वसिष्ठः) सर्वश्रेष्ठ उपासक (ते) आप के लिये (अर्चति) अर्चना में भेंट कर रहा है। (सधमादे) उपासक और आपकी पारस्परिक प्रसन्नता में (इमा ब्रह्म) इन ब्रह्म-स्तावक स्तुति वाणियों का (जुषस्व) आप प्रीतिपूर्वक सेवन कीजिये।

[वसिष्ठः='यद्वै नु श्रेष्ठः तेन वसिष्ठः' (शत० ब्रा० ८।१।१।६)।]

सूक्त ११८

१-२ भर्गः; ३-४ मेध्यातिथिः। इन्द्रः। प्रगाथः।

७१४. शग्ध्यू३षु शचीपत इन्द्र विश्वाभिरूतिभिः। भगं न हि त्वा यशसं वसुविदमनु शूर चरामसि ॥१॥

(शचीपते इन्द्र) हे प्रज्ञाओं के पति परमेश्वर ! (विश्वाभिः) सब प्रकार की (ऊतिभिः) रक्षाओं के द्वारा आप हमें (सु शग्धि) उत्तम-शक्ति प्रदान कीजिये। आप (भगं न) ऐश्वर्य, धर्म, श्री, ज्ञान, वैराग्य के सदृश (यशसम्) यशस्वी हैं, (वसुविदम्) तथा आध्यात्मिक और सांसारिक सम्पत्तियां प्राप्त किये हुए हैं। (शूर) हे पराक्रमी ! (हि) निश्चय से, हम (त्वा अनु चरामसि) आप के अनुचर हो गए हैं, आप की आज्ञा के वशवर्ती हो गये हैं।

७१५. पौरो अश्वस्य पुरुकृद् गवामस्युत्सो देव हिरण्ययः। नकिर्हि दानं परिमर्धिषत् त्वे यद्यद्यामि तदा भर ॥२॥

हे परमेश्वर ! आप (पौरः) ब्रह्माण्ड-पुरी में बसे हुए हैं। (अश्वस्य) मन की, और (गवाम्) इन्द्रियों की शक्तियों को आप (पुरुकृत्) बहुत बढ़ाते हैं। (उत्सः) आप शक्तियों के स्रोत हैं। (देव) हे दिव्यगुणोंवाले !

(हिरण्ययः) आप हितकर और रमणीय हैं, अथवा हिरण्यसदृश बहुमूल्य सम्पत्तिरूप हैं। (त्वे) आपके अधिकार में (दानम्) जो दान देना है उसे (नकिः) कोई भी शक्ति नहीं (परि मर्धिषत्) टाल सकती। हे परमेश्वर! मैं आप का उपासक (यद् यद् यामि) जो-जो आप से याचना करता हूं (तत्) वह (आ भर) प्रदान कीजिये।

[यामि=याञ्चाकर्मा (निघ० ३।१९)।]

७१६. इन्द्रमिद् देवतातय इन्द्रं प्रयत्यध्वरे। इन्द्रं समीके वनिनो हवामह इन्द्रं धनस्य सातये ॥३॥

(देवतातये) दिव्यगुणों के विस्तार के लिये, हम (इन्द्रम् इत्) सहायतार्थ परमेश्वर का ही (हवामहे) आह्वान करते हैं। (अध्वरे) हिंसारहित कर्मों के (प्रयति) प्रयत्न में हम सहायतार्थ (इन्द्रम्) परमेश्वर का (हवामहे) आह्वान करते हैं। (वनिनः) परमेश्वर का सम्यक्-भजन करनेवाले हम उपासक, (समीके) देवासुर-संग्राम में, (इन्द्रम्) सहायतार्थ परमेश्वर का आह्वान करते हैं। (धनस्य) धन की (सातये) प्राप्ति तथा दान में (इन्द्रम्) सहायतार्थ हम परमेश्वर का आह्वान करते हैं।

[समीके=संग्रामनाम (निघ० २।१७)। वनिन=वन संभक्तौ।]

७१७. इन्द्रो मह्ना रोदसी पप्रथच्छव इन्द्रः सूर्यमरोचयत्। इन्द्रे ह विश्वा भुवनानि येमिर इन्द्रे सुवानास इन्दवः ॥४॥

(इन्द्रः) परमेश्वर ने (मह्ना) निज महिमा से (रोदसी) द्युलोक और भूलोक को (प प्रथत्) फैलाया है। (शवः) बलस्वरूप (इन्द्रः) परमेश्वर ने (सूर्यम्) सूर्य को (अरोचयत्) दीप्तिमान् किया है। (विश्वा) सब (भुवनानि) लोक-लोकान्तर (इन्द्रे ह) परमेश्वर में ही आश्रित होकर (येमिरे) परमेश्वर के नियन्त्रण में स्थित हैं। (स्वानासः) उत्पन्न हुए (इन्दवः) चान्द आदि (इन्द्रे) परमेश्वर में आश्रित होकर (येमिरे) उस के नियन्त्रण में स्थित हैं।

सूक्त ११९

१ आयुः; २ श्रुष्टिगुः। इन्द्रः। प्रगाथः।

७१८. अस्तावि मन्म पूर्व्यं ब्रह्मेन्द्राय वोचत। पूर्वीर्ऋतस्य बृहतीरनूषत स्तोतुर्मेधा असृक्षत ॥१॥

हे उपासको ! (अस्तावि) उपासना आरम्भ हुई है, तुम (इन्द्राय) परमेश्वर के लिये, (मन्म) मननीय, (पूर्व्यम्) सनातन काल से प्राप्त, (ब्रह्म) ब्रह्म-प्रतिपादक मन्त्रों का (वोचत) उच्चारण करो। (पूर्वीः) अनादि, (ऋतस्य बृहतीः) तथा सत्यज्ञान प्राप्त करानेवाली वैदिक महावाणियों ने (अनूषत) परमेश्वर का स्तवन किया है, कथन किया है, और इन महावाणियों द्वारा स्तुति करनेवालों को (मेधाः) ऋतम्भरा-प्रज्ञाएं (असृक्षत) प्रकट हुई हैं।

७१९. तुरण्यवो मधुमन्तं घृतश्चुतं विप्रासो अर्कमानृचुः ।
अस्मे रयिः पप्रथे वृष्ण्यं शवोऽस्मे सुवानास इन्दवः ॥२॥

(तुरण्यवः) उपासना-मार्ग में त्वरा करनेवाले, शीघ्रता करनेवाले तीव्र-संवेगी (विप्रासः) मेधावी उपासक,— (मधुमन्तम्) मधुर-आनन्दरसवाले, तथा (घृतश्चुतम्) ज्ञानोदक से सींचनेवाले (अर्कम्) अर्चनीय परमेश्वर की (आनृचुः) अर्चनाएं करते हैं। परिणाम में (अस्मे) हम अर्चना करनेवालों के लिये (रयिः) परमेश्वर की कृपा से आध्यात्मिक-सम्पत्ति (पप्रथे) प्रभूत मात्रा में प्राप्त हुई है, (वृष्ण्यम्) तथा सब पर सुख-शान्ति की वर्षा कर सकने का (शवः) बल प्राप्त हुआ है। और (अस्मे) हमें (सुवानासः) नवजीवनोत्पादक (इन्दवः) भक्तिरस या ज्ञान-विज्ञान की दीप्तियां प्राप्त हुई हैं।

[घृतम्=उदकम् (निघ० १।१२)। अर्कम्='अर्कः देवो भवति यदेनमर्चति' (निरु० ५।१।४)।]

सूक्त १२०

१-२ देवातिथिः । इन्द्रः । प्रगाथः ।

७२०. यदिन्द्र प्रागपागुदङ्न्यग्वा हूयसे नृभिः ।
सिमा पुरू नृषूतो अस्यानवेऽसि प्रशर्ध तुर्वशे ॥१॥

(इन्द्र) हे परमेश्वर ! (यद्) चाहे जो (प्राक्) पूर्व में, (अपाक्) पश्चिम में, (उदक्) उत्तर में, (वा न्यक्) या दक्षिण में, (सिमा) अर्थात् सर्वत्र, (नृभिः) मनुष्यों द्वारा आप (हूयसे) सहायतार्थ पुकारे जाते हैं, और यद्यपि (नृषूतः पुरु) प्रायः आप इन मनुष्यों द्वारा सहायतार्थ प्रेरित किये

जाते हैं, तो भी (प्रशर्ध) हे बलशालिन् ! आप (आनवे) प्राण-संयमी में, (असि) प्रकट होते हैं, (तुर्वशे) और शीघ्रता से इन्द्रियों को वश में करनेवाले में (असि) प्रकट होते हैं।

[नृषूतः=नृभिः प्रेरितः। आनवे=अन् प्राणने। शर्धः=बलम् (निघ० २।९)।]

७२१. यद् वा रुमे रुशमे श्यावके कृप इन्द्र मादयसे सचा ।
कण्वासस्त्वा ब्रह्मभि स्तोमवाहस इन्द्रा यच्छन्त्या गहि ॥२॥

(यद् वा) तथा (इन्द्र) हे परमेश्वर ! आप (रुमे) स्तुति-शब्दों की सम्पत्तिवाले में, (रुशमे) स्तुति-शब्दोच्चारण जिस में शान्त हो गया है, और जो अब मन में आप का स्तुतिगान करता है उस में, (श्यावके) जो गतिशील है, और अभ्यासमार्ग में संवेगी है उस में, (कृपे) जो कृपाशील और दयालु है उस में, (सचा) अर्थात् इन सब के साथ (मादयसे) परस्पर मिलकर अर्थात् आप उपासक के भक्तिरस द्वारा प्रसन्न होते, तथा आप उपासक को अपने आनन्दरस द्वारा प्रसन्न करते हैं,। परन्तु तो भी (इन्द्र) हे परमेश्वर ! (स्तोमवाहसः) अपनी स्तुतियों द्वारा अपने जीवनों में जो आपका वहन करते हैं, अर्थात् आपके द्वारा प्राप्त प्रेरणाओं से जो जीवनयात्रा करते हैं, ऐसे जो (कण्वासः) मेधावी उपासक (ब्रह्मभिः) ब्रह्मसम्बन्धो स्तुतियों द्वारा (त्वा) आपको (आ यच्छन्ति) पूर्णतया नियन्त्रित कर लेते हैं, स्वाभिमुख कर लेते हैं,—ऐसे उपासक ही आप से प्रार्थना कर सकते हैं कि (आ गहि) आप आइये, हमारे हृदयों में सदा निवास करते रहिये।

[रुमे=रु (शब्दे)+मा (लक्ष्मी)। रुशमे=रु (शब्दे)+शम (शान्त)। श्यावके=श्यैङ् गतौ।]

सूक्त १२१

१-२ वसिष्ठः । इन्द्रः । प्रगाथः ।

७२२. अभि त्वा शूर नोनुमोऽदुग्धा इव धेनवः ।
ईशानमस्य जगतः स्वर्दृशमीशानमिन्द्र तस्थुषः ॥१॥

(शूर) हे पराक्रमशील परमेश्वर ! हम (त्वा अभि) आप के प्रति

(नोनुमः) वारं-वार स्तुतिवचन उच्चारित करते हैं, (इव) जैसे कि (अदुग्धाः) न दुही गई (धेनवः) गौएं अपने बछड़ों के प्रति हम्भारव करती हैं। हे परमेश्वर! आप (अस्य) इस (जगतः) जङ्गम अर्थात् प्राणी-जगत् के (ईशानम्) अधीश्वर हैं, (स्वर्दृशम्) आप आदित्य-सदृश ज्योतिर्मय हैं। (इन्द्र) हे परमेश्वर! (तस्थुषः) स्थावर जगत् के भी आप (ईशानम्) अधीश्वर हैं।

७२३. न त्वावाँ अन्यो दिव्यो न पार्थिवो न जातो न जनिष्यते।
अश्वायन्तो मघवन्निन्द्र वाजिनो गव्यन्तस्त्वा हवामहे॥२॥

हे प्रभो! (त्वावान्) आपके सदृश (अन्यः) अन्य कोई द्युलोक का पदार्थ नहीं, (न) और न (पार्थिवः) पृथिवी का पदार्थ है। आपके सदृश (न जातः) न कोई पैदा हुआ है, और (न जनिष्यते) न कोई पैदा होगा। (मघवन् इन्द्र) हे सम्पत्तिशाली परमेश्वर! (वाजिनः) आप द्वारा शक्ति पाकर हम, (अश्वायन्तः) मानसिक बल और (गव्यन्तः) ऐन्द्रियिक शक्तियां चाहते हुए, (त्वा हवामहे) आप का आह्वान करते हैं।

[अश्व =मन। गौः=इन्द्रियां (उणादिकोष २।६८) रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़।]

सूक्त १२२

१-३ शुनःशेपः। इन्द्रः। गायत्री।

७२४. रेवतीर्नः सधमाद इन्द्रे सन्तु तुविवाजाः।
क्षुमन्तो याभिर्मदेम॥१॥

(नः) हमारी (रेवतीः) धनसम्पत्-वाली प्रजाएं, (सधमादे) हमारे साथ उपासनायज्ञ में मिलकर उपासना की मस्ती में (तुविवाजाः) बहुत आध्यात्मिक-बल प्राप्त कर, (इन्द्रे सन्तु) परमेश्वर में आत्मसमर्पण करती रहें। (याभिः) जिन प्रजाओं द्वारा हम उपासक, (क्षुमन्तः) अन्नादि-सामग्री पाकर, (मदेम) प्रसन्न रहें। [क्षु=अन्नम् (निघ० २।७)।]

७२५. आ घ त्वावान् त्मनाप्त स्तोतृभ्यो धृष्णवियानः।
ऋणोरक्षं न चक्र्योः॥२॥

(धृष्णो) हे विघ्नों का पराभव करनेवाले प्रभो! (स्तोतृभ्यः) स्तोताओं की प्रसन्नता के लिये, उन के हृदयों में (इयानः) आते हुए, प्रकट होते हुए आप, (त्मना) स्वयमेव, (आप्तः) उन्हें प्राप्त होते हैं। (त्वावान्) इस कार्य में आप अपने-सदृश ही हैं। (न) जैसे बढ़ई, (चक्र्योः) रथ के दो चक्रों में (अक्षम्) धुरी डालकर, उन्हें (आ ऋणोः) साथ-साथ गति करनेवाले बना देता है, वैसे ही आप स्तोताओं में ज्ञान की धुरी डालकर, उन्हें आप अपने-साथ गति करने योग्य कर देते हैं,—(घ) यह निश्चित है। [अक्षम्=An axis; knowledge (आपटे)। ऋणोः=ऋण् गतौ। त्वावान्="युष्मदस्मद्भ्यां छन्दसि सादृश्ये उपसंख्यानम्" (अ० ५।२।३९ पर वार्तिक)—इति वतुप्।]

७२६. आ यद् दुवः शतक्रतवा कामं जरितॄणाम्।
ऋणोरक्षं न शचीभिः॥३॥

(शतक्रतो) हे सैंकड़ों अद्भुत कर्मोंवाले प्रभो! आप ही (जरितॄणाम्) स्तोताओं की (दुवः) सेवाओं को, और (यद् कामम्) जो उन का काम्य मोक्ष है,— इन दोनों को (आ ऋणोः) परस्पर सम्बद्ध करते हैं, (न) जैसे कि बढ़ई (शचीभिः) अपनी कारीगरी के कर्मों द्वारा (अक्षम्) रथ के दो चक्रों में धुरी डालकर उन्हें (आ ऋणोः) परस्पर सम्बन्ध कर देता है।

[दुवः=दुवस्यति परिचरणकर्मा (निघ० ३।५)। शचीभिः=कर्मनाम (निघ० २।१)।]

सूक्त १२३

१-२ कुत्सः। सूर्यः। त्रिष्टुप्।

७२७. तत् सूर्यस्य देवत्वं तन्महित्वं मध्या कर्तोर्विततं सं जभार।
यदेदयुक्त हरितः सधस्थादाद् रात्री वासस्तनुते सिमस्मै॥१॥

(सूर्यस्य) सूर्य की (तत् देवत्वम्) वह दिव्यता, तथा (तत्) वह (महित्वम्) महिमा है, (यत्) जो कि वह (कर्तोः मध्ये) किये जाते हुए कर्मों के (मध्या) मध्य में ही, (विततम्) फैले हुए रश्मिसमूह का (सं जभार) संहार कर लेता है। (यदा इत्) जब ही (सधस्थात्) नक्षत्र तारागणों के सहस्थान द्युलोक से सूर्य, (हरितः) ओषधि-वनस्पतियों को हरा-भरा करने

वाली रश्मियों को (अयुक्त) मानो अपने साथ सम्बद्ध कर लेता है, (आत् इत्) तदनन्तर ही (रात्री) रात (सिमस्मै) समग्र पृथिवी पर (वासः) मानो अपना आवरण (तनुते) फैला देती है।

[मन्त्र में सूर्य द्वारा सूर्यों के सूर्य परमेश्वर का भी वर्णन अभिप्रेत है। परमेश्वर जब संसार से अपनी शक्तियां हर लेता है, तब प्रलय-रात्री समग्र-जगत् पर आवरण डाल देती है।]

७२८. तन्मित्रस्य वरुणस्याभिचक्षे सूर्यो रूपं कृणुते द्योरुपस्थे।
अनन्तमन्यद् रुशदस्य पाजः कृष्णमन्यद्धरितः सं भरन्ति ॥२॥

(सूर्यः) सूर्य (द्योः) द्युलोक की (उपस्थे) गोद में स्थित हुआ, (रूपम्) अपने रूप को (कृणुते) प्रकट करता है। यही सूर्य (मित्रस्य) दिन के और (वरुणस्य) रात्रि के (तत् रूपम्) उस-उस रूप को (अभिचक्षे) दर्शाता है। (अस्य) इस सूर्य का (पाजः) बल (अनन्तम्) असीम है। (रुशत्) चमकता दिन (अन्यत्) भिन्न है, और (कृष्णम्) काली रात्रि (अन्यत्) भिन्न है। इन दोनों को (हरितः) सूर्यरश्मियां, (संभरन्ति) प्रकट करती हैं, अपनी उपस्थिति तथा अनुपस्थिति द्वारा।

[अभिचक्षे=चक्षिङ् दर्शनेऽपि। संभरन्ति=सूर्य-रश्मियां अपनी उपस्थिति द्वारा दिन को परिपुष्ट (सम्+भृ) करती हैं, और ये ही रश्मियां जब संहृत (सम्+हृ)हो जाती हैं, तो रात्रि को प्रकट करती हैं।]

सूक्त १२४

१-३ वामदेवः; ४-६ भुवनः। इन्द्रः। १-२ गायत्री; ३ पादनिचृत्; ४-६ त्रिष्टुप्।

७२९. कया नश्चित्र आ भुवदूती सदावृधः सखा।
कया शचिष्ठया वृता ॥१॥

(चित्रः) अद्भुत स्वरूपवाला परमेश्वर, जो कि (नः) हमें (सदावृधः) सदा बढ़ानेवाला (सखा) सखा है, वह (कया) किस रक्षाविधि से (नः आ भुवत्) हमारे सब ओर विद्यमान है? । उत्तर—(कया) सुखमयी (शचिष्ठया) तथा अत्यन्त प्रज्ञामयी (वृता) वर्तावविधि द्वारा वह हमारे सब ओर विद्यमान है।

७३०. कस्त्वा सत्यो मदानां मंहिष्ठो मत्सदन्धसः।
दृळ्हा चिदारुजे वसु ॥२॥

(कः) कौन है जो (त्वा) तुझे (अन्धसः) आध्यात्मिक अन्न अर्थात् आनन्दरस से (मत्सत्) मस्ताना बना देता है? और कौन है जो कि तुझे (दृळ्हा) सुदृढ़ (वसु) आध्यात्मिक-सम्पत्तियां प्रदान करता है, ताकि तू (आरुजे) पाप-गढ़ों को तोड़-फोड़ सके?। उत्तर—वह है (मदानाम्) आध्यात्मिक-मस्तियों का (मंहिष्ठः) सर्वश्रेष्ठ प्रदाता (सत्यः) सत्यस्वरूप परमेश्वर।

७३१. अभी षु णः सखीनामविता जरितॄणाम्।
शतं भवास्यूतिभिः ॥३॥

हे परमेश्वर! आप (नः) हम (सखीनाम्) सखाओं, और (जरितॄणाम्) स्तोताओं के (सु) अच्छी प्रकार से (अविता) रक्षक हैं, और (ऊतिभिः) रक्षाओं की दृष्टि से (शतम्) आप सैकड़ों प्रकार से हमारे रक्षक (अभि भवासि) हो जाते हैं।

७३२. इमा नु कं भुवना सीषधामेन्द्रश्च विश्वे च देवाः।
यज्ञं च नस्तन्वं च प्रजां चादित्यैरिन्द्रः सह चीक्लृपाति ॥४॥

हम (इमा भुवना) इन शारीरिक भुवनों को,—पैरों, जङ्घाओं, उदर, छाती, हृदय, इन्द्रियों और मस्तिष्क को,—(नु) शीघ्र (सीषधाम) योग-साधनाओं द्वारा सिद्ध करते हैं, वश में करते हैं, (इन्द्रः) परमेश्वर (च) और (विश्वे देवाः) सब दिव्यगुण तथा उच्चकोटि के दिव्य उपासक, हमारी इस साधना को (कम्) सुखपूर्वक सिद्ध करें। (नः यज्ञं च) हमारे उपासना-यज्ञों को (च तन्वम्) और हमारे शरीरों को, (च प्रजाम्) और हमारी सन्तानों को (इन्द्रः) परमेश्वर (आदित्यैः सह) आदित्य ब्रह्मचारी उपासकों की सहायता द्वारा, (चीक्लृपाति) समर्थ करे।

७३३. आदित्यैरिन्द्रः सगणो मरुद्भिरस्माकं भूत्वविता तनूनाम्।
हत्वाय देवा असुरान् यदायन् देवा देवत्वमभि रक्षमाणाः ॥५॥

(इन्द्रः) परमेश्वर (आदित्यैः) आदित्य ब्रह्मचारियों, और(मरुद्भिः)

उपासना-यज्ञों के ऋत्विजों के द्वारा, (सगणः) इन का संगी होकर, (अस्माकम्) हमारे (तनूनाम्) स्थूलशरीरों, सूक्ष्मशरीरों, और कारण-शरीरों का (अविता भूतु) रक्षक हो,—(यद्) जब कि (देवाः) दिव्य उपासक, (देवत्वम्) अपनी दिव्यता की (अभि रक्षमाणाः) रक्षा करते हुए, (असुरान् हत्वाय) आसुरी-विचारों और आसुरी-कर्मों का हनन करके (देवत्वम् आयन्) दिव्यता को प्राप्त हो जाते, और (देवाः) देव बन जाते हैं। [मरुद्भिः=मरुतः ऋत्विङ्नाम (निघ० ३।१८) ।]

७३४. प्रत्यञ्चमर्कमनयञ्छचीभिरादित् स्वधामिषिरां पर्यपश्यन् ।
अया वाजं देवहितं सनेम मदेम शतहिमाः सुवीराः ॥६॥

(प्रत्यञ्चम्) प्रत्येक पदार्थ में व्याप्त, (अर्कम्) अर्चनीय परमेश्वर को, उपासक (शचीभिः) निज स्तुतियों, कर्मों तथा प्रज्ञाओं द्वारा, (अनयन्) स्वाभिमुख कर लेते हैं (आत् इत्) तदनन्तर ही (इषिराम्) अभीष्ट (स्वधाम्) मोक्ष-रूपी स्वादु अन्न का (पर्यपश्यन्) लाभ करते हैं। (अया) इस रीति द्वारा (देवहितम्) परमेश्वर-देव द्वारा प्रदत्त (वाजम्) बल को, (सनेम) हम पाते हैं, और (सुवीराः) श्रेष्ठसन्तानोंवाले हम (शतहिमाः) सौ वर्षों तक (मदेम) प्रसन्न रहते हैं।

सूक्त १२५

१-७ सुकीर्तिः । १-३,६-७ इन्द्रः; ४-५ अश्विनौ । १-३,५-७ त्रिष्टुप्; ४ अनुष्टुप् ।

७३५. अपेन्द्र प्राचो मघवन्नमित्रानपापाचो अभिभूते नुदस्व ।
अपोदीचो अप शूराधराच उरौ यथा तव शर्मन् मदेम ॥१॥

(मघवन्)हे सम्पत्तिशाली, (इन्द्र)सम्राट् आप! हमारे (प्राचः) पूर्व-दिशा के, (अमित्रान्) स्नेह न करनेवाले शत्रुओं को (अप नुदस्व) परे धकेलिये। (अभिभूते) हे पराभव करनेवाले ! (अपाचः) पश्चिम दिशा के अमित्रों को (अप) परे धकेलिये। (उदीचः) उत्तर दिशा के अमित्रों को (अप) परे धकेलिये। (शूर) हे पराक्रमी ! (अधराचः) दक्षिण दिशा के अमित्रों को (अप) परे धकेलिये, (यथा) जिस प्रकार कि (तव) आप के (उरौ शर्मन्) विस्तृत राष्ट्र में हम प्रजाजन (मदेम) प्रसन्न तथा आनन्दित रहें। [शर्मन्=गृहम् (निघ० ३।४), अर्थात् राष्ट्ररूपी गृह ।]

७३६. कुविदङ्ग यवमन्तो यवं चिद् यथा दान्त्यनुपूर्वं वियूय ।
इहेहैषां कृणुहि भोजनानि ये बर्हिषो नमोवृक्तिं न जग्मुः ॥२॥

(अङ्ग) हे प्रिय सम्राट् ! (यथा) जिस तरह (यवमन्तः)जौ आदि के खेतों के स्वामी (वियूय) मिलकर (अनुपूर्वम्) क्रमशः(कुवित्) बहुमात्रा में (यवं चित्) जौ आदि को (दान्ति) काट लेते हैं, (ये) और जो (बर्हिषः) कटे (नमः) अन्न के दान का (वृक्तिम्) वर्जन (न जग्मुः) नहीं करते, अर्थात् जो "कर-रूप" में अन्न का प्रदान राष्ट्र के लिये करते रहते हैं, (एषाम्) ऐसे लोगों के (भोजनानि) भोजनों की व्यवस्था आप (इह-इह) राष्ट्र में सर्वत्र (कृणुहि) कीजिये। [अर्थात् जो कटे-अन्न का नियत अंश, कर-रूप में प्रदान नहीं करते, उनकी भोज्य-सामग्री का आप अपहरण कर लें।]

७३७. नहि स्थूर्यृतुथा यातमस्ति नोत श्रवो विविदे संगमेषु ।
गव्यन्त इन्द्रं सख्याय विप्रा अश्वायन्तो वृषणं वाजयन्तः ॥३॥

(स्थूरि=स्थूरी) बैलजुता हल (ऋतुथा) ऋतु के अनुसार, यदि खेतों में (नहि)नहीं (यातम् अस्ति) चलता, तो अन्न के अभाव से (संगमेषु) सामाजिक-मेलनों में, या युद्धों के निमित्त, (श्रवः) अन्न-सामग्री (न विविदे) नहीं प्राप्त होती। (गव्यन्तः) गौएं चाहते हुए, और (अश्वायन्तः) अश्व चाहते हुए हम (विप्राः) मेधावी प्रजाजन या किसान (सख्याय) राजा और प्रजा में परस्पर सखिभाव को बनाए रखने के लिये, (वृषणम्) जलों की वर्षा करनेवाले, प्रभूत जल की व्यवस्था करनेवाले (इन्द्रम्) सम्राट को (वाजयन्तः) अन्नों और बलों से सम्पन्न करना चाहते हैं।

[स्थूरः=Bull (आपटे) । वाजः=अन्नम् (निघ० २।७); बलम् (निघ० २।९)। बिना खेती के न गौएं मिल सकती हैं, न अश्व। वृषणम्=यज्ञों और नहरों आदि द्वारा जल-सेचन का प्रबन्ध करनेवाला सम्राट् ।]

७३८. युवं सुराममश्विना नमुचावासुरे सचा ।
विपिपाना शुभस्पती इन्द्रं कर्मस्वावतम् ॥४॥

(आसुरे) मेघ-सम्बन्धी (नमुचौ) जल के मोचन न होने पर अर्थात् वर्षा के अभाव में (अश्विना) अश्वों से सम्पन्न, हे प्रधानमन्त्री तथा प्रधान सेनापति ! (युवम्) तुम दोनों (सचा) परस्पर के सहयोग द्वारा

(सुरामम्) उत्तम तथा रमणीय राष्ट्र की पूर्णतया रक्षा करो। तुम दोनों (विपिपानौ) विशेषतया राष्ट्र की रक्षा करनेवाले, तथा (शुभस्पती) राष्ट्र के शुभ कर्मों के रक्षक हो। और (कर्मसु) सम्राट् के कर्तव्य-कर्मों में (इन्द्रम्) सम्राट् को (आवतम्) पूर्णतया रक्षा करो।

[असुरः=मेघः (निघ० १।१०)।]

७३९. पुत्रमिव पितरावश्विनोभेन्द्रावथुः काव्यैर्दंसनाभिः।
यत् सुरामं व्यपिबः शचीभिः सरस्वती त्वा मघवन्नभिष्णक् ॥५॥

(इव) जैसे (पितरौ) माता-पिता (पुत्रम्) पुत्र की (अवथुः) रक्षा करते हैं, वैसे (इन्द्र) हे सम्राट्! (उभा अश्विना) दोनों प्रधान-मन्त्री तथा प्रधान सेनापति (काव्यैः) कवि अर्थात् वेद के कवि परमेश्वर द्वारा प्रोक्त (दंसनाभिः) राष्ट्रिय-कर्मों द्वारा (अवथुः) आप की रक्षा करते हैं। (यत्) जो आपने (शचीभिः) निज कर्तव्यों तथा बुद्धिमत्ता द्वारा (सुरामम्) उत्तम तथा रमणीय राष्ट्र को (व्यपिबः) जल पिलाया है, अर्थात् जलपान तथा कृषि आदि के लिये जल की विशेष व्यवस्था कर दी है। (मघवन्) हे सम्पत्तिशालिन् सम्राट्! (सरस्वती) सरस वेदवाणी (त्वा) आपको (अभिष्णक्) यथार्थ ज्ञान द्वारा स्नान कराती रहे, या आपके अज्ञान-रोग की चिकित्सा करती रहे।

७४०. इन्द्रः सुत्रामा स्ववाँ अवोभिः सुमृडीको भवतु विश्ववेदाः।
बाधतां द्वेषो अभयं नः कृणोतु सुवीर्यस्य पतयः स्याम ॥६॥

(सुत्रामा) उत्तम-रक्षक, (स्ववान्) निज राष्ट्रोत्पन्न या सम्पत्तिशाली, (विश्ववेदाः) राष्ट्र के सब कर्तव्यों का ज्ञाता (इन्द्रः) सम्राट्, (अवोभिः) रक्षाओं द्वारा, (सुमृडीकः भवतु) उत्तम सुखदायक हो। वह (द्वेषः) हमारे दुश्मनों का (बाधताम्) बाधक हो, (नः) और हमें (अभयं कृणोतु) निर्भय कर दे। हम (सुवीर्यस्य) उत्तम वीरता के (पतयः स्याम) स्वामी बनें।

७४१. स सुत्रामा स्ववाँ इन्द्रो अस्मदाराच्चिद् द्वेषः सनुतर्युयोतु।
तस्य वयं सुमतौ यज्ञियस्यापि भद्रे सौमनसे स्याम ॥७॥

(सः) वह (सुत्रामा) सुरक्षा करनेवाला, (स्ववान्) निज राष्ट्रोत्पन्न या सम्पत्तिशाली (इन्द्रः) सम्राट्, (सनुतः) छिपे हुए, (द्वेषः) हमारे राष्ट्र के दुश्मनों को, (अस्मत्) हम प्रजाजनों से (आरात् युयोतु) दूर कर

दे, पृथक् कर दे। (यज्ञियस्य) राष्ट्र-यज्ञ का सम्पादन करनेवाले (तस्य) उस सम्राट् की (सुमतौ) सुमति में (वयं स्याम) हम प्रजाजन रहें। (अपि) तथा उसकी (भद्रे सौमनसे) कल्याणकारी तथा सुखकारी प्रसन्नता में रहें।

[सनुतः=अन्तर्हितनाम (निघ० ३।२५)।]

सूक्त १२६

(१)

१-२३ वृषाकपिः, इन्द्राणी च। इन्द्रः। पङ्क्तिः।

७४२. वि हि सोतोरसृक्षत नेन्द्रं देवममंसत।
यत्रामदद् वृषाकपिरर्यः पुष्टेषु मत्सखा विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥१॥

जो लोग अर्थात् नास्तिक (इन्द्रं देवम्) परमेश्वर-देव को (न अमंसत) नहीं मानते, वे (हि) निश्चय से, (सोतोः) भक्तिरस के निष्पादन का (वि असृक्षत) विसर्जन कर देते हैं, अर्थात् परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना उपासना तथा समर्पण नहीं करते। वस्तुतः परमेश्वर-देव वह है (यत्र) जिस के आश्रय में रहकर, (वृषाकपिः) परमेश्वर पर भक्तिरस की वर्षा करनेवाला, तथा कामादि को मानो कम्पा देनेवाला, (अर्यः) तथा इन्द्रियों और मन का स्वामी जीवात्मा (अमदत्) हर्षित तथा प्रसन्न होता है। (इन्द्रः) परमेश्वर (विश्वस्मात्) संसार की समग्र शक्तियों से (उत्तरः) उत्कृष्ट है। वह परमेश्वर (पुष्टेषु) संसार की परिपुष्ट शक्तियों में (उत्तरः) सर्वातिशायी परिपुष्ट शक्तियोंवाला है। (मत्सखा) और मुझ जीवात्मा का सखा है।

[सोतोः=सु+तोसुन्, तुमुनर्थे। मत्सखा=मुझ वृषाकपि का सखा। जीवात्मा का असली सखा परमेश्वर है, न कि प्रकृति। इसी प्रकार परमेश्वर का असली सखा है जीवात्मा। इसी जीवात्मा के भोगों तथा मोक्ष के लिये परमेश्वर जगद्रचना कर रहा है। योग (२।२१) में कहा है कि "तदर्थः एव दृश्यस्यात्मा"। अर्थात् यह समग्र दृश्य-जगत् जीवात्मा के भोग और अन्त में मोक्ष के लिये है। जीवात्मा और परमात्मा परस्पर सखा हैं, इस सम्बन्ध में मन्त्र निम्नलिखित हैं। यथा "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया०" (अथर्ववेद ९।९।२०)।]

७४३. परा हीन्द्र धावसि वृषाकपेरति व्यथिः ।
नो अह प्र विन्दस्यन्यत्र सोमपीतये विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥२॥

(इन्द्र) हे परमेश्वर ! आप अभी तक (वृषाकपेः) वृषाकपि-सखा से (परा हि धावसि) परे ही रहते हैं, (अति व्यथिः) इस से वृषाकपि अति-व्यथा अनुभव कर रहा है। परन्तु हे परमेश्वर ! (अन्यत्र) वृषाकपि से भिन्न किसी को आप (सोमपीतये) भक्तिरस के पान के लिये, (अह) निश्चय से, (नो प्र विन्दसि) नहीं प्राप्त कर सकेंगे । (विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः) परमेश्वर सर्वोत्कृष्ट है ।

७४४. किमयं त्वां वृषाकपिश्चकार हरितो मृगः ।
यस्मा इरस्यसीदु न्व१र्यो वा पुष्टिमद् वसु विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥३॥

हे परमेश्वर ! (अयं वृषाकपिः) इस वृषाकपि ने (त्वाम्) आपके प्रति (किं चकार) क्या अपराध किया है ?, (किं हरितः मृगः) क्या यह विषयों से हरा हुआ जंगली पशु है ? (यस्मै इत् उ) जिस वृषाकपि के लिये ही आप (इरस्यसि) मोक्षरूपी अन्न चाहते हैं, (वा पुष्टिमद् वसु) तथा परिपुष्ट-सम्पत्तियां चाहते हैं, वह तो (नु) निश्चय से (अर्यः) इन्द्रियों का विजेता स्वामी है। (विश्वस्मात्०) पूर्ववत् ।

[हरितः=हृतः । मृगः=An animal in general । **इरस्यसि**= **इरा**=**अन्नम्** (निघ० २।७)+सुक्+क्यच्+सि । **"सर्वप्रातिपदिकानां क्यचि लालसायां सुगसुगौ"**(अष्टा० ७।१।५१ पर वार्तिक) द्वारा "सुक्" । यथा—दधिस्यति, मधुस्यति । अर्यः=स्वामी । अथवा हरितः=हरः हरणं विषयैः जातः यस्य =हर+इतच् ।]

(२)

७४५. यामिमं त्वं वृषाकपिं प्रियमिन्द्राभिरक्षसि ।
श्वा न्वस्य जम्भिषदपि कर्णे वराहयुर्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥४॥

(इन्द्र) हे परमेश्वर ! (त्वम्) आप, (यम् इमम्) जिस इस (प्रियम्) प्रिय (वृषाकपिम्) वृषाकपि की (अभि रक्षसि) रक्षा करते हैं, मानो (अस्य कर्णे अपि) इस के कान में भी (नु) निश्चय से (श्वा) कुत्ते

ने (जम्भिषत्) काट लिया है, (वराहयुः) जो कुत्ता कि वराह का पीछा करता है । (विश्वस्मात्०) पूर्ववत् ।

["श्वा" का अर्थ है—कुत्ता, और वराह का अर्थ है—सूअर । सूअर महा-अपवित्र होता है, और कुत्ता कुछ कम अपवित्र । अपवित्रता में कुत्ता अनुगामी है सूअर का । इसलिये कुत्ते को वराहयुः कहा है । वराहयु का अथ है—"वराहमनु याति," जो कि वराह का अनुगामी है । **वराहयुः**= **वराह+या+कुः; यथा मृगयुः** (उणादि कोष १।३७) । कुत्ता लोभी होता है, इसी लिये कुत्ते की भूख के लिये अंग्रेजी में "c·nine Appetite शब्द का प्रयोग होता है । "कुत्ते ने काट लिया"—इस का यहां अभिप्राय है—"सांसारिक लोभों ने काट लिया" । मन्त्र में "श्वा" शब्द का अभिप्राय है -लोभ । कुत्ते की दो प्रवृत्तियों का निर्देश मन्त्र में हुआ है । "वराहयु" शब्द द्वारा अपवित्रता का, और "श्वा" द्वारा लोभ का । आध्यात्मिक-अभ्यास का पहला प्रक्रम श्रवण से आरम्भ होता है,तदनन्तर मनन और निदिध्यासन का । जो व्यक्ति श्रवण नहीं करता, मानो कुत्ते ने उस का कान काट लिया है, अर्थात् सांसारिक लोभों में लिप्त तथा रत रहने के कारण तथा अपवित्र आचरण के कारण वह श्रवण-मनन आदि से रहित हुआ-हुआ है । कान का काम है श्रवण करना । कान काटा गया, तो श्रवण नहीं हो सकता । मन्त्र में कान द्वारा आध्यात्मिक कान का वर्णन है । जैसे कहा है—**"उत त्वः शृण्वन् न शृणोत्येनाम्"** । (ऋ० १०।७१।४) । मन्त्रों में "श्वा" शब्द का लाक्षणिक प्रयोग भी हुआ है । यथा—**"श्वा इव"** अथर्व० ४।३७।११; तथा **"श्वयातुम्"**(अथर्व० ८।४।३२)। आधिदैविक दृष्टि में निरुक्त में 'वृषाकपि' का अर्थ सूर्य कहा है (१२।३।२७)। ज्योतिषशास्त्र की दृष्टि से "श्वा" का अर्थ है Dogstar । ogstar का पारिभाषिक नाम है Sirius । इसे canicula भी कहते हैं । द्युलोक में यह तारा सर्वाधिक प्रकाशमानमान है । यह canis major नक्षत्र-मण्डल में स्थित है, जिसे कि great-Dog भी कहते हैं । Dogstar का उदय, जब सूर्योदय समकालीन होता है, तो मानो ᷊ogstar ने सूर्य अर्थात् वृषाकपि का कान काट लिया है । Dog-star के उदय की दृष्टि से उतने काल को Dog-days कहते हैं, जितने काल तक यह सूर्योदय के साथ-साथ उदित होता रहता है । यह काल ३ जुलाई से ११ अगस्त तक का होता है । यह काल वर्षाकाल है । इस काल में बादलों के कारण सूर्य प्रायः छिपा रहता है । मानो "श्वा" ने इसका कान काटा है, और सूर्य पीड़ा के कारण दर्शन नहीं दे रहा । संस्कृत में Sirius

तारे को "लुब्धक" कहते हैं। लुब्धक का अर्थ है "लोभी" जो कि कुत्ते की लोभवृत्ति को दर्शाता है। इसी मांसलोभ के कारण "श्वा" ने "वृषाकपि" का कान काट लिया है।

७४६. प्रि॒या त॒ष्टानि॑ मे क॒पिर्व्य॑क्ता॒ व्य॑दूदुषत् ।
शिरो॒ न्व॑स्य राविषं॒ न सु॒गं दु॒ष्कृते॑ भुवं॒ विश्व॑स्मा॒दिन्द्र॒ उत्त॑रः॥६॥

(कपिः) कपि अर्थात् बन्दर समान वृषाकपि ने (मे) मेरे अर्थात् मुझ इन्द्राणी के (प्रिया) प्रिय और (व्यक्ता) अभिव्यक्त (तष्टानि) सुविचारित मनोभावनाओं को (व्यदूदुषत्) विशेषतया दूषित कर दिया है। इसलिये (अस्य) इस कपि अर्थात् वृषाकपि के (शिरः) शिर को,—(नु) निश्चयपूर्वक, (राविषम्) मैं इन्द्राणी ने विकृत कर दिया है, (दुष्कृते) इस दुष्कर्मी कपि अर्थात् वृषाकपि के लिये (सुगं न भुवम्) सुगमता से प्राप्त मैं नहीं हुई। (विश्वस्मात्०) पूर्ववत्।

[तष्टानि—तक्ष्=To invent, form in the mind (आपटे)। राविषम्=रुङ् रेषणे। मन्त्र ७४५ और ७४६ विशेष-विचार के योग्य हैं। मन्त्र ७४५ में "श्वा" तथा "वराहयु" द्वारा वृषाकपि को परमेश्वर द्वारा रक्षा प्राप्त करने के अयोग्य ठहराया है, क्योंकि उस में लोभ और अशुचिता विद्यमान हैं। मन्त्र ७४६ में वृषाकपि को केवल "कपि" अर्थात् बन्दर पद द्वारा स्मरण कर उस के शिर अर्थात् विचारों को विनाश योग्य ठहराया है। और कहा है कि इन्द्राणी ने जो सुविचारित निर्देश वृषाकपि को दिये थे, उन्हें वृषाकपि ने दूषित कर दिया है। इसलिये वृषाकपि के विचार दूषित हैं, और वह दुष्कर्मी बन गया है, अतः मैं इन्द्राणी उसे सुगमता से प्राप्त होने योग्य नहीं हूं। वृषाकपि को केवल कपि कह कर कपि अर्थात् बन्दरों की सी आदतवाला दर्शाया है। इस द्वारा कपि की कामुकता का निर्देश कर वृषाकपि अर्थात् जीवात्मा की कामुकता को सूचित किया गया है। जीवात्मा की यह कामुकता उसके विचारों को दूषित करके उसे दुष्कर्मी बना देती है, इस से जीवात्मा आध्यात्मिक-इन्द्राणी को प्राप्त नहीं हो सकता। कपि(=बन्दर) की कामुकता का निर्देशक मन्त्र निम्नलिखित है। यथा—

श्वेवैकः कपिरिवैकः कुमारः सर्वकेशकः।
प्रियो दृश इव भूत्वा गन्धर्वः सचते स्त्रिय-
स्तमितो नाशयामसि ब्रह्मणा वीर्यावता॥ (अथर्व० ४।३७।११)।

"कपिरिवैकः कुमारः" द्वारा कपि के सदृश कुत्सित "मार" अर्थात् कामवासना का निर्देश दिया है। इसी प्रकार "**शुनां कपिरिव दूषणः**" (अथर्व० ३।९।४) द्वारा कपि के सम्बन्ध में दूषण शब्द का प्रयोग किया है, जैसे कि मन्त्र ७४६ में "व्यदूदुषत्" द्वारा दर्शाया है। इन दृष्टियों में अर्थात् लोभ, अशुचिता, और कामुकता की दृष्टियों में मन्त्र ७४५ तथा ७४६ में "वृषाकपि" का अर्थ बदल गया है, वृषा अर्थात् वीर्य की वर्षा करनेवाला, कपि के समान कामी। ७४६ के पूर्व के मन्त्रों में वृषाकपि का सात्विक भावनावाला अर्थ दर्शा दिया गया है।

इन्द्राणी=इन्द्र की शक्ति। इन्द्र के दो अर्थ हैं—परमेश्वर, और इन्द्रियों का अधिष्ठाता जीवात्मा। परमेश्वर विभु है, और प्रभुता से सम्पन्न है। यथा—"**शच्याः पतिस्त्वमिन्द्रासि विभूः प्रभूरिति त्वोपास्महे वयम्**" (अथर्व का० १३, सू० ४ (५), मन्त्र ४७)। जीवात्मा परिच्छिन्न है, और इन्द्रियों सहित देह में रहता है। ओम् के जप तथा ओम्-वाच्य परमेश्वर के चिन्तन द्वारा जीवात्मा को दो शक्तियां प्रादुर्भूत होती हैं,—(१) जीवात्मा का विवेकज्ञान, और (२) परमेश्वर की कृपा। इन दोनों के मेल को "इन्द्राणी" कहा गया है। योगदर्शन में कहा है कि—ओम् के जप तथा ईश-चिन्तन द्वारा जीवात्मा को "प्रत्यक्-चेतना" का अधिगम होता है, तथा परमेश्वर का साक्षात्कार भी (योग १।२९)। इन दो शक्तियों के मेल को, अर्थात् इन्द्राणी को, केनोपनिषद् में "उमा" कहा है। वह "उमा" ओम् के जप तथा चिन्तन द्वारा आविर्भूत होती है। ओम्=अ+उ+म्। उमा=उ+म्+अ+आ (स्त्रीलिङ्ग)। केनोपनिषद् की कथा के अनुसार एक "यक्ष" प्रकट हुआ, जिसे जानने के लिये अग्नि वायु आदि देवता आगे बढ़े, परन्तु वे न जान सके कि यह यक्ष है क्या?। अन्त में इन्द्र(=जीवात्मा) आगे बढ़ा यक्ष को जानने के लिये। उस समय "उमा" स्त्री के रूप में आकाश में प्रकट हुई, जो कि बहुशोभमाना थी, और हिम समान शुभ्र अर्थात् सात्विक उस का रूप था। उमा ने यक्ष के सम्बन्ध में इन्द्र (=जीवात्मा) को कहा कि यह यक्ष "ब्रह्म" है। जीवात्मा को, उमा द्वारा तब ब्रह्म का ज्ञान मिलता है, जब कि जीवात्मा लोभ, अशुचिता, काम-वासना से रहित होकर ओम् का जप, तथा ओम्-वाच्य ईश्वर के चिन्तन में मग्न हो जाता है।

(३)

७४७. न मत् स्त्री सुभसत्तरा न सुयाशुतरा भुवत् ।
न मत् प्रतिच्यवीयसी न सक्थ्युद्यमीयसी विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥६॥

(मत्) मुझ इन्द्राणी से बढ़ कर (स्त्री) कोई स्त्री (सुभसत्तरा) उत्तम शोभावाली (न) नहीं है, (न) और न (सुयाशुतरा भुवत्) कार्यों को उत्तम प्रकार से तथा शीघ्रता से समाप्त करनेवाली है। (न) और न (मत्) मुझ से बढ़ कर कोई (प्रतिच्यवीयसी) प्रतिद्वन्द्वियों को च्युत अर्थात् परास्त कर सकनेवाली है, (न) और न (सक्थ्युद्यमीयमी) टांगों द्वारा अधिक उद्यम करनेवाली है। (विष्वस्मात्०) पूर्ववत् ।

[मन्त्र ७४६ की व्याख्या के प्रसङ्ग में "उमा" का वर्णन हुआ है। 'उमा' को स्त्री कहा गया है, और केनोपनिषद् में यह भी कहा है कि वह बहुशोभमाना तथा शुभ्रवर्णवाली है। 'उमा' के प्रसङ्ग में स्त्रीजाति में जो सद्गुण होने चाहियें,उन का संक्षिप्त वर्णन ७४७ वें मन्त्र से किया गया है। भसत्=भस् दीप्तौ, अर्थात् शोभावाली=इसीलिये 'भसत्' का अर्थ सूर्य भी है, क्योंकि सूर्य दीप्तिमान् है। भसद्=The sun (आपटे)।]

७४८. उवे अम्ब सुलाभिके यथेवाङ्ग भविष्यति ।
भसन्मे अम्ब सक्थि मे शिरो मे वीव हृष्यति विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥७॥

(उवे अम्ब) हे माता ! (सुलाभिके) हे सुगमता से लाभ पहुंचानेवाली माता !, (अङ्ग) हे प्यारी माता ! (यथा इव) जैसा आप चाहेंगी वैसा ही (भविष्यति) होगा, अर्थात् वैसा ही मैं करूंगी। हे माता ! आप की आज्ञा के पालन में (मे) मेरी (भसत्, सक्थि शिरः) अङ्ग-प्रत्यङ्ग (वि) विशेषरूप में (इव) मानो (हृष्यति) प्रसन्न हो जाते हैं, हर्ष प्राप्त करते हैं। (विश्वस्मात्०) पूर्ववत् ।

[कन्या का माता के प्रति कैसा व्यवहार होना चाहिये,—इस का उत्तम वर्णन मन्त्र में है।]

७४९. किं सुबाहो स्वङ्गुरे पृथुष्टो पृथुजाघने ।
किं शूरपत्नि नस्त्वमभ्यमीषि वृषाकपिं विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥८॥

(सुबाहो) हे सुन्दर बाहुओंवाली ! (स्वङ्गुरे) हे उत्तम अङ्गुलियोंवाली ! (पृथुष्टो) हे महाकीर्त्तिवाली ! (पृथुजाघने) हे बड़ी कटिवाली! (शूरपत्नि) हे शूरवीर की पत्नी ! या स्वयं शूरवीरे ! (त्वम् किम्) तू क्यों (नः) हमारे (वृषाकपिम्) भक्तिरसवाले, और पापों को कम्पा देनेवाले सच्चरित्र पुत्र को (अभ्यमीषि) बदनाम करती है ? (विश्वस्मात्०) पूर्ववत् । [किसी स्त्री को नहीं चाहिये कि वह किसी के सच्चरित्र पुत्र पर झूठा दोषारोपण करे।]

७५०. अवीरामिव मामयं शरारुरभि मन्यते ।
उताहमस्मि वीरिणीन्द्रपत्नी मरुत्सखा विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥९॥

स्त्री **उत्तर** देती है कि (अयं शरारुः) यह शरारती वृषाकपि (माम्) मुझे (अवीराम् इव अभि मन्यते) ऐसा समझता है कि मानो मैं अवीरा हूं, अबला हूं। (अहम्) मैं (अस्मि) हूं (वीरिणी) स्वयं वीर, (इन्द्रपत्नी) विद्युत्-समान बलशाली पति की पत्नी, (मरुत्सखा) सभी प्रजाजन मेरे मित्र हैं। (विश्वस्मात्०) पूर्ववत् ।

[इन्द्रः="**वायु र्वा इन्द्रो वान्तरिक्षस्थानः**" (निरु० ७।२।५), अतः इन्द्र=विद्युत् । **मरुत्=मनुष्यजातिः** (उणादि कोष १।९४)। शरारुः= मन्त्र ७४९ में यह विश्वास दिलाने पर कि वृषाकपि सच्चरित है, स्त्री अपने स्त्रैण-स्वभाव के कारण वृषाकपि को फिर भी शरारु कहती है। मन्त्र में स्त्रैण-स्वभाव दर्शाया गया है।]

७५१. संहोत्रं स्म पुरा नारी समनं वाव गच्छति ।
वेधा ऋतस्य वीरिणीन्द्रपत्नी महीयते विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥१०॥

(नारी) नारी, (पुरा) सदा अर्थात् उत्सुकतापूर्वक, (संहोत्रम्) सामाजिक-यज्ञों (वाव) तथा (समनम्) सामाजिक-जीवनों अर्थात् उत्सवों-मेलों में (गच्छति स्म) जाती है। वह (ऋतस्य) सच्चाई के जीवन की (वेधाः) विधात्री है। (वीरिणी) धर्मवीरा है। (इन्द्रपत्नी) विद्युत्-सदृश बलिष्ठ क्षत्रिय-पति की पत्नी (महीयते) पूजी जाती है, विशेष महिमा प्राप्त करती है। (विश्वस्मात्०) पूर्ववत् ।

[पुरा=अविरते। Soon, ere-long, continuously (आपटे)। नारियां प्रायः भावनाप्रधान होती हैं। इसलिये धार्मिक-कृत्यों तथा

उत्सवों आदि में उत्सुकतापूर्वक जाती, तथा सच्चाई के जीवन को पसन्द करती हैं। सामाजिक-जीवनों में उन की विशेष अभिरुचि होती है—यह सब स्त्रैण-स्वभाव है।]

७५२. इन्द्राणीमासु नारिषु सुभगामहमश्रवम् ।
नह्यस्या अपरं चन जरसा मरते पतिर्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥११॥

(आसु नारीषु) इन नारियों में (इन्द्राणीम्) क्षत्रिय-पत्नी को, (अहम्) मैंने, (सुभगाम्) सौभाग्यवती (अश्रवम्) वेदों में सुना है। (अपरं चन) और भी इन्द्राणी के सम्बन्ध में मैंने सुना है कि (अस्याः) इस का (पति) क्षत्रिय पति, (जरसा) बुढ़ापे से (नहि मरते) नहीं मरता अपितु धर्मयुद्ध में आत्माहुति देकर वीर-गति प्राप्त करता है। (विश्वस्मात्०) पूर्ववत् ।

७५३. नाहमिन्द्राणि रारण सख्युर्वृषाकपेर्ऋते ।
यस्येदमप्यं हविः प्रियं देवेषु गच्छति विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥१२॥

(इन्द्राणि) हे मेरी पत्नी इन्द्राणी ! मैं तेरा पति (वृषाकपेः सख्युः) वृषाकपि-सखा के (ऋते) विना (न रारण) सुख-चैन नहीं पाता। यह वह वृषाकपि है (यस्य) जिसकी कि (प्रियम्) प्रिय (इदम्) यह (अप्यं हविः) अपने प्राणों की आहुति, (देवेषु) देवकोटि के व्यक्तियों की सेवा के निमित्त, (गच्छति) समर्पित होती रहती है। (विश्वस्मात्०) पूर्ववत् ।

[अप्यम्=प्राणमयम्। आपः="प्राणाः आपनानि इमानि षडिन्द्रियाणि विद्या सप्तमी" (निरु० १२।४।३७)। मन्त्र ७५० में इन्द्राणी ने वृषाकपि को शरारु कहा है। मन्त्र ७५३ में इन्द्राणी का पति वृषाकपि को अपना सखा कहता है, और उसकी धार्मिक प्रवृत्तियों का कथन करता है। पति के कथन पर इन्द्राणी शान्त हो जाती है। यह भी स्त्रैण-स्वभाव है। इस प्रकार मन्त्र ७४७ से ७५३ तक सद्गुण, नारी स्वभाव, क्षत्रियपति तथा उसकी पत्नी के सम्बन्ध में आनुषङ्गिक वर्णन हुआ है।]

(४)

७५४. वृषाकपायि रेवति सुपुत्र आदु सुस्नुषे ।
घसत् त इन्द्र उक्षणः प्रियं काचित्करं हविर्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥१३॥

(रेवति) हे विभूतियों की सम्पत्तिवाली ! (सुपुत्रे) हे उत्तम-पुत्रवाली !, (आत् उ) तदनन्तर (सुस्नुषे) हे उत्तम-पुत्रवधूवाली, (वृषाकपायि) वृषाकपि की माता ! (ते) तेरा (इन्द्रः) प्राप्तव्य-परमेश्वर (उक्षणः) उक्षा को (घसत्) खाता है, जो कि परमेश्वर को (प्रियं हविः) प्रिय हवि रूप है, और जो हवि कि (काचित्करम्) जीवात्मा के सुखों को चयन करती है। (विश्वस्मात्०) पूर्ववत् ।

[वृषाकपायी=वृषाकपि,जिसका वर्णन मन्त्र ७४२ से ७४४ में हुआ है, इस वृषाकपि की माता है,—श्रद्धा। योगदर्शन १।२० सूत्र के भाष्य में व्यास जी ने कहा है कि—"श्रद्धा जननीव कल्याणी योगिनं पाति" अर्थात् श्रद्धा, माता के सदृश कल्याणकारिणी होकर, योगी की रक्षा करती है। रेवति=योगदर्शन विभूतिपाद में वर्णित विभूतियां। सुपुत्रे=श्रद्धा-माता का सुपुत्र है साधु-जीवात्मा(मन्त्र ७६६)। सुस्नुषे=श्रद्धा-माता की उत्तम-पुत्रवधू है,- विवेकख्याति, जिसने कि श्रद्धा-माता को मोक्षरूपी पोता प्रदान करना है। उक्षणः=भक्तिरसवाले चित्त, जो कि अपने भक्तिरसों द्वारा परमेश्वर को सींचते रहते हैं; उक्ष= सेचने। घसत्=परमेश्वर इन भक्तिरसों को खाना है, इनका आस्वाद लेता है। परमेश्वर को "अत्ता" तथा "अन्नाद" कहते हैं; क्योंकि परमेश्वर महाप्रलय में समग्र सृष्टि को खा जाता है, मानो अपने पेट में लीन कर लेता है। उस का पेट है—अन्तरिक्ष। काचित्करम्=क(सुख)+चयन+करम्।]

७५५. उक्ष्णो हि मे पञ्चदश साकं पचन्ति विंशतिम् ।
उताहमद्मि पीव इदुभा कुक्षी पृणन्ति मे विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥१४॥

उपासक, या मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार, (मे) मुझ परमेश्वर के लिये, (पञ्चदश) १५ या (विंशतिम्) २० (उक्षणः) उक्षाओं का (साकम्) एक साथ (पचन्ति) परिपाक करते हैं। (उत) और (अहम्) मैं (अद्मि) उन्हें खा लेता हूं, (इत्) जैसे कि (पीवः) मोटा या बलवान् पुरुष, (उभौ कुक्षी) भोजन द्वारा, अपने दोनों पेटों को भर लेता है, वैसे उपर्युक्त उपासक या मन, बुद्धि, चित्त, और अहंकार उक्षाओं द्वारा (मे) मुझे (पृणन्ति) तृप्त कर देते हैं। (विश्वस्मात्) पूर्ववत् ।

[उक्षा का अभिप्राय है चित्त, जो कि भक्तिरस से आपूरित है।

अन्तःकरण चतुष्टय जब भक्तिरस से भरा हुआ हो, तो उस का प्रभाव ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों, तथा शरीर पर भी पड़ता है। जैसे कि निम्नलिखित मन्त्र में निर्दिष्ट है—

"यस्मै हस्ताभ्यां पादाभ्यां वाचा श्रोत्रेण चक्षुषा ।
यस्मै देवाः सदा बलिं प्रयच्छन्ति विमितेऽमितं
स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः" ॥ (अथर्व० १०।७।३९) ॥

अर्थात् जिस सर्वाधार के लिये, देव-लोग, अपने हाथों द्वारा, पैरों द्वारा, वाणी द्वारा, श्रोत्र द्वारा, तथा चक्षु द्वारा सदा भक्ति की भेटें देते हैं, तथा जो परिमित जगत् में अपरिमित है, उसे "स्कम्भ" जानो, वह ही सर्वाधिक सुखस्वरूप है।

इस मन्त्र के द्वारा ज्ञात होता है कि सच्चे भक्त की भक्ति उसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग को भक्ति-प्रधान बना देती है। मन्त्र ७५५ का अभिप्राय भी उद्धृत मन्त्र के अभिप्राय जैसा है। चित्त में जब भक्तिरस परिपक्व हो जाता है, तब चित्त के भक्तिरस का प्रभाव समग्र शरीर पर हो जाता है। पां ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां, तथा पांच तन्मात्राएं ये १५ तत्त्व एक-साथ मिलकर, जब परमेश्वर पर भक्तिरस सींचते हैं, तो ये १५ उक्षारूप हा जाते हैं, भक्तिरस के सिञ्चन में समर्थ हो जा हैं, **उक्षा=उक्षति सिञ्चतीति**, (उणादि कोष १।१५९)। जब इन १५ में, शरीर के पांच स्थूलभूत मिला लिये जांय, तो ये सब २० उक्षा हो जाते हैं। "शीतोष्ण-सुखदुःख" पांच तन्मात्राओं की सत्ता के कारण होते हैं। यथा —**"मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः"**(गीता २।१४)। पञ्च तन्मात्राएं जब भक्तिरस द्वारा आपूरित हो जाती हैं तब धर्मकार्यों में,—जो कि परमेश्वर के प्रसाद के निमित्त किये जाते हैं,—भक्त शीतोष्ण तथा सुखदुःख की परवाह नहीं करता। उभा कुक्षी=आमाशय तथा पक्वाशय; अथवा बैल जैसे अपने दोनों आमाशयों को भर लेता है। गौ आदि पशुओं के दो आमाशय होते हैं। पहिले एक आमाशय को वे भर लेते हैं, पीछे जुगाली करते हुए दूसरे आमाशय को वे भरते हैं।]

७८६. वृषभो न तिग्मशृङ्गोऽन्तर्यूथेषु रोरुवत् ।
मन्थस्त इन्द्र शं हृदे यं ते सुनोति भावयुर्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥१५॥

(न) जैसे (तिग्मशृङ्गः) तेज सींगोंवाला (वृषभः) वर्षक-बैल, (यूथेषु अन्तः) गौओं और बैलों के समूहों में अपने प्रतिद्वन्द्वी बैलों को हटाता हुआ, (रोरुवत्) गर्जनाएं करता है, वैसे ही हे परमेश्वर! आप (वृषभः) आनन्दरस की वर्षा करते हुए, और (तिग्मशृङ्गः) तीव्र उपायों द्वारा कामादि विघ्नों को हटाते हुए (यूथेषु अन्तः) अन्तःकरण, पञ्च तन्मात्राओं, दश इन्द्रियों, तथा पञ्चभूतों के समूहरूप शरीर में (रोरुवत्) बार-बार अन्तर्नाद गुञ्जाते हैं। (इन्द्र) हे परमेश्वर! जैसे (मन्थः) मठा (हृदे) मेरे हृदय के लिये (शम्) शान्तिदायक होता है, वैसे भक्तिरस (यम्) जिसे कि (भावयुः) भावुक-उपासक (ते) आपके लिये (सुनोति) निष्पन्न करता है,—वह भी (शम्) मेरे लिये शान्तिप्रद होता है।

(५)

७८७. न सेशे यस्य रम्बतेऽन्तरा सक्थ्या३ कपृत् ।
सेदीशे यस्य रोमशं निषेदुषो विजृम्भते विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥१६॥

(सः) वह इन्द्र अर्थात् विद्युत् (न ईशे) वर्षा की अधीश्वरी नहीं, (यस्य) जिसका कि (कपृत्) जल की पूर्त्ति करनेवाला मेघ, (सक्थ्या) आकर्षण द्वारा परस्पर संसक्त द्युलोक और भूलोक के (अन्तरा) मध्य में अर्थात् अन्तरिक्ष में (रम्बते) गर्जता रहता है। (स इत्) अपितु वह ही (ईशे) वर्षा का अधीश्वर है (निषेदुषः यस्य) एक स्थान में स्थित जिसका कि (रोमशम्) लोकसमूह जैसा रश्मिसमूह (विजृम्भते) विशेषरूप में सर्वत्र विचरता है, अर्थात् सूर्य का रश्मिसमूह। रश्मियों की गर्मी के कारण बादल बनते, और बरसते हैं। (विश्वस्मात्……) पूर्ववत्।

[रम्बते=रबि शब्दे। **सक्थ्यौ=सजतीति सक्थि** (उणादि कोष ३।१५४)। कपृत्=क (जल)+पृत् (पॄ पूरणे); जल के अभाव की पूर्त्ति करनेवाला मेघ। रोमशम्=इसके द्वारा वृषाकपि अर्थात् सूर्य का वर्णन है, जिसे कि उपनिषदों में हिरण्यकेश और हिरण्यश्मश्रू कहा है। सूर्य की किरणें ही "हिरण्यमय-केश" और "हिरण्यमय-श्मश्रू" हैं, जिन्हें मन्त्र में "रोमश" अर्थात् रोम-समूह कहा है। (निषेदुषः) वैदिक विज्ञान के अनुसार सूर्य चलता नहीं, अपितु वह सौर-मण्डल में सापेक्ष स्थिति की दृष्टि से सदा एक स्थान में स्थित है। मन्त्र में पुनः "इन्द्र और वृषाकपि" का वर्णन है। इन्द्र का यहां अभिप्राय—विद्युत् है, और वृषाकपि का अभिप्राय है,—सूर्य। इन्द्र=विद्युत् (मन्त्र ७५०)। **वृषाकपि=सूर्य** (निरु० १२।३।२७)।

"वृषाकपि" शब्द में "वृषा" पद स्पष्ट दर्शा रहा है कि सूर्य वर्षा का कारण है। वर्तमान मन्त्र में भी इसकी पुष्टि की गई है। मेघ में गर्जना का कारण विद्युत् है। यह प्रसिद्ध उक्ति है कि—"जो गर्जते हैं वे बरसते नहीं"।]

७५८. न सेशे यस्य रोमशं निषेदुषो विजृम्भते ।
सेदीशे यस्य रम्बतेऽन्तरा सक्थ्या३ कपृत् विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥१७॥

(सः) वह वृषाकपि (न ईशे) वर्षा का अधीश्वर नहीं, (निषेदुषः यस्य) एक स्थान में स्थित जिस वृषाकपि का (रोमशम्) लोमसमूह-सदृश रश्मिसमूह, (विजृम्भते) विशेषरूप में सर्वत्र विचरता है, अपितु (सः) वह इन्द्र अर्थात् विद्युत् (इत्) ही (ईशे) वर्षा की अधीश्वरी है (यस्य) जिसका कि (कपृत्) जल की पूर्ति करनेवाला मेघ (सक्थ्या) आकर्षण द्वारा परस्पर संसक्त द्युलोक और भूलोक के (अन्तरा) मध्य में अर्थात् अन्तरिक्ष में (रम्बते) गर्जता है।

[यह वैज्ञानिक तथ्य है कि अन्तरिक्ष में वर्तमान मृदादि-कण जब विद्युत् द्वारा आविष्ट होते हैं, तब उन कणों पर वाष्पीभूत अन्तरिक्षस्थ जल-कण घनीभूत हो जाते हैं, तब भारी हो जाने के कारण वर्षारूप में पृथिवी पर गिरते है। सूर्य की गर्मी द्वारा तो पृथिवीस्थ जल वाष्पीभूत होकर अन्तरिक्ष में एकत्रित होता रहता है, तत्पश्चात मृदादि कणों में आविष्ट विद्युत् के कारण उन पर वाष्पीय जलकण घनीभूत होकर बरसते हैं। इसलिये उपर्युक्त दो मन्त्रों द्वारा यह निश्चित किया है कि वर्षा में इन्द्र और वृषाकपि दोनों कारण हैं।

७५९. अयमिन्द्र वृषाकपिः परस्वन्तं हतं विदत् ।
असिं सूनां नवं चरुमादेधस्यान आचितं विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥१८॥

(इन्द्र) हे इन्द्र ! (अयं वृषाकपिः) यह सूर्य, (परस्वन्तम्) दूरस्थ पृथिवी के जल को, (हतम्) ताड़ित और गतिमान् करके (विदत्) अन्तरिक्ष में विद्यमान कर देता है, (आत्) तत्पश्चात् सूर्य (आचितम्) संचित हुए मेघ की (एधस्वानः) वृद्धि करता हुआ और इसे गर्जवाता हुआ (असिम्) इसे भूमि पर फेंकना, (सूनाम्) नई उत्पत्ति करना, तथा (नवं चरुम्) भक्षण के योग्य नवान्न (विदत्) प्राप्त कराता है।(विश्वस्मात्०) पूर्ववत्।

[हतम्=हन् हिंसा,गति। सूर्य पहिले समुद्रस्थ जल को ताड़ित करता, फिर ताड़ित जल को गतिमान् कर उसे अन्तरिक्ष में विद्यमान करता है। असिम्=अस् क्षेपणे। सूनाम्=सू प्रसवे, उत्पत्तौ। एधस्वानः=एध वृद्धौ+स्वानः(स्वन शब्दे)। चरुम्=यज्ञिय अन्न चावल,जौ आदि। चर भक्षणे।]

७६०. अयमेमि विचाकशद् विचिन्वन् दासमार्यम् ।
पिबामि पाकसुत्वनोऽभि धीरमचाकशं विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥१९॥

इन्द्र अर्थात् परमेश्वर कहता है कि (अयम्) यह मैं (विचाकशत्) विवेकपूर्वक निरीक्षण करता हुआ (दासम् आर्यम्) दास और आर्य का (विचिन्वन्) विवेकपूर्वक भेद करता हुआ, (एमि) इस जगत् में आता हूं। मैं (पाकसुत्वनः) परिपक्व-भक्तिरसवाले उपासक के परिपक्व भक्तिरस का (पिबामि)पान करता हूं,उसे स्वीकार करता हूं,उसे मानो तृषित हुआ ग्रहण करता हूं। और (धीरम्)मेधावी उपासक को(अचाकशम्)पहिचानता हूं। (विश्वस्मात्०) पूर्ववत्।

[दासम् आर्यम्=वेदों में इन दो शब्दों का प्रयोग मनुष्यों की भिन्न-भिन्न दो जातियों के लिये प्रयुक्त नहीं हुआ,अपितु ये शब्द विचारों और कर्मों के भेद को ही सूचित करते हैं। यदि यह भेद जातिपरक हो तो "**कृण्वन्तो विश्वमार्यम्**" (ऋ० ९।६३।५) यह वैदिक आदेश व्यर्थ हो जायगा। क्योंकि एक जाति को दूसरी जाति में बदला नहीं जा सकता। गौ भैंस नहीं बन सकती,और न भैंस गौ बन सकती है। समग्र मनुष्य एक ही मनुष्य जाति के हैं। विचारों और कर्मों की दृष्टि से राक्षस, असुर, देव और मनुष्य कहलाते हैं। दास हैं वे जोकि उपक्षयकारी हैं,समाज को हानि पहुंचाते हैं। और आर्य हैं वे जोकि समाज का कल्याण करते, और अपने आपको ईश्वर का पुत्र मानकर ईश्वरसदृश सर्वोपकार करते हैं। आर्यः=ईश्वरपुत्रः (निरु० ६।५।२६)। **दासः=दस्यतेरुप दासयति कर्माणि** (निरु० २।५।१७)। अतः दास और आर्य का भेद जन्ममूलक नहीं, अपितु गुणकर्ममूलक है।]

७६१. धन्व च कृन्तत्रं च यत् कतिस्वित् ता वि योजना ।
नेदीयसो वृषाकपेऽस्तमेहि गृहाँ उप विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥२०॥

वृषाकपि अर्थात् उपासक जीवात्मा कहता है कि हे परमेश्वर ! (तत्) उस (धन्व च) मरुभूमि, और (तत्) उस (कृन्तत्रं च) मेघ के (वि योजना) वियोग (कति स्वित्) कितने युगों तक रहेंगे ? । परमेश्वर

उत्तर देता है कि (वृषाकपे) हे वृषाकपि ! तू (नेदीयसः गृहान्) नजदीकी रिश्तेदारों, और (अस्तम्) गृहकृत्यों में ही (उप एहि) रहता है [इसलिये धन्व और कृन्तत्र में परस्पर वियोग बने हुए हैं]।(विश्वस्माद् इन्द्र उत्तरः) तू जान कि परमेश्वर सर्वोत्कृष्ट है, [इसलिये तू मेरी ओर आ।]

[मन्त्र में धन्व है—"अधूरा उपासक", और कृन्तत्र है—"परमेश्वर"। अधूरा उपासक उपासना तो करता रहता है, परन्तु गृहबन्धुओं और गृह्यकृत्यों में प्रायः मग्न रहता है। इसलिये अधूरा उपासक चिरकाल से मरुभूमि बना पड़ा है, उस पर ब्राह्मी आनन्दरस की वर्षा नहीं होने पाई। वह परमेश्वर से पूछता है कि मेरा और आप का पारस्परिक वियोग कब तक रहेगा। परमेश्वर उसे उत्तर देता है कि जब तक तेरा मन गृहबन्धुओं और गृह्यकृत्यों में मग्न रहेगा, और जब तक तू मेरी ओर मन को नहीं लगायेगा, यह वियोग बना ही रहेगा। देख ! सर्वोत्कृष्ट तत्त्व परमेश्वर है, नकि सांसारिक धन्वे। कृन्तत्र=अन्तरिक्ष (निघ० २।६।२२)। अन्तरिक्ष-मेघ में लाक्षणिक प्रयोग।]

७६२. पुनरेहि वृषाकपे सुविता कल्पयावहै ।
य एष स्वप्ननंशनोऽस्तमेषि पथा पुनर्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥२१॥

(वृषाकपे) हे वृषाकपि ! (पुनः) तू बार-बार (एहि) मुझ परमेश्वर की ओर आ, ताकि हम दोनों एक-दूसरे के (सुविता=सुवितानि) स्वागत (कल्पयावहै) करते रहें। (य एषः) जो यह तू जब (स्वप्नंशनः) सांसारिक-भोगों के स्वप्नों को विनष्ट कर देगा, तब तू (पथा) इस योग-मार्ग द्वारा, (पुनः) बार-बार, (अस्तम्) असली घर जो मैं हूं उसे, (एषि) प्राप्त करेगा। (विश्वस्मात् इन्द्र उत्तरः) देख परमेश्वर ही सर्वोत्कृष्ट है। [सुविता=सु+इत=सु+आगत=स्वागत।]

७६३. यदुदञ्चो वृषाकपे गृहमिन्द्राजगन्तन ।
क्व स्य पुल्वघो मृगः कमगं जनयोपनो विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥२२॥

(वृषाकपे) हे वृषाकपि जीवात्मन् !, (इन्द्र) और हे परमेश्वर ! (यद्) जब तुम दोनों, (उदञ्चः) ऊपर के (गृहम्) घर में (आजगन्तन) आजाओगे, एकत्रित हो जाओगे, तब अधूरा-उपासक, जो पहिले (पुल्वघः) महापापी तथा (जनयोपनः) प्रजाजन-पीड़क (मृगः) पशु बना हुआ था,

(स्यः) वह अब (क्व) कहां रहा, कम्) कहां (अगन्) चला गया ? [अर्थात् वह परमेश्वर में लीन हो गया,] जो (विश्वस्मात् इन्द्र उत्तरः) परमेश्वर कि सर्वोत्कृष्ट है।

[उदञ्चः=अर्थात् हृदयचक्र, आज्ञाचक्र तथा सहस्रारचक्र,—ये ऊपर के चक्र हैं। इन्हें ऊपर के घर कहा गया है।]

७६४. पर्शुर्ह नाम मानवी साकं ससूव विंशतिम् ।
भद्रं भल त्यस्या अभूद् यस्या उदरमामयद् विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥२३॥

(पर्शुः) हड्डियों-पसलियोंवाली (मानवी) मानुषी-मातृदेह, (साकम्) एक साथ, (विंशतिम्) शारीरिक २० घटकों को (ससूव) जन्म देती है। (भल) हे विचारशील ! कह कि (त्यस्याः) उस माता का (भद्रम्) कल्याण (अभूत्) हो, (यस्याः) जिसका कि (उदरम्) पेट (आमयत्) गर्भकाल में तथा जन्म देने में, पीड़ित तथा रुग्ण हुआ था, और कहो कि (विश्वस्मात् इन्द्र उत्तरः) परमेश्वर सर्वोत्कृष्ट है।

[विंशतिम्—शरीर के घटक २० अवयव हैं,—५ ज्ञानेन्द्रियां, ५ कर्मेन्द्रियां, ५ तन्मात्राएं, ५ भूत। ये २० घटक-अवयव हैं शरीर के। मातृ-देह, अन्तःकरण-चतुष्टय अर्थात् मन बुद्धि चित्त और अहंकार को जन्म नहीं देती। अन्तःकरण-चतुष्टय परमेश्वरीय देन है, जीवात्मा को मोक्ष तक पहुंचाने के लिये जीवात्मा के साथ अन्तःकरण-चतुष्टय का अनादि सम्बन्ध है, और तब तक जीवात्मा के साथ जन्म-जन्मान्तरों में भी रहेगा, जब तक कि जीवात्मा मुक्ति नहीं पा लेता। इसके द्वारा वृषाकपि को यह उपदेश दिया है कि परमेश्वरीय-देन को तू परमेश्वरार्पित कर दे, तभी मरु-भूमिरूप (मन्त्र ७६१) तू, ब्रह्मानन्दरस से सींचा जाकर हरा-भरा हो सकेगा। दैहिक भोग और देह विनाशी हैं, इस लिये इनका भोग और उपचार तू उस अंश तक कर,जिस अंश तक कि ये जीवात्मा के मोक्षमार्ग में अग्रसर होने में सहायक हों। तथा साथ ही हे वृषाकपि ! तू उस मातृशक्ति का सदा कल्याण चाहा कर जिसने दुःख-कष्ट सहकर तुझे शारीरिक-जन्म दिया है, ताकि तू कर्मों के फलों को भोगता हुआ मोक्ष पा सके। मन्त्र १ से २३ तक की प्रायः आध्यात्मिक व्याख्या यहां की गई है। आधिदैविक व्याख्या नहीं की गई। [भल=भल् To see, behold (आपटे), यथा—निभालय=देख। तथा "भल" परिभाषणे। पर्शुः=पर्शुका=The rib (आपटे)। पर्शुका ह्रस्वार्थे कन्)।]

सारांश

सूक्त १२६ के २३ मन्त्रों में मुख्यरूप में इन्द्र, इन्द्राणी और वृषाकपि का वर्णन हुआ है । आध्यात्मिक दृष्टि में इन्द्र द्वारा परमेश्वर का, इन्द्राणी द्वारा ओ३म् के जप द्वारा साध्य जीवात्मा की आध्यात्मिक शक्ति का तथा परमेश्वरीय कृपा का, और वृषाकपि द्वारा जीवात्मा का वर्णन हुआ है । विषय के प्रासङ्गिक अवान्तर भेदों के कारण इन २३ मन्त्रों को ६ विभागों में विभक्त किया है—

१—मन्त्र १-३ तक में वृषाकपि को "भक्तिरसवर्षी, पापशत्रुओं को कम्पा देनेवाला, तथा इन्द्रियों का स्वामी कहकर उस का वर्णन मोक्षाधिकारी रूप में हुआ है ।

२—मन्त्र ४ और ५ में वृषाकपि का विभिन्न अर्थ लिया गया है । वह है "वृषा" अर्थात् कामुकता के कारण वीर्य की वर्षा करनेवाला, "कपि" अर्थात् बन्दर के समान कामुक; तथा "श्वा" अर्थात् कुत्ते के समान लोभी और अपवित्र । इस दृष्टि से ऐसे वृषाकपि को मोक्ष का अनधिकारी कहा है । तथा एक सुन्दर स्त्री के रूप में आध्यात्मिक-इन्द्राणी का वर्णन हुआ है ।

३—मन्त्र ६-१२ तक में इन्द्राणी के प्रसङ्गवश मानुषी स्त्री के सद्गुणों, कन्या का माता के प्रति व्यवहार, स्त्री-स्वभाव, तथा क्षत्राणी-पत्नी का वर्णन हुआ है ।

४—मन्त्र १३-१५ में इन्द्राणी को,—वृषाकपि अर्थात् भक्तिरसवर्षी तथा पाप-शत्रुओं को कम्पा देनेवाले उपासक की माता के रूप में; उत्तम-पुत्रवाली तथा उत्तम-पुत्रवधूवाली के रूप में आध्यात्मिक वर्णन करके, मन्त्र २४ वें में परमेश्वर के प्रति जीवात्मा के सर्वस्व समर्पण तथा परमेश्वरीय अन्तर्नाद का वर्णन हुआ है ।

५—मन्त्र १६-१८ में इन्द्र पद द्वारा विद्युत् और वृषाकपि द्वारा सूर्य का आधिदैविक वर्णन हुआ है ।

६—अन्त में १९-२३ मन्त्रों में उपसंहाररूप में, परमेश्वर और जीवात्मा के पारस्परिक सम्बन्धों का वर्णन हुआ है ।

इस प्रकार १२६ वें सूक्त में आध्यात्मिक, आधिदैविक, तथा आधिभौतिक—तीनों अर्थ संभव हैं । ये तीनों अर्थ गौण-मुख्यभाव से प्रायः अन्य सूक्तों के भी किये जा सकते हैं ।

अथ कुन्ताप-सूक्तानि (खिलानि)

१२७ सूक्त से १३६ सूक्त तक "कुन्ताप-सूक्त" हैं । ये सूक्त "खिल" अर्थात् परिशिष्ट हैं । महर्षि दयानन्द ने इन्हें "प्रक्षिप्त" माना है, अर्थात् मिलावट माना है । "चतुर्वेद-विषय-सूची"(वैदिक यन्त्रालय अजमेर) में उन का कथन निम्नलिखित है:—

(१) **"य एष स्वप्ननंशन इत्यादि पदार्थविद्या"** । **"अथर्ववेदे विंशम् काण्डम्"** ॥२०॥

"इति अथर्ववेदस्य सूचीपत्रम् समाप्तम्" ॥

अर्थात् "य एष स्वप्ननंशनः" (सूक्त १२६, मन्त्र २१ से) पदार्थविद्या का वर्णन है । "अथर्ववेद में २० वां काण्ड समाप्त" ।

"यह अथर्ववेद का सूचीपत्र समाप्त हुआ" ।

(२) **"भद्रेण वचसा वयम्"** (अथर्व० १२७।१४) इत्यादि; **"गोमयाद् (गोमीद्या) गोगतिरिव (गोगतिरिति)"** (अथर्व० १२९।१३) इत्यादि; **"आवलाबुकमेककम्, अलाबुकं निखातकम्"** (अथर्व० १३२।१, २) ॥१॥ इत्यादि; **"उद्भिर्यथालाबुनि"** (अथर्व १३५।२; १३५।३) इत्यादि; **"इदं राधो विभु प्रभु"** (अथर्व० १३५।९) इत्यादि; - **इति कुन्ताप-सूक्तानि समाप्तानि । परिशिष्टानि प्रक्षिप्तानीति विज्ञेयम्** ॥

अभिप्राय यह है कि सूक्त १२७,मन्त्र १४ से सूक्त १३६ की समाप्ति तक 'कुन्ताप-सूक्त' समाप्त हैं । ये परिशिष्ट हैं, प्रक्षिप्त हैं,—यह जानना चाहिये ।

(३) तथा "अथर्ववेदीय बृहदनुक्रमणी" में भी "इदं जना" (सूक्त १२७) से लेकर "यद्ध प्राचीः" (सूक्त १३७) से पूर्व तक अर्थात् २०।१२७ से १३६ सूक्तों को "खिलानि" कहा है । "खिल" का अर्थ परिशिष्ट या प्रक्षिप्त है । इन सूक्तों के मन्त्रों में, स्थान-स्थान पर पद अत्यन्त अस्पष्टार्थक हैं, तथा मन्त्रों के अभिप्राय अतिगूढ़ हैं ।

टिप्पणी—(१) **"भद्रेण वचसा वयम्"** से पूर्व **"इदं जना उप श्रुत"** (अथर्व० १२७।१) यह पाठ भी चाहिये था जो किसी कारण छूट गया है, या कम्पोजिंग में रह गया है । क्योंकि कुन्ताप-सूक्तों का प्रारम्भ **"इदं जना उप श्रुत"** से होता है, न कि **"भद्रेण वचसा वयम्"** से ।

(२) "यं एष स्वप्ननंशनः" (सूक्त १२६, मन्त्र २१) इत्यादि पदार्थ-विद्या,"—द्वारा महर्षि ने २०वें मण्डल की समाप्ति तक, अर्थात् सूक्त १४३, मन्त्र ६ तक का विषय निर्देश कर दिया हैं। परन्तु इन सूक्तों के मध्य में १२७ वें सूक्त से लेकर १३६ वें सूक्त तक "कुन्ताप-सूक्त" पठित हैं, जिन्हें कि महर्षि ने परिशिष्ट अर्थात् प्रक्षिप्त कहा है।

(३) परन्तु वह सन्दर्भ जिसमें कि "कुन्ताप सूक्तों" को परिशिष्ट अर्थात् प्रक्षिप्त कहा है, उस के अन्त में निम्नलिखित वाक्य "चतुर्वेद-विषय-सूची" में और मिलता है। यथा—"यद्वा वाणीत्यादि (सूक्त १४२, मन्त्र ४); ऋतस्येत्यादि (सूक्त १४३, मन्त्र ३); मधुमानित्यादि (सूक्त १४३, मन्त्र ८) पदार्थविद्या।" इस वाक्य द्वारा यह प्रतीत होता है कि कुन्ताप-सूक्तों के पश्चात् के सूक्त भी, अर्थात् २० वें काण्ड की समाप्ति तक २० वें काण्ड के ही भाग हैं।

सूक्त १२७

७६५. इदं जना उप श्रुत नराशंस स्तविष्यते ।
षष्टिं सहस्रा नवतिं च कौरम आ रुशमेषु दद्महे ॥१॥

(जनाः) हे प्रजाजनो ! (इदम्) यह (उप श्रुत) ध्यानपूर्वक सुनो,—(नराशंसः) नरों के सम्बन्ध में कथन (स्तविष्यते) प्रारम्भ किया जाता है। (कौरमे) पृथिवी में सदा प्रसन्नचित्त रहनेवालों में, तथा (रुशमेषु) जिनमें हिंसा आदि व्यवहार प्रशान्त हो गए हैं ऐसे योगियों में वर्तमान, (षष्टि सहस्रा) हजारों (नवतिम्) स्तुत्य और प्रशंसनीय सद्गुणों का (आ दद्महे) हम आदान करते है, ग्रहण करते हैं।

[षष्टि सहस्रा—सम्भवतः द्युलोक के प्रत्यक्ष दृष्ट सितारे संख्या में लगभग ६० हजार हों। इस महासंख्या के द्वारा महात्माओं के महासद्गुणों का कथन अभिप्रेत हो। अथवा "षष्टि" और "सहस्रा" शब्दों को यौगिकार्थ मान लिया जाय। षष्टिम्=सांसारिक भोगों की दृष्टि से मानो सोए हुए रहना; और "सहस्रा" अर्थात् योगाभ्यास में बलोपार्जन करते हुए साहस-पूर्वक आगे-आगे बढ़ते जाना। ये सद्गुण महात्माओं के हैं। षष्टिम्=षस् स्वप्ने। सहस्रा=सहस् बलम् (निघ० २।९), तथा साहस। कौरमे=कौ पृथिव्यां रमते; अलुक् समास। रुशमेषु=रु (रुङ् रेषणे)+शम (प्रशान्त)।

नवतिम्=नु स्तुतौ। नु+अतिः, बाहुलकात् 'अतिः' प्रत्ययः (उणादि कोष ४।६०)।]

७६६. उष्ट्रा यस्य प्रवाहणो वधूमन्तो द्विर्दश ।
वर्ष्मा रथस्य नि जिहीडते दिव ईषमाणा उपस्पृशः ॥२॥

(उष्ट्राः) सांसारिक दाह-सन्ताप से रक्षा करनेवाले, (वधूमन्तः) सुखों की प्राप्ति करानेवाले, (द्विर्दश) दोगुना-दस, (यस्य) जिस महात्मा के (रथस्य) शरीर-रथ के (वर्ष्मा) ढांचे का (प्रवाहणः) उत्कृष्टरूप में वहन करते, और उसे (नि जिहीडते) नितरां सक्रिय रखते हैं, जैसे कि (उपस्पृशः) सूर्यस्पर्शी (दिवः) द्योतमान किरणें (ईषमाणाः) गति करती हुई, सूर्यरूपी (रथस्य वर्ष्म) रथ के ढांचे को, (निजिहीडते) नितरां सक्रिय रखती हैं,—(अगले मन्त्र से सम्बन्ध)।

७६७. एष इषाय मामहे शतं निष्कान् दश स्रजः ।
त्रीणि शतान्यर्वतां सहस्रा दश गोनाम् ॥३॥

(एषः) यह वह महात्मा है जिसकी कि (इषाय) इच्छा-पूर्ति के लिये (मामहे) हम प्रजाजन पूजारूप में भेंटें देते हैं,—(शतं निष्कान्) सैंकड़ों सुवर्णमुद्राएं, (दश स्रजः) दस प्रकार की मालाएं, (त्रीणि शतानि अर्वताम्) तीन सौ घोड़े, और (दश सहस्रा गोनाम्) १० हजार गौएं।

[७६६ तथा ७६७—उष्ट्राः=उष् (दाहे)+त्र (त्रैङ् पालने); देखो—मन्त्र ८६७-८६९। पैप्पलाद शाखा २०।२४।९ में "उष्टाराः" पद पठित है, जिस का अर्थ है—"उष् अर्थात् दाह-सन्ताप से तैरानेवाले"; उष् (दाहे)+ताराः (तॄ संतरणे)। वधूमन्तः—वधू=वहति सुखानि प्रापयति (उणादि कोष १।८३) द्विर्दश=२०; अर्थात् १० इन्द्रियां, और १० इन्द्रियों की शक्तियां। वर्ष्म=Body, form (आपटे)। जिहीडते=हिडि गतौ। इषाय=यदि प्रजाजनों के भले के लिये महात्मा लोग, उपर्युक्त प्रकार की सम्पत्तियां चाहें, तो उन की इच्छापूर्ति, प्रजा को अवश्य करनी चाहिये। मन्त्र में शत, सहस्र, दश, त्रीणि आदि शब्द अनिश्चित संख्यावाची हैं। इस सम्बन्ध में देखो—मन्त्र ८३९। दश प्रकार के हार यथा—नानाविध पुष्पों सुवर्ण, रजत, मोतियों तथा अन्य रत्नों के हार।]

७६८. वच्यस्व रेभ वच्यस्व वृक्षे न पक्वे शकुनः ।
नष्टे जिह्वा चर्चरीति क्षुरो न भुरिजोरिव ॥४॥

(रेभ) हे स्तुति करनेवाले ! (वच्यस्व) तू परमेश्वर के स्तुति-गान गा, (वच्यस्व) बार-बार गा; (न) जैसे कि (शकुनः) पक्षी (पक्वे वृक्षे) पके-फलोंवाले वृक्ष पर बैठकर, फलों को खाता हुआ अपनी अव्यक्त चहचहार्ती बोली द्वारा मानो परमेश्वर के गीत गाता है । (नष्टे) विनाशकाल के उपस्थित हो जाने पर तो (जिह्वा) जबान (चर्चरीति) लड़खड़ा जाती है, (न) जैसे कि (भुरिजोः) भूरिवेगवाले अश्व के (क्षुरः) पैर (इव) मानों लड़खड़ा जाते हैं ।

[अभिप्राय यह है कि जब तक मृत्युकाल उपस्थित नहीं होता, तब तक जिह्वा से तू परमेश्वर के स्तुतिगान गा ले, विनाश-काल के उपस्थित हो जाने पर चाहते हुए भी जिह्वा स्तुतिगान में असमर्थ होती है। भुरिजोः=भुरि=भूरि+जु गतौ, षष्ठ्येकवचन । क्षुरः=खुर, अश्व के पैर । रेभ=स्तोता (निघ० ३।१६) ।]

७६९. प्र रेभासो मनीषा वृषा गावइवेरते ।
अमोतपुत्रका एषाममोत गाइवासते ॥५॥

(रेभासः) हे स्तुति करनेवालो ! विनाशकाल के उपस्थित हो जाने पर (मनीषा) बुद्धि भी कम्पित हो जाती है, (इव) जैसे कि (वृषा) वर्षा द्वारा (गावः) गौएं (प्र ईरते) कम्पित हो जाती हैं। तथा (एषाम्) इन मृत व्यक्तियों के (पुत्रकाः उत) छोटे-छोटे पुत्र भी (अमा) घर में निः-सहाय होकर (आसते) बैठे रहते हैं, (इव) जैसे कि इन की (गावः) गौएं, सेवाशुश्रूषा के अभाव हो जाने के कारण, निःसहाय बैठी रहती हैं।

[ईरते=ईर गतौ, कम्पने च । अमा=गृह (निघ० ३।४) । उत=तथा ।]

७७०. प्र रेभ धीं भरस्व गोविदं वसुविदम् ।
देवत्रेमां वाचं श्रीणीहीषुर्नावीरस्तारम् ॥६॥

इसलिये (रेभ) हे स्तोतः ! तू (धीम्) आस्तिक बुद्धि और तदनुरूप कर्मों का (प्र भरस्व) प्रकर्षरूप में संग्रह कर ले, जो कि तुझे (गोविदम्) ऐन्द्रियिक-शक्तियां प्रदान करें, तथा (वसुविदम्) आध्यात्मिक-सम्पत्तियां प्रदान करें। तथा (देवत्रा) देवकोटि के महात्माओं में रहता हुआ तू, (इमां वाचम्) परमेश्वरीय-स्तुति-सम्बन्धी इस अपनी स्तुतिवाणी को (श्रीणीहि) परिपक्व कर ले, (इषुः) और बाण जैसे शत्रुओं का विनाश करता है, वैसे तू कामादि का विनाश करके, (वीरः ना) और धर्मवीर नेता बन कर, (तारम्) भावसागर से तैरानेवाले परमेश्वर को प्राप्त कर।

[धी=प्रज्ञा तथा कर्म (निघ० ३।९; २।१) ।]

७७१. राज्ञो विश्वजनीनस्य यो देवोऽमर्त्यां अति ।
वैश्वानरस्य सुष्टुतिमा सुनोता परिक्षितः ॥७॥

(यः) जो (देवः) परमेश्वर-देव, (अमर्त्यान्) शक्तियों की दृष्टि से, सभी अमर्त्यों का (अति) अतिक्रमण किये हुए हैं, उस (विश्वजनीनस्य) सर्वजनहितकारी, (वैश्वानरस्य) सब नर-नारियों में वर्तमान, (परिक्षितः) सर्वत्र निवासी सर्वगत, (राज्ञः) जगत् के महाराजा की (सुष्टुतिम् आसुनोत) भक्तिरस से भीनी स्तुतियां किया करो।

[परिक्षितः=परि+क्षि (निवासे, गतौ)+क्विप्; षष्ठ्येकवचन ।]

७७२. परिच्छिन्नः क्षेममकरोत् तम आसनमाचरन् ।
कुलायन् कृण्वन् कौरव्यः पतिर्वदति जायया ॥८॥

(परिच्छिन्नः) सांसारिक-भावनाओं से पूर्णतया कटा होकर उपासक (क्षेमम्) सब का कल्याण (अकरोत्) करता है, और (तमः) तामसिक-भावों का (आसनम्) पूर्ण-प्रक्षेप अर्थात् परित्याग (आचरन्) कर देता है । (कौरव्यः) पृथिवी में अपने सदुपदेशों को गुञ्जाता हुआ, (कुलायन् कृण्वन्) समग्र पृथिवी को अपना घर बना कर रहता है। उस के सदुपदेशों के कारण (पतिः) पति अपनी (जायया) पत्नी के साथ प्रसन्नता से (वदति) बातें करता है।

[आसनम्=आ+असनम् (अस् प्रक्षेपे) । कौरव्यः=कौ (पृथिव्याम्)+रव्यः (रव् शब्दे) । कुलायन्=कुलायम् । कुलाय=A place in general (आपटे) । तम आसनम्=तमसः आसनम् ।]

७७३. कतरत् त आ हराणि दधि मन्थां परि श्रुतम् ।
जायाः पतिं वि पृच्छति राष्ट्रे राज्ञः परिक्षितः ॥९॥

(परिक्षितः) सर्वत्रवासी सर्वगत, (राज्ञः) जगत् के महाराजा परमेश्वर के (राष्ट्रे) ऐसे उत्तम राज्य में, (जायाः) पत्नियां (पतिम्) अपने-अपने पति से (वि पृच्छति) विशेतया पूछती हैं कि हे पति ! (कतरत्) कौनसी वस्तु मैं सेवार्थ (ते) आपके लिये (आ हराणि) लाऊं, (परिश्रुतम्) प्रसिद्ध (दधि मन्थाम्) दधि या मठा ?

[जिस राष्ट्र में महात्माओं के सदुपदेश होते रहते हैं वह राष्ट्र, मानुष शासित राष्ट्र न होता हुआ परमेश्वर द्वारा शासित राष्ट्र बन जाता है, जिसमें कि पति-पत्नी का पारस्परिक व्यवहार प्रेममय रहता है। परमेश्वर के नियमों द्वारा शासित राष्ट्र की एक झांकी महाभारत में इस प्रकार मिलती है। यथा—

न राज्यं न च राजासीत्, न दण्डो न च दाण्डिकः ।
धर्मेणैव प्रजाः सर्वाः, वर्तन्ते स्म परस्परम् ॥

अर्थात् सत्ययुग में न कोई राज्य था, और न कोई राजा। न दण्डव्यवस्था थी, और न कोई दण्ड देनेवाला न्यायाधीश। उस समग्र समग्र प्रजाजन धर्मपूर्वक ही परस्पर वर्ताव करते थे। ऐसा राष्ट्र मानो परमेश्वर-शासित राष्ट्र है। पृच्छति= पृच्छन्ति। या जाया पृच्छति।]

७७४. अभी वस्वः प्र जिहीते यवः पक्वः पथो बिलम् ।
जनः स भद्रमेधति राष्ट्रे राज्ञः परिक्षितः ॥१०॥

पत्नी पति को कहती है कि हे पति ! (वस्वः) घर की सब निवास-सामग्री (अभि) आप के प्रति (प्र जिहीते) समर्पित है, तथा (पक्वः) पके (यवः) जौ, और (पथः) पथ्य अर्थात् स्वास्थ्यकारी (बिलम्) बिल्व फल आदि आप के प्रति समर्पित हैं। (परिक्षितः) सर्वत्र गत, तथा सर्वत्र निवासी (राज्ञः) जगत् के महाराजा परमेश्वर के (राष्ट्रे) राष्ट्र में, (सः जनः) वे समग्र प्रजाजन (भद्रम्) सुखपूर्वक तथा कल्याणपूर्वक (एधति) बढ़ते हैं।

७७५. इन्द्रः कारुमबूबुधदुत्तिष्ठ वि चरा जनम् ।
ममेदुग्रस्य चर्कृधि सर्व इत् ते पृणादरिः ॥११॥

(इन्द्रः) परमेश्वर (कारुम्) अपने स्तोता को (अबूबुधत्) आध्यात्मिक प्रबोध देता है, और उसे कहता है कि (उत्तिष्ठ) उठ अर्थात्

प्रयत्नशील बन, और (जनम्) प्रजाजनों में (वि चरा) विचर, और (मम उग्रस्य) कर्मव्यवस्था के नियमन में उग्ररूप जो मैं हूं, उसके, (चर्कृधि) कार्य को करता रह। (सर्वः इत्) सभी प्रजाजन (ते) तुझे (पृणात्) पालेंगे, (अरिः) दुश्मन भी तुझे पालेगा। अथवा (अरिः) तू सब का आध्यात्मिक-अधीश्वर बन।

[अरिः=ईश्वरः(निरु० ५।२।७)। कारुः=स्तोता (निघ० ३।१६)।]

७७६. इह गावः प्रजायध्वमिहाश्वा इह पूरुषाः ।
इहो सहस्रदक्षिणोऽपि पूषा नि षीदति ॥१२॥

(इह) इस राष्ट्र में (गावः) उत्तम गौएं (प्र जायध्वम्) पैदा हों, (इह) इस राष्ट्र में (अश्वाः) उत्तम अश्व पैदा हों। (इह) इस राष्ट्र में (पुरुषाः) पौरुष-सम्पन्न पुरुष पैदा हों। (इह उ) तथा इस राष्ट्र में (सहस्रदक्षिणः) हजार संख्या में दक्षिणा देनेवाले, (पूषा) धन-धान्य से परिपुष्ट वैश्य (अपि) भी (नि षीदति) रहें, निवास करें।

[मन्त्र में परमेश्वर-शासित राष्ट्र का वर्णन है।]

७७७. नेमा इन्द्र गावो रिषन् मो आसां गोप रीरिषत् ।
मासाममित्रयुर्जन इन्द्र मा स्तेन ईशत ॥१३॥

(इन्द्र) हे परमेश्वर ! आप द्वारा शासित राष्ट्र में (इमा गावः) ये गौएं (न रिषन्) हिंसित न हों, (उ) और (आसाम्) इन गौओं का (गोपः) गोपति भी (मा रीरिषत्) न हिंसित हो। (आसाम्) इन गौओं के साथ (अमित्रयुः) अमित्रता चाहनेवाला (जनः) जन (मा ईशत) इन का स्वामी न बने, (इन्द्र) हे परमेश्वर ! (स्तेनः) चोर इन का (ईशत मा) अधीश्वर न बने। [मन्त्र में परमेश्वर-शासित राष्ट्र का वर्णन है।]

७७८. उप नो न रमसि सूक्तेन वचसा वयं भद्रेण वचसा वयम् ।
वनादधिध्वनो गिरो न रिष्येम कदा चन ॥१४॥

हे परमेश्वर ! (नः) हमसे आप (न उप रमसि) उपरत नहीं होते, अर्थात् हमारी आप उपेक्षा नहीं करते। 'आपकी कृपा से (वयम्) हम (सूक्तेन) सत्य और प्रिय (वचसा) वचनोंवाले हों। (वयम्) हम (भद्रेण वचसा) भद्रवाणीवाले हों। (अधिध्वनः) श्रेष्ठमार्ग में

डालनेवाली (गिरः) वेदवाणियां (वनात्) हमें प्राप्त रहें. ताकि हम (कदाचन) कभी भी (न रिष्येम) दुःखों के भागी न बनें।

[टिप्पणी—इस सूक्त में "परिक्षितः" पद द्वारा ऐतिहासिक-व्यक्ति, महाभारत कालीन परीक्षित राजा का वर्णन मानते हैं। यह उन की भूल है। मन्त्र में "परिक्षित्" पद है, नकि परीक्षित, साथ ही "कौरव्यः" पद द्वारा, ऐतिहासिक व्यक्ति,"कुरु के वंशज कौरव"का वर्णन मानते हैं, जो कि प्रकरण की दृष्टि से असङ्गत है। निघण्टु में "कुरवः" पद है, जोकि "कुरु" पद का बहुवचन है। "कुरवः" का अर्थ है "ऋत्विजः" (निघ० ३।१८)। उणादि कोष १।२४ में "कुरु"की व्युत्पत्ति की है—"यः करोति येन वा सः कुरुः"।

"परिक्षित् और कौरव्य" के सम्बन्ध में यह भी देखना चाहिये कि सूक्त १२७ के मन्त्रों में जो वर्णन हुआ है, क्या ऐसा वर्णन महाभारत में, परीक्षित राजा के राज्य के सम्बन्ध में हुआ भी है, या नहीं? फिर भी यह तो सभी मानते हैं कि १२७ वां सूक्त अथर्ववेद में प्रक्षिप्त है, क्योंकि यह कुन्ताप-सूक्तों का सूक्त है। इसलिये "परिक्षित् और कौरव्य" यदि महाभारत के समकाल के हैं, तो भी वेदों पर कोई ऐतिहासिक आक्षेप नहीं होता। अधिध्वनः=अधि अध्वनः। अथवा वैदिकध्वनियों के अधिष्ठाता परमेश्वर की वेदवाणियां हमें प्राप्त रहें।]

सूक्त १२८

७७९. यः सभेयो विदथ्यः सुत्वा यज्वाथ पूरुषः।
सूर्यं चामू रिशादसस्तद् देवाः प्रागकल्पयन् ॥१॥

(यः पूरुषः) जो पुरुष (सभेयः) सभाओं में जाने योग्य तथा सभ्य है, (विदथ्यः) ज्ञान-गोष्ठियों में चतुर, तथा यथार्थज्ञानी है, (सुत्वा) भक्तिरसवाला, (अथ) और (यज्वा) देव-कोटि के लोगों की पूजा-सत्कार करता, सत्संगी और दानी है (तत्) उसे (च) और (सूर्यम्) सूर्य को,—(अमू रिशादसः) हिंस्रभावनाओं से रहित उन (देवाः) दिव्य पुरुषों ने (प्राक्) प्रथम कोटि का (अकल्पयन्) माना है।

७८०. यो जाम्या अप्रथयस्तद् यत् सखायं दुधूर्षति।
ज्येष्ठो यदप्रचेतास्तदाहुरधरागिति ॥२॥

(यः) जो पुरुष (जाम्याः) स्त्रियों के सम्बन्ध में (अप्रथयः) अनाचार करता है (तत्) उसे, और (यत्) जो (सखायम्) मित्र की (दुधूर्षति) विश्वासघात आदि द्वारा हिंसा करता है उसे, (यत् ज्येष्ठः) तथा जो बड़ा भाई है परन्तु (अचेताः) है अज्ञानी,—(तत्) उन सब को, दिव्य पुरुष (अधराक् इति) नीच (आहुः) कहते हैं।

७८१. यद् भद्रस्य पुरुषस्य पुत्रो भवति दाधृषिः।
तत् विप्रो अब्रवीदु तद् गन्धर्वः काम्यं वचः ॥३॥

(भद्रस्य) कल्याणकारी और दूसरों को सुख पहुंचानेवाले (पुरुषस्य) पुरुष का (पुत्रः) पुत्र; (दाधृषिः) पापों का धर्षण करनेवाला (भवति) होता है,—(यत्) जो यह (काम्यं वचः) सुन्दर कथन है, (तत्) उसे (विप्रः) मेधावी पुरुष भी, (अब्रवीत् उ) निश्चयपूर्वक कहते हैं, और (तत्) उसे, (गन्धर्वः) वेदवाणी के विद्वान् भी कहते हैं।

[गन्धर्वः=गो=वाक्+धृ (धारणे)।]

७८२. यश्च पणि रघुजिष्ठयो यश्च देवाँ अदाशुरिः।
धीराणां शश्वतामहं तदपागिति शुश्रुम ॥४॥

(यः च) और जो (पणिः) व्यापारी है, परन्तु (रघुजिष्ठ्यः) है लघु-हृदयवालों में अत्यन्त लघु हृदयवाला अर्थात् अति कंजूस; (यः च) और जो (देवान्) देवकोटि के महात्माओं को (अदाशुरिः) दान नहीं देता, या देवयज्ञ अर्थात् अग्निहोत्र नहीं करता; (शश्वतां धीराणाम्) शाश्वत काल के बुद्धिमानों के इस कथन को (अहम्) मैंने तथा हमने (शुश्रुम) सुना है, कि (तत्)वह पुरुष(अपाक् इति) पिछड़ा हुआ है।

[अदाशुरिः=अ+दाशृ (दाने)।]

७८३. ये च देवा अयजन्ताथो ये च पराददिः।
सूर्यो दिवमिव गत्वाय मघवा नो वि रप्शते ॥५॥

(ये च) और जो (देवाः) देवकोटि के व्यापारी (अयजन्त) यज्ञ-याग करते हैं, (ये च) और जो (पराददिः) दूसरों को दान देते हैं, वे

(मघवानः) धनिक पुरुष (वि रप्शते) कीर्तिमान् हो जाते हैं, (इव) जैसे कि (दिवं गत्वाय) द्युलोकगत (सूर्यः) सूर्य कीर्त्तिमान् है।

[विरप्शी=महान् (निघ० ३।३)।]

७८४. योऽनाक्ताक्षो अनभ्यक्तो अमणिवो अहिरण्यवः।
अब्रह्मा ब्रह्मणः पुत्रस्तोता कल्पेषु संमिता ॥६॥

(यः) जिसने (अनाक्ताक्षः) अपनी आंखों में पवित्रता का अञ्जन नहीं लगाया, (अनभ्यक्तः) और जो अभिव्यक्त अर्थात् स्पष्ट और स्वच्छ हृदयवाला नहीं, (ब्रह्मण) तथा चारों वेदों के ज्ञाता का (पुत्रः) पुत्र जोकि (अब्रह्मा) ब्रह्मा नहीं बना, (ता उ ता) वे सब (अमणिवः अहिरण्यवः) मणि तथा सुवर्ण आदि के दान के पात्र नहीं,—(कल्पेषु) कल्प-कल्पान्तरों में ये सब (संमिता) एक समान माने गए हैं।

७८५. य आक्ताक्षः सुभ्यक्तः सुमणिः सुहिरण्यवः।
सुब्रह्मा ब्रह्मणः पुत्रस्तोता कल्पेषु संमिता ॥७॥

(यः) जो (आक्ताक्षः) आंखों और अन्य इन्द्रियों से पवित्र है, (सुभ्यक्तः) जो अभिव्यक्त अर्थात् स्पष्ट और स्वच्छ हृदयवाला है, (ब्रह्मणः) तथा जो ब्रह्मा का (पुत्रः) पुत्र (सुब्रह्मा) उत्तम-ब्रह्मा बना है (ता उ ता) ऐसे व्यक्ति (सुमणिः सुहिरण्यवः) उत्तम मणियों और श्रेष्ठ-सुवर्णों के दान के पात्र हैं—(कल्पेषु) कल्प-कल्पान्तरों म ये सब (संमिता) एक समान माने गये हैं। [सुभ्यक्तः=सु+अभ्यक्तः।]

७८६. अप्रपाणा च वेशन्ता रेवाँ अप्रतिदिश्ययः।
अयभ्या कन्या कल्याणी तोता कल्पेषु संमिता ॥८॥

(अप्रपाणा) बिना प्याऊ की (वेशन्ता) बावली, (च) और (अप्रतिदिश्ययः) अदानी (रेवान्) धनिक, तथा (अयभ्या) विवाह के अयोग्य (कल्याणी कन्या) मोक्षाभिलाषिणी कन्या,—(ता उ ता) ये सब (कल्पेषु) कल्प-कल्पान्तरों में (संमिता) एक समान माने गये हैं,—अर्थात् ये सामाजिक उपयोगों के अयोग्य हैं।

[अप्रतिदिश्ययः=दिश् अतिसर्जने, दाने।]

७८७. सुप्रपाणा च वेशन्ता रेवान्त्सुप्रतिदिश्ययः।
सुयभ्या कन्या कल्याणी तोता कल्पेषु संमिता ॥९॥

(च) और (सुप्रपाणा) उत्तम-प्याऊवाली (वेशन्ता) बावली, (सुप्रतिदिश्ययः) उत्तम-दानी (रेवान्) धनिक, तथा (कल्याणी) सब का कल्याण चाहनेवाली (सुयभ्या कन्या) विवाह योग्य कन्या,—(ता उ ता) ये सब (कल्पेषु) कल्प-कल्पान्तरों में (संमिता) एक समान माने गए हैं,—अर्थात् सामाजिक उपयोग के अनुकूल हैं।

७८८. परिवृक्ता च महिषी स्वस्त्या च युधिंगमः।
अनाशुरश्चायामी तोता कल्पेषु संमिता ॥१०॥

(परिवृक्ता च) और पति द्वारा त्यागी गई (महिषी) दुराचारिणी स्त्री, (च) और (स्वस्त्या) अपना वैयक्तिक कल्याण चाहनेवाला सुस्त (युधिंगमः) योद्धा, (च) और (अनाशुरः) कार्यों को शीघ्र न करनेवाला (आयामी) दीर्घसूत्री भृत्य,—(ता उ ता) ये सब (कल्पेषु) कल्प-कल्पान्तरों में (संमिता) एक समान माने गए हैं,—अर्थात् त्याज्य हैं।

७८९. वावाता च महिषी स्वस्त्या च युधिंगमः।
श्वाशुरश्चायामी तोता कल्पेषु संमिता ॥११॥

(च) और (वावाता) वायु की तरह सक्रिय (महिषी) महागुणवती स्त्री, (च) और (स्वस्त्या) देश के कल्याण की भावना से (युधिंगमः) युद्ध में जानेवाला योद्धा, (च) और (श्वाशुरः) शीघ्रता से कार्यों को करनेवाला (अयामी) अदीर्घसूत्री अर्थात् कार्यों से उपराम न लेनेवाला भृत्य,—(ता उ ता) ये सब (कल्पेषु) कल्प-कल्पान्तरों में एक समान माने गए हैं,—अर्थात् उपादेय हैं।

[महिषी=मन्त्र ७८८ में दुराचारिणी। An immoral woman (आपटे)। ७८९ में महिषी=महागुणवती स्त्री। श्वाशुरः=शु (शीघ्र)+आशु (शीघ्र)+र; अर्थात् अतिशीघ्र कार्य करनेवाला। अयामी=अ+यम् (उपरमे)। उपरम=आराम, कार्य-विमुखता।]

७९०. यदिन्द्रादो दाशराज्ञे मानुषं वि गाहथाः।
विरूपः सर्वस्मा आसीत् सह यक्षाय कल्पते ॥१२॥

(इन्द्र) हे परमेश्वर ! (दाशराज्ये) १० इन्द्रियों के राज्य में वर्तमान (यद् अदः) जो उस (मानुषम्) मानुष- आत्मा को, आपने उसके कर्मों के अनुसार, (वि गाहथाः) विविध योनियों में विलोड़ा है, वह पहिले (सर्वस्मै) सब के लिये (विरूपः) अवाञ्छनीय रूपवाला (आसीत्) था, जो वह अब (सह) आप का संगी बन कर, (यक्षाय) आप-पूजनोय की प्राप्ति के लिये (कल्पते) समर्थ हो गया है।

[दाशराज्ये=एक-एक इन्द्रिय का भी राज्य यदि जीवन में हो जाता है, तो जीवन सुखी और पवित्र नहीं रहता। यदि १० इन्द्रियों का स्वेच्छाचारी राज्य जीवन में हो जाय, तो व्यक्ति महादुःखी और महा-अपवित्र हो जाता और सब के लिये अवाञ्छनीय रूपवाला हो जाता है। तब वह नाना जन्मों में पूर्वकृत-कर्मों के फल भोग लेने के पश्चात् शुद्ध-पवित्र होकर, परमेश्वर का संगी बनकर परमेश्वर की प्राप्ति के लिये समर्थ हो जाता है। यक्षाय=यक्ष पूजायाम्। केनोपनिषद् में यक्ष-प्रभु का वर्णन है।]

७९१. त्वं वृषाक्षुं मघवन्नम्रं मर्याकरो रविः ।

त्वं रौहिणं व्यास्यो वि वृत्रस्याभिनच्छिरः ॥१३॥

(मघवन्) हे सम्पत्तिशालिन् !, (मर्य) हे मनुष्यों के स्वामिन् ! (त्वम्) आप (रविः) सूर्य के सदृश प्रकाशमान हैं। आप (वृषाक्षुम्) प्रेम-रसवर्षी आंखोंवाले को (नम्रम् अकरः) नम्र बना देते हैं। (त्वम्) आप (रौहिणम्) रजोधर्मवाले व्यक्ति को (व्यास्यः) अपने से परे फेंकते हैं, और (वृत्रस्य) उपासक के पाप-वृत्र का (शिरः) सिर (अभिनत्) आप कुचल देते हैं। [मर्यः=मनुष्य (निघ० २।३); अर्शाद्यच्। व्यास्यः=वि+अस् (प्रक्षेपे)। अक्षु=चक्षु।]

७९२. यः पर्वतान् व्यदधाद् यो अपो व्यगाहथाः ।

इन्द्रो यो वृत्रहान्महं तस्मादिन्द्र नमोऽस्तु ते ॥१४॥

(यः) जिस (इन्द्रः) परमेश्वर ने (पर्वतान्) पर्वतों का (व्यदधात्) विधान किया, धारण-पोषण किया, (यः) जिसने (अपः) सामुद्रिक और अभ्रिय जलों को (व्यगाहथाः) विलोड़ित अर्थात् तरंगित किया और गर्जवाया। (यः) जिस परमेश्वर ने (वृत्रहा) पाप-वृत्रों का हनन किया,

(अात् तस्मात्) इस कारण (इन्द्र) हे परमेश्वर ! (ते) आपको (महं नमः) महा नमस्कार (अस्तु) हो।

["मह" अकारान्त नपुंसके; यथा—"महानि" अथर्व० २०।११।६)।]

७९३. पृष्ठं धावन्तं हर्योरौच्चैःश्रवसमब्रुवन् ।

स्वस्त्यश्व जैत्रायेन्द्रमा वह सुस्रजम् ॥१५॥

(हर्योः) ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियरूपी अश्वों के (पृष्ठम्) पीछे-पीछे (धावन्तम्) दौड़ते हुए, (उच्चैःश्रवसम्) ऊंचा सुननेवाले अर्थात् आध्यात्मिक दृष्टि से बहरे कानोंवाले को वेदवाणियां (अब्रुवन्) कहती हैं कि हे मनुष्य! (अश्वजैत्राय) इन्द्रियाश्वों पर विजय पाने के लिये तू (इन्द्रम् आवह) परमेश्वर को हृदय में धारण कर, जैसे कि विजयी व्यक्ति गले में (सुस्रजम्) उत्तम माला को धारण करता है, (स्वस्ति) ताकि तेरा कल्याण हो।

७९४. ये त्वा श्वेता अजैश्रवसो हार्यो युञ्जन्ति दक्षिणम् ।

पूर्वा नमस्य देवानां बिभ्रदिन्द्र महीयते ॥१६॥

(इन्द्र) हे परमेश्वर ! (ये) जो (श्वेताः) शुभ्र अर्थात् सात्विक-चित्त-वृत्तियोंवाले, तथा (अजैश्रवसः) रजोगुण और तमोगुण द्वारा अर्जित कीर्ति वाले, (हार्यः) प्रत्याहार आदि साधना-सम्पन्न उपासक, (दक्षिणम्) प्रगति-और वृद्धिदायक (त्वा) आपको (युञ्जन्ति) अपने साथ योगविधि द्वारा युक्त करते हैं, वे (देवानाम्) दिव्य योगी-जनों में (प्रथमाः) प्रथम-कोटि के गिने जाते हैं। (नमस्य) हे नमस्कार के योग्य (इन्द्र) परमेश्वर ! ऐसा व्यक्ति (महीयते) पूजा जाता है, और महिमा को प्राप्त करता है।

सूक्त १२९

७९५. एता अश्वा आप्लवन्ते ॥१॥

(एताः) ये (अश्वाः) मनोवृत्तियां या चित्तवृत्तियां (आप्लवन्ते) प्लुतियां लगाती हैं, उछल-कूद करती हैं, अर्थात् चञ्चल और अस्थिर हैं।

[अश्वाः=वैदिक साहित्य में मन या चित्त को भी इन्द्रिय माना है, और इन्द्रियों को शरीर-रथ के "हय" अर्थात् अश्व कहा है। इसलिये मन या चित्त भी अश्व है, और मन या चित्त की विविध-वृत्तियां "अश्वाः" हैं।

ये चित्तवृत्तियां शरीर-रथों का वहन करती हैं। मनुस्मृति में कहा है कि "एकादशं मनो ज्ञेयमिन्द्रियमुभयात्मकम्" (२ । ९२) अर्थात् मन ११वीं इन्द्रिय है, जो कि दोनों रूपोंवाली है, ज्ञानेन्द्रियरूप भी और कर्मेन्द्रियरूप भी। क्योंकि मन द्वारा ही ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों में प्रेरणाएं होती हैं, और ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों के केन्द्र मन या चित्त में निहित हैं। इसलिये "अश्वाः" पद द्वारा मनोवृत्तियों या चित्तवृत्तियों का ग्रहण किया है।]

७९६. प्रतीपं प्राति सुत्वनम् ॥२॥

इन चित्तवृत्तियों में से प्रत्येक राजसिक तथा तामसिक वृत्ति, (सुत्वनम्) भक्तिरस के पीनेवाले को भी (प्रतीपम्) विपरीत अर्थात् उल्टी भावनाओं मे (प्राति) भर देती है। [प्राति=प्रा पूरणे।]

७९७. तासामेका हरिक्निका ॥३॥

(तासाम्) उन चित्तवृत्तियों में (एका) एक चित्तवृत्ति अर्थात् सात्विक चित्तवृत्ति है, जो कि (हरिक्निका) हरि अर्थात् मनोहारी परमेश्वर की कामना करती और उसे प्रदीप्त करती है, उसका प्रत्यक्ष दर्शन कराती है।

[हरिक्निका=हरि (मन को हर लेनेवाला परमेश्वर)+कनी (दीप्ति और कान्ति)। परमेश्वर को "सत्यं शिवं सुन्दरम्" कहा है। परमेश्वर के सौन्दर्य में मन या चित्त मुग्ध हो जाता है।]

७९८. हरिक्निके किमिच्छसि ॥४॥

(हरिक्निके) हे हरि की कामनावाली सात्विक-चित्तवृत्ति! तू (किम् इच्छसि) क्या चाहती है?

७९९. साधुं पुत्रं हिरण्ययम् ॥५॥

मैं चाहती हूं कि (पुत्रम्) मेरा पुत्र अर्थात् जीवात्मा, (साधुम्) धर्मयुक्त कार्यों का करनेवाला, तथा (हिरण्ययम्) सुवर्ण के समान बहुमूल्य तथा सर्वप्रिय बन जाय।

[साधुः=साध्नोति धर्म्यं कर्मेति (उणादि कोष, वैदिक यन्त्रालय, अजमेर)। पुत्रम्=योगदर्शन के व्यासभाष्य में श्रद्धा को,—जो कि सात्विक-चित्तवृत्ति है,—जननी कहा है, जो कि माता के सदृश योगी की रक्षा करती है। यथा—"श्रद्धा चेतसः सम्प्रसादः, सा हि जननीव कल्याणी योगिनं

पाति" (योग १।२०)। इसलिये जीवात्मा को या अभ्यासी को सात्विक-चित्तवृत्ति का पुत्र कहा है।]

८००. क्वाहतं परास्यः ॥६॥

(परास्यः) जीवात्मा को पराङ्मुख कर उसे विषयों में फेंकनेवाली राजसिक और तामसिक चित्तवृत्तियो! तुमने (क्व) कहां (आहतम्) आघात किया है, प्रहार किया है?

८०१. यत्रामूस्तिस्रः शिंशपाः ॥७॥

हमने वहां आघात अर्थात् प्रहार किया है (यत्र) जहां कि (अमूः) वे प्रसिद्ध (तिस्रः) तीन (शिंशपाः) शापरूप वृत्तियां हैं, अर्थात् राजसिक, तामसिक तथा राजसिक और तामसिक मिश्रित चित्तवृत्तियां निवास करती हैं।

८०२. परि त्रयः ॥८॥ ८०३. पृदाकवः ॥९॥

जो कि (परि) जीवात्मा को घेरे हुए हैं, और (त्रयः) संख्या में तीन हैं ॥८॥ और जो (पृदाकवः) अजगर सांपों के सदृश जीवात्मा को घेरे हुए हैं ॥ ९ ॥

[मन्त्र ८०१ में के "तिस्रः शिंशपाः" को 'पृदाकवः' कहा है।]

८०४. शृङ्गं धमन्त आसते ॥१०॥

और जो पृदाकु (शृङ्ग धमन्तः) पुंकारें मारते हुए अर्थात् शृङ्गार-भावनाओं, काम-वासनाओं को उद्दीप्त करते हुए (आसते) आसन जमाए बैठे हैं।

८०५. अयन्महा ते अर्वाहः ॥११॥

(ते) वे तीन प्रदाकु हैं, जो कि (अयन्महा) महिमा को प्राप्त हुए-हुए हैं, और (अर्वाहः) पर्याप्तरूप में शरीर-रथों का वहन कर रहे हैं, उन्हें विषयों की ओर ले जा रहे हैं।

[अर्=अलम्। अयन्महाः=अय् (गतौ)+शतृ। मह=अकारान्त नपुंसकलिङ्ग। यथा—महम् (मन्त्र ७९२), तथा महानि (मन्त्र ४८)।]

८०६. स इच्छकं सघाघते ॥१२॥

(सः) वह परमेश्वर (इच्छकम्) सांसारिक इच्छाओं के वशवर्ती मनुष्य की (सघाघते) हिंसा करता है, या उसकी उद्भूत हो सकनेवाली आध्यात्मिक शक्तियों पर आवरण डाल देता है।

[इच्छकम्=इच्छुकम्। राजसी और तामसी इच्छाएं सांसारिक-बन्धनरूप हैं, जिनके द्वारा संसार में फंसा व्यक्ति दुःखों को भोगता है,—यही उसकी मानो हिंसा है। इच्छाओं से बन्धा हुआ व्यक्ति, जन्म-मरण की शृङ्खला में जकड़ा हुआ हिंसित होता रहता है। साथ ही सांसारिक-इच्छाएं व्यक्ति का आध्यात्मिक-विकास नहीं होने देतीं। सघाघते=षघ् हिंसायाम्; तथा षगे संवरणे।]

८०७. सघाघते गोमीद्या गोगतीरिति ॥१३॥

परमेश्वर (गोमीत्) इन्द्रियों की चञ्चलताओं का विनाशक है, अर्थात् (याः) जो (गोगतीः इति) इन्द्रियों की अनियन्त्रित गतियां हैं उनका (सघाघते) विनाश करता है।

[गोमीत्=गो=इन्द्रियां (उणादि कोष २।६७, वैदिक प्रेस,अजमेर) +मीत् (मीञ् हिंसायाम्)।]

८०८. पुमाँ कुस्ते निमच्छसि ॥१४॥

(पुमान्) हे मनुष्य! तू तो वृद्धिशील है, फिर भी (कुस्ते) प्रकृति के आलिङ्गन में (निम्) निम्नगति अर्थात् अधोगति (इच्छसि) चाह रहा है।

[पुमान्=पुंस अभिवर्धने। (कुस्ते=कुस् संश्लेषणे)। अथवा कुस्ते=कुत्सिते कर्मणि, स् और त् में आद्यन्त-विपर्यय हुआ है, अर्थात् "स्" के स्थान में "त्", और "त्" के स्थान में "स्" हुआ है।]

८०९. पल्प बद्ध वयो इति ॥१५॥

हे मांस के पुतले को पालनेवाले! (बद्ध) हे मांस के पिञ्जरे में बन्धे हुए! (वय इति) तू तो इस पिञ्जरे में से उड़ जानेवाले पक्षी के सदृश है। [पल्प=पललं मांसं पाति पालयतीति। अथवा पल्प=Fu.p; soft fleshy Part. "पल्प" पद द्वारा उसका वर्णन है जो कि शरीर को ही "आत्मस्वरूप" समझता है। उसे चेतावनी दी गई है कि तू इस शरीर से पृथक् है, जो कि वासनाओं के कारण इस शरीर में बन्धा हुआ है, और समय पर इस पिञ्जरे से उड़ जानेवाला पक्षी है। इस प्रकार व्यक्ति को "आत्मस्वरूप" दर्शा कर उसकी आध्यात्मिक-भावना को परिपुष्ट किया गया है।]

८१०. बद्ध वो अघा इति ॥१६॥

(बद्ध) हे शरीर में बन्धे हुए! (वः) तुम सब इसलिये शरीरों में बन्धे हुए हो, चूंकि तुम (अघा इति) पापकर्मों के करनेवाले हो।

८११. अजागार केविका ॥१७॥

(अजागार) हे प्रकृति के बने घरवाले जीवात्मन्! (केविका) प्रकृति तो तुम्हारी सेविका है, परन्तु तुम्हारी स्वामिनी बनी हुई है।

[अजा=अजन्मा प्रकृति+आगार(गृह)। अजा=प्रकृति। यथा—"अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः" (श्वेताश्व० उप० ४।५)। केविका=केवृ सेवने।]

८१२. अश्वस्य वारो गोशपद्यके ॥१८॥

हे जीवात्मन्! तू तो (अश्वस्य) अश्व को (वारः) नियन्त्रित करनेवाला घुड़-सवार है, परन्तु (गोशपद्यके) गौ के खुर से पिसा जा रहा है।

[वारः=रोकनेवाला, निवारण करनेवाला। गोशपद्यके=गो+शफ (खुर)+दो (अवखण्डने); या दीङ् (क्षये)। "अश्व" शब्द मन के लिये, तथा "गो" शब्द इन्द्रियों के लिये भी प्रयुक्त होता है। इसलिये यहां यह भी अभिप्रेत है कि तू तो मन का भी स्वामी है, परन्तु इन्द्रियों से खण्डित हुआ जा रहा है।]

८१३. श्येनीपती सा ॥१९॥

हे जीवात्मन् (सा) वह प्रकृति तो (श्येनीपती=श्येनीपतिः) नाना-विधरूप-रंगोंवाली वेश्या के समान है, जो तुझे विमोहित कर रही है।

८१४. अनामयोपजिह्विका ॥२०॥

वह प्रकृति तो (अनामय+उपजिह्विका) पाप अविद्या तथा रागद्वेष रूपी रोगों से रहित व्यक्तियों को भी जिह्वा से चाट जानेवाली सर्पिणी है।

[उपजिह्विका=सम्भवतः "उपजीकाः" (दीमक), अथर्व० २।३।४; ६।१००।२ ।]

सूक्त १३०

८१५. को अर्य बहुलिमा इषूनि ॥१॥

(अर्य) हे शरीर और इन्द्रियों के स्वामी जीवात्मन् ! (कः) कौन क्लेशों-कष्टों के (बहुलिमा) नानाविध (इषूनि) बाण तुझ पर चलाता है ?

८१६. को असिद्वाः पयः ॥२॥

(कः) कौन (असिद्वाः) असित अर्थात् अशुक्ल-चित्तवृत्तियों का (पयः) फल देता है ?

[असिद्वाः=असित अर्थात् अशुक्ल, राजस-तामस तथा राजस-तामस-मिश्रित चित्तवृत्तियां ।]

८१७. को अर्जुन्याः पयः ॥३॥

(कः) कौन (अर्जुन्याः) शुभ्र अर्थात् सात्विक चित्तवृत्तियों का (पयः) फल देता है ?

[अर्जुनः=शुक्लः (उणादि कोष ३।५८, वैदिक यन्त्रालय, अजमेर), तथा "अहश्च कृष्णमहरर्जुनं च" (ऋ० ६।९।१)। अर्जुनम्=शुक्लम् (निरु० २।६।२१) ।]

८१८. कः कार्ष्ण्याः पयः ॥४॥

(कः) कौन (कार्ष्ण्याः) कृष्ण चित्तवृत्तियों का (पयः) फल देता है ?

[कृष्ण=तामसिक ।]

८१९. एतं पृच्छ कुहं पृच्छ ॥५॥

(एतम्) इन उपर्युक्त प्रश्नों को (पृच्छ) पूछ । (कुहम्) किसी विस्मापक अर्थात् विस्मय में डाल देनेवाले सद्गुरु से (पृच्छ) ये प्रश्न पूछ ।

[कुहम्=कुह विस्मापने ।]

८२०. कुहाकं पक्वकं पृच्छ ॥६॥

और उस (कुहाकम्) विस्मय में डाल देनेवाले सद्गुरु से (पृच्छ) पूछ, जो कि (पक्वकम्) परिपक्व बुद्धिवाला है ।

[कुहाकम्=कुहां विस्मापनं करोतीति । कुहयति विस्मयं कारयतीति "कुहकः" (उणादि कोष २।३८), रामलाल कपूर ट्रस्ट ।]

८२१. यवानो यतिस्वभिः कुभिः ॥७॥

और ऐसे सद्गुरु से प्रार्थना करो कि हे सद्गुरो ! (कुभिः) पार्थिव (यतिस्वभिः) जितने प्रकार के धन हैं, उन से (नः) हमें (यवा=यव, यवय) छुड़ा दीजिये ।

[यव =यु अमिश्रणे । कु=पृथिवी; Earth (आपटे), या कु=कुत्सित धन । अथवा "यवानः"=यु+शानच् । यवानः भव ।]

८२२. अकुप्यन्तः कुपायकुः ॥८॥

हे सद्गुरो ! आप (कुपायकुः) कुत्सित कर्मों से रक्षा करनेवाले हैं, इसलिये (अकुप्यन्तः) हम कोप-क्रोध आदि से रहित हो गये हैं ।

[कुपायकुः=कु (कुत्सित कर्म)+पाय (पा रक्षणे)+कुः (करनेवाला)। पायुः=पाति रक्षति स पायुः रक्षकः (उणादि कोष १।१), रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़ । कुपायकुः=कुपायुकः ।]

८२३. आमणको मणत्सकः ॥९॥

हे सद्गुरो ! आप (आमणकः) सर्वत्र सदुपदेश करते हैं, (मणत्सकः) और सदुपदेश करनेवालों में आप आसक्ति अर्थात् प्रेम रखते हैं ।

[आमणकः=आ (सर्वत्र)+मणकः (मण् शब्दे) । मणत्सकः=मण्+शतृ+षच् (समवाये) ।]

८२४. देव त्वप्रतिसूर्य ॥१०॥

(देव) हे गुरुदेव ! (तु अप्रतिसूर्य) आप का मुकाबिला तो सूर्य भी नहीं कर पाता ।

[सूर्य तो प्राकृतिक-प्रकाश देकर आंखों का उपकार करता है, और आप आध्यात्मिक-प्रकाश देकर आत्मा का उपकार करते हैं ।]

८२५. एनश्चिपंक्तिका हविः ॥११॥

हे गुरुदेव! आपके सदुपदेशों द्वारा, हमारे (एनः-चि-पंक्तिका) पापों के संचय की पंक्ति, (हविः) ज्ञानाग्नि में आहुत हो गई है, भस्मीभूत हो गई है। हमारे संचित-पाप विनष्ट हो गए हैं।

[चि=चिञ् चयने।]

८२६. प्रदुद्रुदो मघा प्रति ॥१२॥

हे गुरुदेव! आपने (मघा=मघानि प्रति) आध्यात्मिक-सम्पत्तियों के प्रति हमें (प्रदुद्रुदः) विशेष-प्रगति प्रदान की है, या सांसारिक-सम्पत्तियों के प्रति हमारी अभिलाषाओं को आपने प्रद्रुत कर दिया है, भगा दिया है।

[प्रदुद्रुदः=प्र+द्रु (यङ्लुक्)+दा।]

८२७. शृङ्ग उत्पन्न ॥१३॥

(उत्पन्न) हे उत्पन्न हुई (शृङ्ग) शृङ्गार-भावना! काम-वासना!

८२८. मा त्वाभि सखा नो विदन् ॥१४॥

(नः) हम उपासकों के (सखा) मित्रगण भी, (त्वा अभि) तेरे संमुख, (मा विदन्) न हों, अर्थात् तेरा मुखड़ा तक न देखें।

८२९. वशायाः पुत्रमा यन्ति ॥१५॥

हमारे सखा (वशायाः) संसार को वश में रखनेवाली जगन्माता के (पुत्रम्) सच्चे-पुत्र, अर्थात् सद्गुरुदेव की ओर ही (आ यन्ति) अब आते हैं। [वशा=परमात्म-माता। (अथर्व० ११।८।१७) मन्त्र में "वश" का अर्थ है—"सब संसार को वश में रखनेवाला पिता-परमेश्वर"। मन्त्र ८२९ में "वशा" द्वारा परमेश्वर को मातृरूप में दर्शाया है।]

८३०. इरावेदुमयं दत ॥१६॥

हे कामवासनाओ! (इरावेदुमयम्) सांसारिक भोगरूपी मदिरा की प्राप्ति पर जो व्यक्ति तन्मय हो जाता है उस की, तुम (दत) जड़ काट देती हो।

[इरा=मद्य (उणादि कोष २।२९)+वेदु=विद्लृ लाभे (विद्+उ; उणादि कोष १।७, बाहुलकात्)+मयट्=प्रचुरार्थ। दत=दो अवखण्डने; दाप् लवने।]

८३१. अथो इयन्नियन्निति ॥१७॥

(अथ उ) और यह सांसारिक भोगों की मदिरा में स्थितिवाला और मदिरा में तन्मय हुआ, (इयन्) इस मदिरा की ओर आता हुआ, (इयन्) आता हुआ,

८३२. अथो इयन्निति ॥१८॥

(अथ उ) और (इयन् इति) बार-बार आता हुआ,

८३३. अथो श्वा अस्थिरो भवन् ॥१९॥

(अथ उ) और (श्वा भवन्) कुत्ता बन कर, (अस्थिरः) अस्थिर-प्रकृतिवाला हो जाता है।

८३४. उयं यकांशलोकका ॥२०॥

और आध्यात्मिक व्यक्ति कहते हैं कि (उयम्) ओ ए देखो! कि (यकांश लोकका:) जिस सांसारिक अंश की ओर अल्प बुद्धिवाले लोग लगे हुए हैं।

[लोकका:=लोक+कन् (अल्पार्थे)। यक=अकच् प्रत्ययः। यथा—अयकम्, इमको, इमके।]

सूक्त १३१

८३५. आमिनोनिति भद्यते ॥१॥

और जो (आमिनोनिति) सांसारिक भोगों को त्याग देता है, वह (भद्यते) कल्याणमय और सुखी हो जाता है।

[आमिनोनिति=आमिनोति (मी प्रक्षेपणे)। भद्यते=भदी (कल्याणे सुखे च)। आमिनोति=अथवा "मि" हिंसायाम्। सांसारिक भोगों का हनन।]

८३६. तस्य अनु निभञ्जनम् ॥२॥

(अनु) तत्पश्चात्, (तस्य) उस कल्याणमय और सुखी के क्लेशों की ग्रन्थि, (निभञ्जनम्) भग्न हो जाता है, टूट-फूट जाती है।

८३७. वरुणो याति वस्वभिः ॥३॥

तब (वरुणः) क्लेश-निवारक श्रेष्ठ परमेश्वर, उसकी ओर (वस्वभिः) आध्यात्मिक सम्पत्ति के साथ (याति) प्राप्त होता है।

[याति=या प्रापणे।]

८३८. शतं वा भारती शवः ॥४॥

(वा) तथा (शतं भारती शवः) भरण-पोषण करनेवाली जगन्माता की सैंकड़ों शक्तियां [तस्य अनु यान्ति] उसके पीछे-पीछे चलती हैं।

८३९. शतमाश्वा हिरण्ययाः । शतं रथ्या हिरण्ययाः ।
शतं कुथा हिरण्ययाः । शतं निष्का हिरण्ययाः ॥५॥

(हिरण्ययाः) सुवर्ण-विभूषित (शतम्) सैंकड़ों (आश्वाः) अश्वारोही; (हिरण्ययाः) सुवर्ण-विभूषित (शतम्) सैंकड़ों (रथ्याः) रथवाही अश्व; (हिरण्ययाः) सुवर्ण-विभूषित (कुथाः) झूलोंवाले (शतम्) सैंकड़ों हाथी; (हिरण्ययाः) सुवर्ण-निर्मित (शतम्) सैंकड़ों सिक्के तथा मालाएं [तस्य अनु यान्ति] उस अर्थात् सांसारिक-भोगों को त्याग देनेवाले के पीछे-पीछे चलते हैं।

[गौतम बुद्ध, ईसा मसीह, गुरु नानक, महर्षि दयानन्द, महात्मा गान्धी आदि—जिन्होंने कि सांसारिक भोग त्याग कर प्रजा को उठाया है, उन के नामों पर और उन की स्मृतियों में उन के अनुयायी सम्पत्तियां वारते, और शानदार जलूस निकालते हैं। मन्त्र में ऐसी ही भावनाओं का वर्णन है।]

८४०. अहल कुश वर्त्तक ॥६॥

(अहल) जीवन में पवित्रता और त्याग का हल विना-फिरे हे व्यक्ति! (कुश) तथा पार्थिव भोगों में शयन किये हुए हे व्यक्ति! (वर्त्तक) और सांसारिक व्यवहारों में ही वर्तनेवाले हे व्यक्ति!

[कुश=कु (पृथिवी)+श (शयन)।]

८४१. शफेन इव ओहते ॥७॥

तेरे जैसा व्यक्ति तो ऐसे उखेड़ दिया जाता है (इव) जैसे कि (शफेन) गौ के खुर के स्पर्शमात्र से खुम्ब उखेड़ दी जाती है।

[शफेन=देखो २०।६३।५; मन्त्रसंख्या ३६४।]

८४२. आय वनेनती जनी ॥८॥

हे संसारी मनुष्य! (आय) उपासना मार्ग की ओर आ, (जनी) जगज्जननी (वनेनती) श्रद्धापूर्वक भक्ति में नत हो जाती है, झुक जाती है, [जैसे कि माता शिशु को अपना दूध पिलाने के लिये शिशु की ओर झुक जाती है। वने= वन संभक्तौ।]

८४३. वनिष्ठा नाव गृह्णन्ति ॥९॥

(वनिष्ठाः) श्रद्धामय भक्ति के सर्वश्रेष्ठ उपासक (न अवगृह्णन्ति) यह धारणा नहीं रखते कि—[वनिष्ठाः=वन संभक्तौ।]

८४४. इदं मह्यं मदूरिति ॥१०॥

(इदम्) यह सांसारिक वस्तु (मह्यम्) मेरे लिये (मदूः इति) हर्षोत्पादक तथा आनन्ददायक है।

८४५. ते वृक्षाः सह तिष्ठति ॥११॥

(ते) वे सर्वश्रेष्ठ उपासक, (वृक्षाः) वृक्षों के सदृश अन्तः-संज्ञ होकर समाधिस्थ हो जाते हैं, तब सद्गुरु परमेश्वर (सह) उन के साथ (तिष्ठति) सदा रहता है।

["अन्तःसंज्ञा भवन्त्येते (वृक्षाः) सुखदुःखसमन्विताः" (मनुः)।]

८४६. पाक बलिः ॥१२॥

और वे सद्गुरु परमेश्वर के प्रति कहते हैं कि (पाक) हे परिपाकरूप में मोक्ष-फल देनेवाले! (बलिः) हमने अपने आपको आपके प्रति बलि-रूप में समर्पित कर दिया है।

८४७. शक बलिः ॥१३॥

तथा (शक) हे शक्तिसम्पन्न सद्गुरो ! (बलिः) हमने अपने आपको आप के प्रति बलिरूप में भेंट कर दिया है।

८४८. अश्वत्थ खदिरो धवः ॥१४॥

तदनन्तर सद्गुरु मानो कहता है उपासक को, कि (अश्वत्थ) हे मनरूपी-अश्व के अधिष्ठाता ! (खदिरः) तू ने राजस और तामस वृत्तियों का विनाश कर लिया है, (धवः) तू धवल अर्थात् परिशुद्ध सात्विक चित्त-वृत्तियोंवाला हो चुका है। अतः—

[खदिरः=खदति हिनस्तीति (उणादि कोष १।५३)।]

८४९. अरदुपरम ॥१५॥

(अरत्) हे समाधि को प्राप्त हुए उपासक ! तू (उपरम) सांसारिक इच्छाओं से पूर्णतया उपरत हो जा। [अरत्=ऋ प्राप्तौ+शतृ।]

८५०. शयो हत इव ॥१६॥

ऐसा हो जा (इव) जैसे कि कोई (शयः) सोया हुआ होता है, और (हतः) मरा हुआ होता है।

[शयः=सोया हुआ व्यक्ति संसार-सम्बन्धों से रहित होता है, परन्तु स्वप्न लेता हुआ "अन्तःप्रज्ञ" होता है। इसके द्वारा उपासक की सम्प्रज्ञात समाधि का निर्देश किया है। हतः=व्यक्ति जब मर जाता है तब न तो वह "बहिःप्रज्ञ" होता है और न "अन्तःप्रज्ञ"। इसके द्वारा उपासक की असम्प्रज्ञात समाधि का निर्देश किया है।

८५१. व्याप पूरुषः ॥१७॥

हे शिष्य ! तू ऐसा प्रतीत हो रहा है कि मानो (पूरुषः) परम पुरुष परमेश्वर, तेरे जीवन में (व्याप) व्याप्त हो गया है।

[मन्त्र में मानुष अध्यात्मगुरु, अपने शिष्य उपासक को कहता है।]

८५२. अदूहमित्यां पूषकम् ॥१८॥

हे शिष्य ! मैंने (पूषकम्) पुष्टिदायक परमपुरुष परमेश्वर से तुझे (इत्याम्) विशेष प्रगति (अदूहम्) प्राप्त करा दी है।

[अदूहम्=दुह प्रपूरणे, द्विकर्मक धातु।]

८५३. अत्यर्धर्च परस्वतः ॥१९॥

हे शिष्य ! (परस्वतः) परे से भी परे अर्थात् दूर से दूर वस्तुओं का स्वामी जो परमपुरुष परमेश्वर है उस की (अत्यर्धर्च) अत्यन्त बढ़-बढ़ कर अर्चना किया कर, स्तुतियां किया कर।

[अत्यर्धर्च=अति+अर्ध (ऋध् वृद्धौ)+अर्च।]

८५४. दौव हस्तिनो दृती ॥२०॥

(हस्तिनः) हाथोंवाले मनुष्य के (दौव) दो साधन हैं, जो कि उस के जन्म-मरण के बन्धनों को (दृती) काट देते हैं।

[हस्तिनः=इसके द्वारा मनुष्य की कर्मशक्ति का निर्देश किया है। दौव=द्+औ+व=द्+व+औ=द्वौ। दो साधन हैं—अभ्यास और पर-वैराग्य (योग २।१५) परवैराग्य (योग ३।५०) के अनन्तर मोक्ष हो जाता है—"तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम्"। दृती=दृ विदारणे।]

सूक्त १३२

८५५. आदलाबुकमेककम् ॥१॥

(आत्) तदनन्तर (अलाबुकम्) तूम्बे के सदृश तैरानेवाला, अर्थात् भवसागर से तैरानेवाला (एककम्) एक ब्रह्म ही है।

८५६. अलाबुकं निखातकम् ॥२॥

(अलाबुकम्) तूम्बे के सदृश तैरानेवाला ब्रह्म (निखातकम्) अविद्या की जड़ खोद देता है। [निखातकम्=खन् अवदारणे।]

८५७. कर्करिको निखातकः ॥३॥

(कर्करिकः) जगत् की बार-बार रचना करनेवाला, या जन्म-मरण का बार-बार विधान करनेवाला परमेश्वर ही (निखातकः) नितरां अविद्या की जड़ उखेड़ देता है।

८५८. तद् वात उन्मथायति ॥४॥

(तद्) वह ब्रह्म (वातः) मानो झंझावात के सदृश होकर (उन्मथायति) प्रलयकाल के उपस्थित होने पर जगत् को मथ डालता है।

८५९. कुलायं कृणवादिति ॥५॥

अतः उपासक इस ब्रह्म को ही (कुलायम्) अपना घोंसला अर्थात् आश्रय (कृणवात् इति) बनाए। अर्थात् जैसे पक्षी-शावक घोंसले में विश्राम पाता है, वैसे उपासक ब्रह्मरूपी घोंसले को अपना विश्राम-स्थान बनाए।

८६०. उग्रं वनिषदाततम् ॥६॥

(उग्रम्) कर्मव्यवस्था के नियन्त्रण में उग्ररूप, (आततम्) सवव्यापक ब्रह्म की (वनिषत्) सम्यक् भक्ति उपासक किया करे।

[वनिषत्=वन् संभक्तौ। सम्यक्-भक्ति=श्रद्धापूर्वक भक्ति।]

८६१. न वनिषदनाततम् ॥७॥

उपासक (अनाततम्) अव्यापक की (न वनिषत्) संभक्ति न किया करे। [वनिषत्=वन् संभक्तौ।]

८६२. क एषां कर्करी लिखत् ॥८॥

(कः) कौन है वह (कर्करी) पुनः-पुनः जगत् का कर्त्ता, जो कि (एषाम्) इन जीवात्माओं के कर्मों का (लिखत्) लेखा लिखता है?

८६३. क एषां दुन्दुभिं हनत् ॥९॥

(कः) कौन है जो कि (एषाम्) इन जीवात्माओं के कर्तव्याकर्तव्य की (दुन्दुभिम्) डौंडी (हनत्) पीटता है?

८६४. यदीयं हनत् कथं हनत् ॥१०॥

(यदि) अगर (इयम्) यह कोई दैवीशक्ति है, जो कि (हनत्) कर्तव्याकर्तव्य कर्मों की डौंडी पीटती है, तो (कथम्) किस प्रकार (हनत्) डौंडी पीटती है?

८६५. देवी हनत् कुहनत् ॥११॥

(देवी हनत्) कोई दिव्यशक्ति डौंडी पीटती है, तो (कुहनत्) वह कहां पीटती है? [कुहनत्=कुह+हनत्।]

८६६. पर्यागारं पुनःपुनः ॥१२॥

वह दिव्यशक्ति (पर्यागारम्) घर-घर में डौंडी पीटती है, (पुनः पुनः) और बार-बार पीटती है।

[वह दैवीशक्ति है परमेश्वरीय शक्ति ही, जो कि प्रत्येक जीवात्मा के मानुष-घर में, अर्थात् शरीर में, उस के कर्तव्याकर्तव्य कर्मों की डौंडी पीटती रहती है, और बार-बार पीटती रहती है। वह डौंडी है,—भय शंका और लज्जारूपी डौंडी; या सुखदुःख के तारतम्य की डौंडी।]

८६७. त्रीण्युष्ट्रस्य नामानि ॥१३॥

(उष्ट्रस्य) सांसारिक-दाहों अर्थात् ताप-सन्तापों से त्राण करनेवाले, बचानेवाले परमेश्वर के (त्रीणि) तीन (नामानि) नाम हैं।

[उष्ट्र=उष् (दाहे)+त्र (त्राणकर्त्ता)।]

८६८. हिरण्य इत्येके अब्रवीत् ॥१४॥

(एके) कई एक अर्थात् सात्त्विक-प्रकृति के उपासक कहते हैं कि वह (हिरण्यम्) "हिरण्य" नामवाला है, (अब्रवीत्) ऐसा ही वेद ने भी कहा है।

[हिरण्यम्=हितं च रमणीयं च, हृदयरमणं भवति (निरु० २।३।१०)। अर्थात् परमेश्वर सब का "हित" करता है, "रमणीय" है, और "हृदयों में रमता है"। वेद में भी कहा है कि "हिरण्यरूपः स हिरण्यसंदृक्" (ऋ० २।३५।१०), अर्थात् वह परमेश्वर हिरण्य के रूपवाला है, और हिरण्य के सदृश है।]

८६९. द्वौ वा ये शिशवः ॥१५॥

(वा) तथा (ये) जो (शिशवः) शिशुबुद्धि के लोग हैं, वे कहते हैं कि (द्वौ) उस के दो नाम हैं।

[शिशवः=तामसिक और राजसिक लोग।]

८७०. नीलशिखण्डवाहनः ॥१६॥

(नीलशिखण्डवाहनः) दो नाम हैं—नीलवाहन, और शिखण्ड-वाहन।

["नील" पद तमोगुण का द्योतक है, और "शिखण्ड" पद रजोगुण का। "अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्" (श्वेता० उप० ४।५) में "अजा" का अर्थ है—"न उत्पन्न होनेवाली प्रकृति"। लोहित=रजोगुण। शुक्ल=सत्त्वगुण। कृष्ण=तमोगुण। तमोगुण को मन्त्र में "नील" कहा है, और रजोगुण का निर्देश "शिखण्ड" पद द्वारा किया गया है। शिखण्ड का अर्थ है—मोर की पूंछ, जो कि रंगबिरंगी होती है। रजोगुणी व्यक्ति संसार के नानाविध रंग-बिरंगों को चाहता है। शिशुबुद्धिवाले लोग कहते हैं कि परमेश्वर "नीलवाहन" है, तमोगुणवाले जगत् का वहन करता है; और वह "शिखण्डवाहन" है, रजोगुणी जगत् का वहन करता है। तमोगुणी व्यक्ति को जगत् तमोमय दीखता है, रजोगुणी को रजोमय, तथा सत्त्वगुणी को जगत् में सत्त्वगुण दीखता है।]

सूक्त १३३

८७१. वितंतौ किरणौ द्वौ तावा पिनष्टि पूरुषः।
न वै कुमारि तत् तथा यथा कुमारि मन्यसे ॥१॥

(किरणौ) विक्षेपक (द्वौ) दो तत्त्व (विततौ) विशेषरूप में फैले हुए हैं, (तौ) उन दोनों को (पूरुषः) परम पुरुष परमेश्वर (आ पिनष्टि) पूर्णतया पीसता है, विनष्ट करता है,—(कुमारि) हे कुमारी! (वै) निश्चय है कि (तत्) वह तेरा कथन (न तथा) तथ्य नहीं (यथा) जैसे कि (कुमारि मन्यसे) हे कुमारी! तू मानती है।

[किरणौ=कृ विक्षेपे+क्युः (उणादि कोष २।८२)। रजस् और तमस,—इन दो को 'किरणौ' कहा है, क्योंकि ये दोनों चित्त को विक्षिप्त कर देते हैं, इस से चित्त योगोपयोगी नहीं रहता। कुमारी मानती है कि इन दोनों विक्षेपक तत्त्वों को परम पुरुष परमेश्वर ही पीस सकता है, इन को पीसने के लिये अस्मदादि पुरुषों का प्रयत्न सफल नहीं हो सकता। इस विचार का प्रतिषेध मन्त्र में किया है। पूरुषः, देखो—(मन्त्र ८५१)। इस सूक्त में "पूरुष" से अभिप्रेत है परमेश्वर, और पुरुष से अभिप्रेत है अस्मदादि पुरुष। कुमारि=आध्यात्मिक तत्त्वों के सम्बन्ध में ज्ञान-चर्चा के लिये

कन्याओं को प्रोत्साहित करना चाहिये। यदि कन्याओं की अभिरुचि आध्यात्मिक बन जाये, तो सन्तानों पर आध्यात्मिक विचारों का प्रभाव भी पड़ेगा।]

८७२. मातुष्टे किरणौ द्वौ निवृत्तः पुरुषानृते।
न वै कुमारि तत् तथा यथा कुमारि मन्यसे ॥२॥

(किरणौ) विक्षेपक (द्वौ) दो अर्थात् रजस् और तमस्, जो कि (पुरुषानृते ते) पुरुष में रहनेवाले अनृतरूप दो तत्त्व हैं वे, (मातुः) जगन्माता के दिये हुए हैं, (निवृत्तः) इसलिये उसी की शक्ति द्वारा (निवृत्तः) ये दोनों विक्षेपक निवृत्त हो जाते हैं,—(कुमारि) हे कुमारी! (वै) निश्चय है कि (तत्) वह तेरा कथन (न तथा) तथ्य नहीं है, (यथा) जैसे कि (कुमारि मन्यसे) हे कुमारि! तू मानती है।

[मन्त्र ८७१ में कुमारी का यह अभिप्राय है कि परमपुरुष परमेश्वर हम सब का पिता है, रक्षक है। इसलिये रक्षक होने के कारण वह हमारे रजस् तमस् को पीस डालेगा, ताकि दुःखों से हमारी रक्षा हो सके। और मन्त्र ८७२ में कुमारी का यह अभिप्राय है कि परमेश्वर मातृरूप है। माता करुणामयी होती है, अतः करुणामयी जगन्माता निज स्वाभाविक करुणा द्वारा रजस् तमस् को निवृत्त कर देगी। अनृते=रजस् और तमस् अनृतरूप हैं, ऋत अर्थात् सत्यमार्ग के विरोधी हैं, तथा ऋतम्भरा प्रज्ञा को ये प्रकट नहीं होने देते। ते=अनृते]

८७३. निगृह्य कर्णकौ द्वौ निरायच्छसि मध्यमे।
न वै कुमारि तत् तथा यथा कुमारि मन्यसे ॥३॥

हे कुमारी! (द्वौ) दोनों (कर्णकौ) विक्षेपकों अर्थात् रजस् और तमस् का (निगृह्य) निग्रह करके, उन्हें (मध्यमे) मध्यम मार्ग में तू (निरायच्छसि) नियमन करना मानती है,—(कुमारि) हे कुमारी! (वै) निश्चय से (तत्) वह तेरा कथन या मानना (न तथा) तथ्य नहीं है, (यथा) जैसे कि (कुमारि) हे कुमारी! (मन्यसे) तू मानती है।

[कर्णकौ=किरणौ (कृ विक्षेपे), किरति विक्षिपतीति कर्णः (उणादि कोष ३।१०)। मध्यमे=जीवन का मध्यम मार्ग है—"त्यागपूर्वक भोग"। यथा—"तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मा गृधः" (यजु० ४०।१)। अर्थात् न संसार

में लिप्त होना और न योग के वैराग्य और अभ्यास-मार्ग का अवलम्बन करना। मन्त्र का अभिप्राय है कि इस मध्यम मार्ग द्वारा जीवन तो सुखी हो सकता है, परन्तु इस मार्ग द्वारा न तो चित्तवृत्तिनिरोध सम्भव है, और न कैवल्य-प्राप्ति। मध्यममार्ग के लिये देखो—(योग १।३३)। मध्यमे= moderate life ।]

८७४. उत्तानायै शयानायै तिष्ठन्ती वाव गूहसि ।
न वै कुमारि तत् तथा यथा कुमारि मन्यसे ॥४॥

हे कुमारी ! (उत्तानायै) पीठ पर लेटी हुई, (शयानायै) या निद्रावस्था के रूप में, (वा तिष्ठन्ती)या बैठी हुई या खड़ी हुई तू (अवगूहसि) चित्तवृत्तियों का निरोध करती है। (कुमारि) हे कुमारी (वै) निश्चय से (तत्) तेरा वह कथन या मानना (न तथा) तथ्य नहीं है, (यथा) जैसे कि तू (कुमारि) हे कुमारी ! (मन्यसे) मानती है।

[योगदर्शन में चित्त की स्थिरता के लिये कई मार्ग दर्शाए हैं। उन मार्गों में "स्वप्नज्ञान" और "निद्रा-ज्ञान" का अवलम्बन (योग १।३८); तथा "यथाभिमतध्यान" को भी साधन माना है (योग १।३९)। कुमारी का अभिप्राय इन साधनों से है। मन्त्र का अभिप्राय है कि यत्किंचित् स्थिरता के लिये ये साधन उपकारी तो हो सकते हैं, परन्तु राजसिक तथा तामसिक वृत्तियों का पूर्ण निरोध तो विना ध्यान और वैराग्य के सम्भव नहीं। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार और धारणा के पश्चात्, "ध्यान" की स्थिति सम्भव है। इसलिये कुमारी का कथन ठीक नहीं।]

८७५. श्लक्ष्णायां श्लक्ष्णिकायां श्लक्ष्णमेवाव गूहसि ।
न वै कुमारि तत् तथा यथा कुमारि मन्यसे ॥५॥

(श्लक्ष्णायाम्) सुकुमार-मातृशक्ति में, तथा (श्लक्ष्णिकायाम्) अतिसुकुमार-मातृशक्ति में, हे परमेश्वरीय मातृशक्ति ! तू (श्लक्ष्णम् एव) सुकुमार-भावों को ही (अवगूहसि) छिपाए रखती है। (कुमारि) हे कुमारी ! (वै) निश्चय से (तत्) वह तेरा कथन या मानना (न तथा) तथ्य नहीं है, (यथा) जैसे कि तू (कुमारि) हे कुमारी ! (मन्यसे) मानती है।

[कुमारी पुनः परमेश्वरीय-मातृशक्ति को युक्तिरूप में उपस्थित करती है। वह ख्याल करती है कि सांसारिक मातृशक्ति में, हे परमेश्वरीय मातृशक्ति ! तू ने सुकुमार-भावनाओं का प्रदान किया है, जिनके द्वारा उन का दयार्द्र-हृदय बच्चों के कष्ट-निवारण में सदा तत्पर रहता है। हे परमेश्वर ! आप भी जगन्माता हैं, तब आपका भी तो हृदय अपनी सन्तानों के कष्ट-निवारण में तत्पर होना चाहिये। तब सन्तानों के रजस् और तमस् की निवृत्ति भी आपकी स्वाभाविक मातृ-दया द्वारा अवश्य हो जायगी। श्लक्ष्णिका=अनुकम्पायां "कः", (अष्टा० ५।३।७६)। अनुकम्पा द्वारा मातृ-शक्ति की अतिसुकुमारता का द्योतन किया है।]

८७६. अव श्लक्ष्णमिव भ्रंशदन्तर्लोममति ह्रदे ।
न वै कुमारि तत् तथा यथा कुमारि मन्यसे ॥६॥

(लोममति) लोमोंवाले (ह्रदे अन्तः) तालाब के भीतर (श्लक्ष्णम् इव) सुकुमारता जैसी भावना (अव भ्रंशत्) परमेश्वर ने डाल रखी है। (कुमारि) हे कुमारी ! (वै) निश्चय से (तत्) वह तेरा कथन (न तथा) तथ्य नहीं है, (यथा) जैसे कि (कुमारि) हे कुमारी ! (मन्यसे) तू मानती है।

[इव=मन्त्र में उपमा दी गई है। माता की सुकुमार-भावना को उपमान मानकर, पिता की सुकुमार-भावना को उपमेय मानकर यह दर्शाया है कि पिता की सुकुमार-भावना, माता की सुकुमार-भावना की अपेक्षा यत्किंचित् न्यून होती है। यह अभिप्राय "इव" पद द्वारा दर्शाया गया है। पिता की सुकुमार-भावना नियन्त्रण से मिश्रित होती है, परन्तु माता की सुकुमार-भावना दया स्नेह और त्याग से मिश्रित रहती है। कुमारी का विचार है कि परमेश्वर की [1]मातृशक्ति की सुकुमार-भावना की शक्तिमत्ता, रजस् और तमस् के दूर करने में तो मन्त्र ८७५ में निराकृत हो गई। परन्तु सम्भव है कि नियन्त्रण-मिश्रित [1]पित्र्य-सुकुमार-भावना परमेश्वर अपने भक्त-पुत्र के रजस्-तमस् को स्वयं दूर कर दे। परन्तु

१. वेद में परमेश्वर का माता और पिता इन दोनों रूपों में वर्णन हुआ है। यथा—

'त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ ।
अधा ते सुम्नमीमहे' ॥ (सामवेद, उत्तरार्चिक, प्रपाठक ४,खण्ड ६, मन्त्र २)।

मन्त्र में कुमारी के इस विचार का भी निराकरण किया गया है। समग्र सूक्त का अभिप्राय यह है कि राजस और तामस भावनाओं के निराकरण के लिये उपासक की श्रद्धामयी भक्ति, अभ्यास और वैराग्य, आराधना, ईश्वरप्रणिधान आदि मुख्य साधन हैं। इनके पश्चात् ही उपासक ईश्वरीय कृपा का पात्र बनता है। अतः रजस्-तमस् के पराभव के लिये ये दोनों अर्थात् परमेश्वरीय कृपा और योग में पुरुषार्थ, साधन ही अपेक्षित हैं। जैसे कि कहा है कि—"**भक्तिविशेषात् आवर्जित ईश्वरस्तमनुगृह्णाति, अभिध्यानमात्रेण। तदभिध्यानादपि योगिनः आसन्नतमः समाधिलाभः फलं च भवति**" (योग, व्यासभाष्य १।२३)। लोममति ह्रदे=लोमवाला ह्रद है—हृदय। पुरुष की लोमवाली छाती के भीतर उस का हृदय होता है। इस हृदयरूपी ह्रद के किनारे अर्थात् छाती पर लोमरूपी घास उगा रहता है। हृदय के भीतर "रक्त" मानो ह्रद का "जल" है। अथर्ववेद (१०।२।११) में रक्त को "आपः" कहा है, और हृदय को "सिन्धु"।]

सूक्त १३४

८७७. इहेत्थ प्रागपागुदगधराग्—अरालागुदभर्त्सथ ॥१॥

(अरालाक्) हे कुटिल चालवालो! (इह) इस पृथिवी में (एत्थ) आओ, जन्म लो। चाहे (प्राक्) पृथिवी के पूर्वभाग में आओ, चाहे (अपाक्) पश्चिम में आओ। चाहे (उदक् अधराक्) उत्तर या दक्षिण भाग में आओ; तुम अपनी कुचालों को हटाने के लिये, (उद् अभर्त्सथ) अपने श्रेष्ठ-मानसिक बलों द्वारा अपनी कुचालों की भर्त्सना किया करो, तर्जना किया करो, डांट-डपट दिया करो।

[अभिप्राय यह है कि मनुष्य के चाल-चलन पर पृथिवी के प्रदेश विशेष का कोई प्रभाव नहीं होता। कुचाली मनुष्य पृथिवी के प्रत्येक प्रदेश में होते हैं। उन कुचालों की निवृत्ति के लिये प्रत्येक को यत्नवान् होना चाहिये, और मनों में प्रबल विरोधी-भावनाओं को जागरित करना चाहिये। कुचालों के निराकरण के सम्बन्ध में देखो—योगसूत्र "**वितर्कबाधने प्रतिपक्ष-भावनम्**" (योग २।३३)। तथा "भर्त्सना" के सम्बन्ध में मन्त्र (अथर्व० ६।४५।१) विशेषतया विचार-योग्य है। यथा—"**परोपेहि मनस्पाप किमशस्तानि शंससि। परेहि न त्वा कामये**"। अर्थात् हे मानसिक-पाप! तू परे हट जा, तू क्यों अप्रशस्त-विचारों की प्रशंसा करता है। परे हट जा,

तेरी कामना मैं नहीं करता—इत्यादि। अरालाक्=अराल=curved, crooked (आपटे)+अञ्च् (गतौ)। इहेत्थ=इह+एत्थ (एङि पररूपम्; अष्टा० ६।१।९४) छान्दस रूप।]

८७८. इहेत्थ प्रागपागुदगधराग्—वत्साः पुरुषन्त आसते ॥२॥

(इह) इस पृथिवी में (एत्थ) आओ, जन्म लो,—(प्राक्, अपाक्, उदक्, अधराक्) चाहे पृथिवी के पूर्व आदि किसी भी प्रदेश में, किसी भी भूभाग में आओ, सर्वत्र (वत्साः) बच्चे (पुरुषन्तः आसते) पुरुष होकर पौरुषकर्म करते हैं। [अर्थात् पृथिवी के प्रत्येक प्रदेश में पौरुषकर्म करनेवाले बच्चे उत्पन्न होते हैं, इन पौरुष कर्मों का सम्बन्ध किसी विशेष भूभाग के साथ नहीं।]

८७९. इहेत्थ प्रागपागुदगधराग्—स्थालीपाको वि लीयते ॥३॥

(इह) इस पृथिवी में (एत्थ) आओ, जन्म लो,—(प्राक्, अपाक्, उदक्, अधराक्) चाहे पृथिवी के पूर्व आदि किसी भी भू-भाग में जन्म लो,—सर्वत्र (स्थालीपाकः) स्थालीपाक (विलीयते) अच्छी प्रकार पकाया जाता है।

[स्थालीपाकः—खाने के लिये थाली में रखा पका भोजन। वैदिक आर्थिक नीति में भोजन के निमित्त, सब के लिये भोज्यसामग्री का प्रबन्ध होना अत्यावश्यक है। यज्ञकर्म के लिये भी स्थालीपाक पकाया जाता है। इस से मन्त्र में यज्ञकर्मों के करने का भी विधान किया है। "विलीयते" का अभिप्राय "विलयन" भी सम्भव है, अर्थात् समाप्त करना। विलयन= Removing, taking away (आपटे)। अर्थात् गृहस्थी को चाहिये कि आयु के नियत काल में स्थालीपाक आदि क्रियाओं का परित्याग कर, वनस्थ या संन्यास धारण कर, कन्द मूल फलों पर जीवन-निर्वाह करे।]

८८०. इहेत्थ प्रागपागुदगधराग्—स वै पृथु लीयते ॥४॥

(इह) इस पृथिवी में (एत्थ) आओ, जन्म लो,—(प्राक्, अपाक्, उदक्, अधराक्) चाहे पृथिवी के पूर्व आदि किसी भी भूभाग में जन्म लो। (सः) वह स्थालीपाक (वै) निश्चय से (पृथु) बहुमात्रा में सर्वत्र (लीयते) पकाया जाता है। [स्थालीपाक, देखो मन्त्र ८७९।]

८८१. इहेत्थ प्रागपागुदगधराग्—आष्टे लाहणि लीशाथी ।५॥

हे स्त्रियो ! (इह) इस पृथिवी में (एत्थ) आओ, जन्म लो,— (प्राक्, अपाक्, उदक्, अधराक्) चाहे पृथिवी के पूर्व आदि किसी भी भूभाग में जन्म लो। (लाहणि) हे प्राप्त भोगों का परित्याग करनेवाली स्त्री ! (ते) तेरे लिये (लीशाथी) असम्प्रज्ञात समाधि में "लीन" होना, तथा सम्प्रज्ञात समाधि में योगनिद्रा में "शयन" करना (आः) आरम्भ से ही नियत है।

[लाहणि =ला (आदान, प्राप्त करना) +हणि (हन्=हिंसा, त्याग), सम्बुद्धौ। लीशाथी=लीन+शयन। आः=आसीत्; अर्थात् प्रारम्भ काल से ही वेदों में तेरे लिये यह मार्ग निर्दिष्ट है, अर्थात् गृहस्थकाल में तथा अगृहस्थ काल में तेरे लिये योग का विधान है। यथा—"पत्युरनुव्रता भूत्वा सं नह्यस्वामृताय कम्" (अथर्व० १४।१।४२)। इस मन्त्र में "अमृताय" पद द्वारा पत्नी के लिये मोक्ष का विधान किया है।]

८८२. इहेत्थ प्रागपागुदगधराग्—अक्ष्लिली पुच्छिलीयते । ६॥

हे स्त्रियो ! (इह) इस पृथिवी में (एत्थ) आओ, जन्म लो,— (प्राक्, अपाक्, उदक्, अधराक्) चाहे पृथिवी के पूर्व आदि किसी भूभाग में जन्म लो। यह ध्यान रखो कि (अक्ष्लिली) इन्द्रियों के विषयों में अत्यन्त लीन हुई स्त्री (पुच्छिलीयते) पुच्छिल अर्थात् पूंछवाले पशु के सदृश हो जाती है।

[अक्ष्लिली=अक्ष=इन्द्रियां+लिली=लीङ्,यङ्लुक्। पुच्छिलीयते = पुच्छिल (पशु)+आचारे क्यङ्।]

सूक्त १३५

८८३. भुगित्यभिगतः शलित्यपक्रान्तः फलित्यभिष्ठितः ।
दुन्दुभिमाहननाभ्यां जरितरोऽथामो दैव ॥१॥

(भुग् इति) जो भोगी है, वह (अभिगतः) भोगों की ओर जाता है; (शल् इति) भोगों से जो अपना संवरण कर लेता है, अपने आपको बचा लेता है वह (अपक्रान्तः) भोगों से पीछे हट जाता है, भोगों का परित्याग कर देता है; (फल् इति) और जो जीवन के फल को प्राप्त करना चाहता

है, वह (अभिष्ठितः) योगमार्ग में साक्षात् निष्ठावान् हो जाता है। (जरितः) हे वेदों का स्तवन करनेवाले ! (दैव) देवाधिदेव परमेश्वर ! इन उपर्युक्त सिद्धान्तों की (दुन्दुभिम्) डौंडी (आहननाभ्याम्) डौंडी पीटने के दण्डों द्वारा हम पीटते हैं, और (ओथामः=आ उथामः) प्रजा का उत्थान करते हैं।

[भुग्, शल्, फल् (कर्तरि क्विप्)। शल्=संवरणे, अपने पर सम्यक् आवरण डाल लेना, ताकि वे भोगों के शिकार न बन सकें। यह आवरण आभ्यन्तर आवरण है, जो कि मन पर डाला जाता है, यम-नियम, तप, स्वाध्याय आदि का आवरण।]

८८४. कोशबिले रजनि ग्रन्थेर्धानमुपानहि पादम् ।
उत्तमां जनिमां जन्यानुत्तमां जनीन् वर्त्मन्यात् ॥२॥

हे देवाधिदेव ! (मन्त्र ८८३) आप (उत्तमाम् जनिमाम्) उत्तम-जन्म (यात्) प्राप्त कराते हैं, तथा आप (उत्तमान् जन्यान्) उत्तम जन्मों को प्राप्त पुरुषों को, तथा उत्तम जन्मों को प्राप्त (जनीन्) जननियों को, (वर्त्मन्) उत्तममार्ग में (यात्) चलाते हैं। ऐसे पुरुष और जननियां (कोशबिले) अपने हृदयकोशों में, चित्तों को या तो इस प्रकार ध्यान द्वारा निहित करते हैं, जैसे कि (रजनि=रजन्याम्) रात्रि के समय (कोशबिले) खजाने के पेट में (ग्रन्थेः) धन की थैली को (धानम्) निधिरूप में बड़ी सावधानी के साथ रखा जाता है, और या अभ्यस्त अभ्यासी हृदय-कोशों में चित्तों को ऐसी सुलभता के साथ निहित कर लेते हैं, जैसे कि चलने के लिये व्यक्ति (पादम्) अपने पैर को (उपानहि) जूती में आसानी से निहित करता है।

८८५. अलाबूनि पृषातकान्यश्वत्थपलाशम् ।
पिपीलिकावटश्वसो विद्युत्स्वापर्णशफो गोशफो जरितरोऽथामो दैव ॥३॥

(अलाबूनि) जैसे तूम्बे नदी से पार करते हैं, वैसे हे परमेश्वर ! आप भवसागर से पार करते हैं। (पृषातकानि) जैसे वायु वर्षा-जल-बिन्दुओं द्वारा पृथिवी को सींचती है, वैसे आप आनन्दरस की बूंदों द्वारा हमें सींच रहे हैं। (अश्वत्थ पलाशम्) कालरूपी अश्व पर परमेश्वर अधिष्ठातृरूप में स्थित है, वह पलभर में जगत् का अशन कर सकता है।

(पिपीलिकावटश्वसः) वह चींटियों के बिलों में भी प्राणवायु पहुंचाता है। (विद्युत्स्वापर्णशफः) वह विद्युत् तथा विविध द्युतियों से सम्पन्न सूर्य-चन्द्र-तारागणों की, और उत्तम पत्तों से सम्पन्न वनस्पतियों की जड़रूप है, मूल कारण है। (गोशफः) हमारी इन्द्रियों, भूमियों, तथा जङ्गम प्राणियों की वह जड़ है, मूल कारण है। (जरितः) हे वेदों का स्तवन करनेवाले ! (देव) हे देवाधिदेव ! (ओत्थामः=आ उत्थामः) आपकी सहायता द्वारा हम उत्थान करते हैं।

[अलाबूनि=(द्र०– मन्त्र ८५५; ८५६)। पृषातकानि=पृषत=पृषु सेचने=जलविन्दु, तथा "पृषत्यो मरुताम्" (निघ० १।१५)। शफ= Root of a tree (आपटे)। अवट=गर्त। श्वसः=श्वसन (वायु)। अश्वत्थ=अश्व (काल), यथा–"कालो अश्वो भवति" (अथर्व० १९।५३। १)+स्थ। पलाशम्=पल+अश् (भोजने)। इसीलिये परमेश्वर को "अत्ता" कहते हैं। महाप्रलय में वह सब का अशन कर लेता है। गोशफः= गौ=इन्द्रियां, भूमि आदि (उणादि कोष २।६८)।]

८८३. वी मे देवा अक्रंसताध्वर्यो क्षिप्रं प्रचर ।
सुसत्यमिद् गवामस्यसि प्रखुदसि ॥४॥

(इमे) ये (देवाः) सूर्य चन्द्र पृथिवी आदि दिव्य लोक-लोकान्तर, (वि अक्रंसत) अपने-अपने विविध मार्गों में गतियां कर रहे हैं, (अध्वर्यो) हे उपासना-यज्ञ के रचयिता उपासक ! तू भी (क्षिप्रम्) शीघ्र उपासना-यज्ञ में (प्रचर) प्रगति कर। हे परमेश्वर ! (गवाम्) गतिशील लोक-लोकान्तरों में आप (इद्) ही (सुसत्यम्) वस्तुतः सत्य-स्वरूप (असि) हैं, त्रैकालिक सत्तावाले हैं, (असि) सत्स्वरूप हैं, (प्रखुदसि=प्रखुर्दसि) आप ही जगत् में विशिष्ट क्रीड़ा लीला कर रहे हैं। [खुर्द=क्रीडायाम्।]

८८७. पत्नी यदृश्यते पत्नी यक्ष्यमाणा जरितरोथामो दैव ।
होता विष्टीमेन जरितरोथामो दैव ॥५॥

(जरितः) हे वेदों का स्तवन करनेवाले !, (दैव) हे देवाधिदेव परमेश्वर ! (पत्नी) विवाहित संस्कार द्वारा प्राप्त हुई पत्नी, तभी (पत्नी) पत्नी (दृश्यते) प्रतीत होती है, (य=यद्) जब कि वह (यक्ष्यमाणा) विवाह-संस्कार द्वारा सत्कृत हो रही होती है, (आ उथामः) तब हमारा पूर्णरूप से उत्थान होता है, उन्नति होती है। तथा (जरितः) हे वेदोपदेष्टः !

(दैव) हे देवाधिदेव परमेश्वर ! जब कि (होता) विवाह-संस्कार में आहुतियां डालनेवाला पति (विष्टीमेन) विशेषतया स्नेहार्द्र हृदय द्वारा पत्नी को स्वीकार कर लेता है, तभी (ओथामः=आ उथामः) हमारा उत्थान होता है, हमारी समुन्नति होती है।

[जरितः=जरिता स्तोता (निघ० ३। १६)। पत्नी=पत्युर्नो यज्ञसंयोगे (अष्टा० ४।१।३३)। होता=हु दाने, आहुतियां देनेवाला। विष्टीमेन=वि+ष्टीम (आर्द्रीभावे)। यक्ष्यमाणा=यक्ष् पूजायाम्; अथवा जो यज्ञ करनेवाली होगी। पति के साथ मिलकर विवाह-संस्कार में यज्ञ करेगी (यज्=देवपूजा)।]

८८८. आदित्या ह जरितरङ्गिरोभ्यो दक्षिणामनयन् ।
तां ह जरितः प्रत्यायंस्तामु ह जरितः प्रत्यायन् ॥६॥

(आदित्याः) आदित्यसम तेजस्वी अध्यात्मगुरु जन, (ह) निश्चय से (अङ्गिरोभ्यः) प्राणाभ्यासी शिष्यों से (दक्षिणाम्) श्रद्धा और सेवारूपी दक्षिणा (अनयन्) प्राप्त करते हैं। हे (जरितः) हे वेदोपष्टा परमेश्वर ! (ताम्) उस प्राप्त दक्षिणा को वे अध्यात्मगुरुजन, शिष्यों के प्रति (प्रत्यायन्) लौटा देते हैं—अध्यात्म-प्रशिक्षण और शिष्यों के संरक्षण के रूप में। (ह) निश्चय से (ताम्) उस दक्षिणा को (जरितः) हे वेदोपदेष्टा परमेश्वर ! अध्यात्मगुरुजन शिष्यों के प्रति (प्रत्यायन्) लौटा देते है,—अध्यात्म-प्रशिक्षण और शिष्यों के संरक्षण के रूप में।

८८९. तां ह जरितर्नः प्रत्यगृभ्णंस्तामु ह जरितर्नः प्रत्यगृभ्णः ।
अहानेतरसं न वि चेतनानि यज्ञानेतरसं न पुरोगवामः ॥७॥

(जरितः) हे वेदोपदेष्टा परमेश्वर ! जैसे (नः) हम शिष्यों की (ताम्) उस दक्षिणा को अध्यात्मगुरुजनों ने (प्रत्यगृभ्णन्) स्वीकार किया है, वैसे (जरितः) हे वेदोपदेष्टा ! (ह उ) निश्चय से (नः ताम्) हम उपासकों की उस दक्षिणा को, श्रद्धा भक्ति तथा आत्म-समर्पण को (प्रत्यगृभ्णः) आप भी स्वीकार कीजिये। जैसे कि (अहानेतरसम्) दिनों के प्रकाश के विना (वि चेतनानि न) विविध चेतना अर्थात् ज्ञान-सम्बन्धी विविध कार्य नहीं हो सकते, वैसे ही (यज्ञानेतरसम्) उपासना आदि यज्ञों के विना (न पुरोगवामः) हम अध्यात्ममार्ग में आगे नहीं बढ़ सकते।

[¹अहानेतरसम्=अहानि+आ+इतरसम् (इतरत्र)। यज्ञानेतरसम् =यज्ञान्+आ+इतरसम् (इतरत्र)।]

८९०. उत श्वेत आशुपत्वा उतो पद्याभिर्यविष्ठः ।
उतेमाशु मानं पिपर्ति ॥८॥

(उत) तथा (श्वेतः) शुभ कर्मोंवाला और शुभ्र सात्विक वृत्तियोंवाला उपासक, (आशुपत्वा) शीघ्र योगमार्ग पर गति करता है, शीघ्र उन्नति करता है, (उत उ) और (पद्याभिः) पद्यमयी-ऋचाओं द्वारा, उनके श्रवण-मनन द्वारा (यविष्ठः) योगमार्ग में अति वेग प्राप्त कर लेता है। (उत) और (आशु) शीघ्र (ईम् मानम्) योगी होने के इस मान को, सत्कार को (पिपर्ति) पा लेता है।

८९१. आदित्या रुद्रा वसवस्त्वेऽनु त इदं राधः प्रति गृभ्णीह्यङ्गिरः ।
इदं राधो विभु प्रभु इदं राधो बृहत् पृथु ॥९॥

(त्वे) वे (आदित्याः) आदित्य ब्रह्मचारी, (रुद्राः) रुद्र ब्रह्मचारी, (वसवः) और वसु ब्रह्मचारी भी (ते) हे योगिन्! तेरी (इदं राधः) इस योग-सम्पत्ति का (अनु) अनुकरण करने लगते हैं। (अङ्गिरः) हे प्राणायामाभ्यासी नवीन उपासक! तू भी इस योग-सम्पत्ति का (प्रति गृभ्णीहि) ग्रहण कर, और इसके लिये चेष्टावान् हो। (इदं राधः) यह योग-सम्पत्ति (विभु) विभूतियों से सम्पन्न है, (प्रभु) तथा प्रभुता देनेवाली है। (इदं राधः) यह योग-सम्पत्ति (बृहत्) वृद्धिकारक और (पृथु) महाविस्तारी है।

८९२. देवा ददत्वासुरं तद् वो अस्तु सुचेतनम् ।
युष्माँ अस्तु दिवेदिवे प्रत्येव गृभायत ॥१०॥

(देवाः) अध्यात्मगुरुदेव (आसुरम्) प्राणविद्या-सम्बन्धी तथा योगज प्रज्ञा-सम्बन्धी प्रशिक्षण (ददतु) देवें, (तद्) वह प्रशिक्षण, हे शिष्यो! (वः) तुम्हें योगमार्ग में (सुचेतनम्) सुचेत करनेवाला (अस्तु) हो। वह

१. अथवा "अहा(अहानि)+अन्+आ+इतरसम्"=अहा+अनेतरसम्=अहानेतरसम्। "अहानेतरसं न विचेतनानि"=दिनों के होते "विचेतनानि" चेतना-रहित कार्य नहीं होते, अर्थात् दिनों के प्रकाशों के होते ज्ञान-सम्बन्धी कार्य होते हैं।

प्रशिक्षण (दिवे-दिवे) दिन-दिन अर्थात् प्रतिदिन (युष्मान्) तुम्हें (अस्तु) मिलता रहे। (प्रति गृभायत एव) उस प्रशिक्षण का ग्रहण तुम अवश्य करते रहो। [आसुरम्=असु=(प्राण); असु=(प्रज्ञा; निघ० ३।९)।]

८९३. त्वमिन्द्र शर्मरिणा हव्यं पारावतेभ्यः ।
विप्राय स्तुवते वसुवनिं दुरश्रवसे वह ॥११॥

(इन्द्र) हे परमेश्वर! (त्वम्) आप, (पारावतेभ्यः¹) पराविद्या और अवराविद्या के गुरुओं से, (शर्मरिणा) सुखदायी मार्ग द्वारा हमें (हव्यम्) अध्यात्म-हवि (आ वह) प्राप्त कराइये। (दुरश्रवसे) जो दुर्मति मनुष्य पहले श्रवण-मनन से रहित था, परन्तु जो अब (विप्राय) मेधावी बनकर (स्तुवते) आपकी स्तुतियां करने लगा हैं, उसके लिये भी (वसुवनिम्) भक्ति-सम्पत् (आ वह) प्राप्त कराइये।

[शर्मरिणा=शर्म=सुख (निघ० ३।६) रा=दाने+इन्+तृतीयैकवचन। पारावत=पारं परं भवति, अवतम्=अवारमवरम् (निरु० २।७।२४)। दुरश्रवसे=दुर्+अश्रवसे। वसुवनिम्=वसु (सम्पत्)+वनि (वन संभक्तौ)। शर्मरिणा=शर्मरिणा+आ+वह। शर्मरिणा से "आ" का छेद होकर "वह" के साथ अन्वित होता है।]

८९४. त्वमिन्द्र कपोताय च्छिन्नपक्षाय वञ्चते ।
श्यामाकं पक्वं पीलु च वारस्मा अकृणोर्बहुः ॥१२॥

(छिन्नपक्षाय) मातृपक्ष तथा पितृपक्ष के सम्बन्धियों से रहित हुए, या पक्ष और विपक्ष अर्थात् मित्र और शत्रु दोनों भावों से पृथक् हो चुके, दोनों में समभाव से वर्तनेवाले, (कपोताय) कपोत-वृत्ति का आश्रय लिये हुए, (वञ्चते) और सर्वत्र विचरते हुए=यायावर, (अस्मै) इस संन्यासी के लिये,—(इन्द्र) हे परमेश्वर! (त्वम्) आपने, (श्यामाकम्) स्वांक के आरण्य चावल, (च) और (पक्वं पीलु) पके पीलु फल, और (वाः) जल (बहुः) बहुत मात्रा में (अकृणोः) कर दिया है।

१. अथवा 'पारावतेभ्यः' पार+अवत+पंचमी विभक्ति बहुवचन। अर्थात् "भवसागर से पार करनेवाले" "अवतेभ्यः" अवत सदृश=कूप सदृश गम्भीर गुरुओं से। अवतः=कूपः (निघ० ३।२३)।

[जैसे वैतसीवृत्ति और वकवृत्ति आदि वृत्तियां हैं, वैसे ही कपोतवृत्ति भी है, जिस का आश्रय संन्यासियों को लेना चाहिये। वर्तमान समय में "कपोत" शान्तिसूचक माना जाता है।]

८९५. अरंगरो वावदीति त्रेधा बद्धो वरत्रया ।
इरामह प्रशंसत्यनिरामप सेधति ॥१३॥

परन्तु संसारी मनुष्य, (अरंगरः) जो कि सांसारिक-भोगों के विषों का पर्याप्त सेवन करता रहता है, और जो (वरत्रया) अविद्या की रस्सी द्वारा (त्रेधा) तीन अर्थात् आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक दुःखों में या स्थूल सूक्ष्म और कारण शरीरों में (बद्धः) बन्धा हुआ है, वह (वावदीति) सांसारिक-भोगों की ही बार-बार चर्चा करता है, तथा (इराम्) सांसारिक खान-पान की (अह) ही (आ प्रशंसति) पूर्णतया प्रशंसा करता, और (अनिराम्) सांसारिक खान-पान से विपरीत आध्यात्मिक-तत्त्वों का (अप सेधति) निराकरण करता रहता है।

[अरंगरः=अरम्=अलम्, पर्याप्त+गरम्=विष। इरा=अन्न (निघ० २।७); इरा=उदक (उणादि कोष २।२९); इरा=मद्य (उणादि कोष २।२९)। अन्न, जल, मद्य आदि सांसारिक-भोग।]

सूक्त १३६

८९६. यदस्या अंहुभेद्याः कृधु स्थूलमुपातसत् ।
मुष्काविदस्या एजतो गोशफे शकुलाविव ॥१॥

(यत्) जो कोई (कृधु) नाटा और (स्थूलम्) मोटा पुरुष, (अंहुभेद्याः) पापकर्म से विमुख (अस्याः) इस कुमारी के कुमारीत्व का (उपातसत्) विनाश करने को उद्यत होता है, तो यह अकेला ही क्या, अपितु (मुष्कौ इत्) दो मुष्टण्डे भी (अस्याः) इस कुमारी की कोपदृष्टि से (एजतः) कांप जाते हैं, (इव) जैसे कि (गोशफे) गौ के खुर जितने गढ़े में पड़े जल में (शकुलौ) दो मछलियां कांपती और तड़फती रहती हैं।

[अंहुभेद्याः=पापकर्म से जो अपने आप को छिन्न-भिन्न हुई मानती है। कृधु, स्थूलम्=ऐसे व्यक्ति कामी अधिक होते हैं। मुष्कौ—मुष्कः= A muscular or robust man (आपटे)। उपातसत्=तसु उपक्षये।]

८९७. यदा स्थूलेन पससाणौ मुष्का उपावधीत् ।
विष्वञ्चावस्या वर्धतः सिकतास्वेव गर्दभौ ॥२॥

(यदा) जब कुमारी, (स्थूलेन) शक्तिशाली (पससा) सतीत्वरूपी विनाशक-साधन द्वारा, (मुष्कौ अणौ) प्राणशक्तिसम्पन्न दो मुष्टण्डों का (उपावधीत्) लगभग हनन कर देती है, तब (अस्याः) इस कुमारी के वे दोनों मुष्टण्डे (विश्वञ्चा) इधर-उधर फड़कते हुए (वर्धतः) इस प्रकार लम्बे लेट जाते हैं, (एव=एवम्) मानो कि (सिकतासु) रेत या मिट्टी में (गर्दभौ) दो गधे लोट-पोट रहे हों।

[पससा=पस् नाशने+असुन्। अणौ=अनौ=अनू, अन् प्राणने। अनवः मनुष्याः (निघ० २।३)।]

८९८. यदल्पिका स्वल्पिका कर्कन्धूकेव पद्यते ।
वासन्तिकमिव तेजनं यन्त्यवाताय वित्पति ॥३॥

कुमारी (यद्)चाहे (अल्पिका) विवाहित स्त्री से अल्प आयुवाली हो, अर्थात् लगभग विवाह-योग्य आयुवाली हो, या (स्वल्पिका) और अल्प आयुवाली हो,—(कर्कन्धूका=कर्कन्धूकानि) वह पके मीठे बेरों के सदृश मधुर स्वभाववाली होती हुई भी,—बलात्कार की चेष्टा होने पर (अव पद्यते) खिन्न हो जाती है, (वित्पति) मानों प्राप्त-पतिका स्त्री के सदृश उस समय, (वासन्तिकम्) वसन्तकाल के (तेजनम् इव) तेज सूर्य के सदृश तेज धारण कर लेती है। और तब बलात्कारी पुरुष (अवाताय यन्ति) निष्प्राण हो जाने की ओर पग बढ़ा रहे होते हैं।

[कर्कन्धूक=बदरीफल (उणादि कोष १।९३) वैदिक यन्त्रालय, अजमेर। वित्पति="अवपद्यते" क्रिया का विशेषण; विद्लृ लाभे+पति। अवाताय=अथवा राजनियमानुसार वे वायुरहित कारागार में जाते हैं।]

८९९. यद् देवासो ललामगुं प्रविष्टीमिनमाविषुः ।
सकुला देदिश्यते नारी सत्यस्याक्षिभुवो यथा ॥४॥

(इनम्) इस गृहस्थाश्रम में (प्रविष्टीम्) प्रविष्ट हुई (ललामगुम्) प्रशस्त इन्द्रियोंवाली तथा प्रशस्त व्यवहारोंवाली वधू की,—(देवासः यद्)

श्वशुरगृह के देव अर्थात् पति, श्वशुर सास आदि जब (आविषुः) रक्षा करते हैं, तब (नारी) विवाहिता स्त्री (सकुला) कुलवाली हो गई है,—ऐसा (देदिश्यते) निर्दिष्ट कर दिया जाता है,—यह ऐसी सच्चाई है (यथा) जैसे कि (अक्षिभुवः) आखोंदृष्ट (सत्यस्य) सच्चाई का निर्देश किया जाता है।

९००. महानग्न्यतृप्नद्वि मो क्रदुदस्थानासरन् ।
शक्तिकानना स्वचमशकं सक्तु पद्यम ॥५॥

(महानग्नी) महा अपठिता अर्थात् महामूर्खा स्त्री (अतृप्नत्) क्रोध में सन्दीप्त रहती है, और (मा) मुझ पति के प्रति, (उ) निश्चय से (विक्रदत्) क्रोध के विविध वचन बोलती रहती है, और (अस्थानासरन्) अस्थान में, जहां कि उसे नहीं जाना चाहिये वहां, चली जाती है। वह (शक्तिकानना) अव्यवस्थित शक्तियों का मानो जङ्गल होती है, (स्वचम्) और अपनी शक्तियों को खाती रहती है, कमजोर करती जाती है,(अशकम्) और शक्तिहीन होती जाती है, और (सक्तु) सत्तुओं की तरह (पद्यम) अपने हठों में लगी रहती है, चिपकी रहती है।

[महानग्नी=महा+न+ग्ना (वाक्; निघ० १।११)+ई (स्त्रियाम्)। मन्त्र में मूर्खा स्त्री का वर्णन है। अतृप्नत्=तृप् संदीपने। स्वचम्=स्व+चमु (अदने)। कुन्ताप सूक्तों में यत्र तत्र अत्यन्त अप्रसिद्ध पदों और सन्धि आदि का प्रयोग हुआ है। इसलिये उन स्थानों में यथासम्भव अर्थ किये गए हैं।]

९०१. महानग्न्युलूखलमतिक्रामन्त्यब्रवीत् ।
यथा तव वनस्पते निरघ्नन्ति तथैवेति ॥६॥

(महानग्नी) महा-अपठिता महामूर्खा स्त्री, (उलूखलम्) ऊखल के कार्यों को (अतिक्रामन्ती) न करती हुई (अब्रवीत्) कहती है कि (वनस्पते) हे लकड़ी के बने ऊखल ! (यथा) जैसे (तव) तेरी, (निरघ्नन्ति) मुसली द्वारा निरन्तर पिटाई करते हैं, (तथैव इति) वैसी ही पिटाई मुझ पर भी होती रहती है।

९०२. महानग्न्युप ब्रूते भ्रष्टोऽथाप्यभूभुवः ।
यथैव ते वनस्पते पिप्पति तथैवेति ॥७॥

(महानग्नी) महा-अपठिता स्त्री (उपब्रूते) ऊखल के समीप जाकर कहती है कि हे ऊखल ! (अथापि) बार-बार पीटा जाकर तू (भ्रष्टः) विनष्टप्राय (अभूभुवः) हो चुका है। (वनस्पते) हे लकड़ी के बने ऊखल ! (यथैव) जैसी ही (ते) तेरी (पिप्पति) गति हो रही है, (तथैव इति) वैसी ही गति मेरी भी होती जा रही है।

[अथ अपि=more over and again (आपटे) । पिप्पति=पि गतौ ।]

९०३. महानग्न्युप ब्रूते भ्रष्टोऽथाप्यभूभुवः ।
यथा वयो विदाह्य स्वर्गे नमवदह्यते ॥८॥

(महानग्नी) महा-अपठिता मूर्खा स्त्री, (उपब्रूते) ऊखल के समीप जाकर कहती है कि हे ऊखल !,—(यथा) जैसे (वयः) पूर्ण आयु को प्राप्त वृद्ध व्यक्ति, (नम्) पीठ से नत हुआ, और (विदाह्यः) शोकाग्नि से विदग्ध हुआ, (स्वर्गे) स्वर्ग के निमित्त (अवदह्यते) चिता पर रखकर जला दिया जाता है,—वैसे ही (अथ अपि) बार-बार कूटा-पीटा जाकर तू (भ्रष्टः अभूभुवः) विनष्ट प्राय हो चुका है, और अन्त में लड़कीरूप तू आग में जला दिया जायगा।

[स्वर्गे=मृत व्यक्ति के सम्बन्ध में आजकल भी कहते हैं कि अमुक व्यक्ति का स्वर्गवास हो गया है।]

९०४. महानग्न्युप ब्रूते स्वसावेशितं पसः ।
इत्थं फलस्य वृक्षस्य शूर्पे शूर्पं भजेमहि ॥९॥

(महानग्नी) महा-अपठिता पत्नी (उपब्रूते) पति को कहती है कि (असौ) वह हे पति ! तूने गृहजीवन में (पसः) कलह द्वारा विनाश (सु आवेशितम्) उपस्थित कर दिया है। इसलिये (वृक्षस्य) खेत में काटे गये (फलस्य) फलरूप में प्राप्त अनाज को, (शूर्पे) छाज में रखकर, (शूर्पम्) एक-एक छाज नापकर (इत्थम्) इस प्रकार (भजेमहि) हम अपना-अपना हिस्सा बांट लेते हैं।

[वृक्षस्य=ओव्रश्चू छेदने। वृक्षो व्रश्चनात् (निरु० १२।३।३०); तथा वृक्षो व्रश्चनात् वृत्वा क्षां तिष्ठतीति वा (निरु० २।२।६)। पसः=पसि नाशने।]

९०५. महानग्नी कृकवाकुं शम्यया परि धावति ।
अयं न विद्म यो मृगः शीर्ष्णा हरति धाणिकाम् ॥१०॥

(महानग्नी) महा-अपठिता पत्नी, (कृकवाकम्) परुष बोली बोलने वाले पति की ओर, (शम्यया) उसे शान्त करनेवाली लाठी लेकर, (परि धावति) इधर-उधर दौड़ती है, और कहती है कि (न विद्म) हम नहीं जानतीं कि (अयम्) यह कौन (मृगः) जङ्गली पशु है, (यः) जो कि (शीर्ष्णा) सिर पर (धानिकाम्) धान का गठ्ठर रखे (हरति) ला रहा है।

[कृकवाकु=कड़कती वाणीवाला। धाणिकाम्=मन्त्र ९०४ में अन्न-विभाजन का वर्णन है।]

९०६. महानग्नी महानग्नं धावन्तमनु धावति ।
इमास्तदस्य गा रक्ष यभ मामद्ध्यौदनम् ॥११॥

(महानग्नी) महा-अपठिता पत्नी, (धावन्तम्) भय से दौड़ते हुए (महानग्नम्) महा-अपठित पति के (अनु) पीछे-पीछे लाठी लेकर (९०५) (धावति) दौड़ती है, और कहती है कि (तद्) सो (अस्य) इस घर की (इमाः गाः) इन गौओं की (रक्ष) तू रक्षा कर, (मा यभ) मेरे साथ गृहस्थधर्म का पालन कर, और खुशी से (ओदनम्) भात (आ अद्धि) पेट भर खा।

९०७. सुदेवस्त्वा महानग्नीर्बबाधते महतः साधु खोदनम् ।
कुसं पीवरो नवत् ॥१२॥

पति कहता है कि हे पत्नी! (सुदेवः) श्रेष्ठ परमेश्वर-देव ही (त्वा) तुझे और तेरे जैसी (महानग्नीः) महा-अपठिता स्त्रियों को, (बबाधते) ऐसे कठोर कर्मों से रोक सकता है। (महतः) मैं जो घर में बड़ा हूं उस की (साधु खोदनम्) काफी पिसाई हुई है,- इस प्रकार कहता हुआ (पीवरः) मोटी बुद्धिवाला पति, (कुसम्) बड़बक्कु पत्नी की (नवत्) प्रशंसा करने लग जाता है।

[खोदनम्=क्षुदिर् संपेषणे। कुसम्=कुस् भाषार्थः।]

९०८. वशा दग्धामिमाङ्गुरिं प्रसृजतोऽग्रतं परे ।
महान् वै भद्रो यभ मामद्ध्यौदनम् ॥१३॥

(परे) अन्य लोग, (अग्र=अग्रम्) घर के अग्रणी (तम्) उस पति को कहते हैं, कि (दग्धाम् इम् अंगुरीम्) जली हुई अङ्गुली के सदृश दुःखिया इस पत्नी को, (प्र सृजत) तुम घरवाले छोड़ दो, इसे तंग न करो। (वशा) यह तो सदा तुम्हारे वश में है। क्योंकि (महान्) घर में बड़े को, (वै) निश्चय से, (भद्रः) भद्र व्यवहारोंवाला होना चाहिये। पत्नी खुश होकर कहने लगती है कि हे पति! (मां यभ) मेरे साथ तू गृहस्थधर्म का पालन कर। और मुझ द्वारा (ओदनम्) पकाए गए भात को (आ अद्धि) प्रसन्नतापूर्वक खाया कर।

९०९. विदेवस्त्वा महानग्नीर्विबाधते महतः साधु खोदनम् ।
कुमारिका पिङ्गलिका कार्द भस्मा कु धावति ॥१४॥

हे पत्नी! (त्वा) तुझे और अन्य (महानग्नीः) महा-अपठिता पत्नियों को, (महतः साधु खोदनम्) घर के बड़ों की कठोरवाणी द्वारा पिसाई से (विदेवः) कोई विशेष देव ही (वि बाधते) हटायेगा। देख, (कुमारिका) कुत्सित कामवासनावाली, और इसलिये (पिङ्गलिका) पीली पड़ गई स्त्री (कार्द भस्मा) कर्दम अर्थात् कीचड़ों तथा भस्मों के सदृश (कु धावति) धरा-शायी हो जाती है, अथवा उस की कुत्सित-गति होती है।

[कु=पृथिवी; और कुत्सित। धावति=धाव् गतौ।]

९१०. महान् वै भद्रो बिल्वो महान् भद्र उदुम्बरः ।
महाँ अभिक्त बाधते महतः साधु खोदनम् ॥१५॥

पति के प्रति अन्य लोग (परे, ९०८) कहते हैं कि (महान्) गृहस्थ-जीवन में जो बड़ा होता है, वह (वै) निश्चय से, (बिल्वः) बिल्व के सदृश (भद्रः) कल्याणकारी और सुखदायी होता है, (महान्) गृहस्थ में बड़ा ही (उदुम्बरः) गूलर के सदृश (भद्रः) कल्याणकारी और सुखदायी होता है। (अभिक्त) हे गृहस्थ-प्राप्त पति! (महान्) गृहस्थ में बड़ा ही (बाधते)

गृहस्थ के कष्टों को दूर करता है। (महतः) गृहस्थ में बड़े को ही (साधु) अच्छे प्रकार से (खोदनम्) कमाई आदि कामों में पिसना होता है।

[अभिक्त=अभिगत, प्राप्त।]

९११. यः कुमारी पिङ्गलिका वसन्तं पीवरी लभेत् ।
तैलकुण्डमिवाङ्गुष्ठं रोदन्तं शुदमुद्धरेत् ॥१६॥

(पिङ्गलिका) पीली पड़ी हुई, (पीवरी) मोटी (कुमारी) कुमारी, यदि (वसन्तम्) बसे हुए, (तैलकुण्डमिव) तेल के कूण्डे के सदृश स्निग्ध, अर्थात् स्नेहभरे हृदयवाले, (शुदम्) पत्नी की मांग पर उसे शीघ्र सहायता देनेवाले, (अङ्गुष्ठम्) अंगूठे के समान मोटे और नाटे पति को,— (लभेत्) प्राप्त कर लेती है, तो (रोदन्तम्) कष्टों और विपत्तियों के कारण रोते हुए पति का (उद्धरेत्) उद्धार,—सान्त्वना-सेवा आदि उपायों से पत्नी अवश्य करे। (यः) इसी प्रकार जो पति,— पीली पड़ी, मोटी, नाटी, परन्तु स्नेहार्द्र-हृदया, शीघ्र सहायता देनेवाली पत्नी को प्राप्त कर ले, तो पति भी पत्नी का उद्धार उसके कष्टों में अवश्य किया करे।

[उपर्युक्त मन्त्रों में साध्वी स्त्री के सद्गुणों, और अपठिता मूर्खा और कामुकी स्त्री के दुर्गुणों का वर्णन हुआ है। शुदम्=आशु+द (दातारम्)।] ॥ कुन्ताप सूक्त समाप्त ॥

सूक्त १३७

१ शिरिम्बिठिः; २ बुधः; ३ वामदेवः; ४-६ ययातिः; ७-११ तिरश्ची आङ्गिरसः वा द्युतानः; १२-१४ सुकक्षः। १ अलक्ष्मीनाशनम्; २ विश्वे देवाः; ३ दधिक्राः; ४-६ पवमानः सोमः; ७-१४ इन्द्रः तथा पवमानः सोमः। १,३, ४-६ अनुष्टुप्; २ जगती, ७-११ त्रिष्टुप्; १२-१४ गायत्री।

९१२. यद्ध प्राचीरजगन्तनोरो मण्डूरधाणिकीः ।
हता इन्द्रस्य शत्रवः सर्वे बुद्बुदयाशवः ॥१॥

(मण्डूरधाणिकीः) खनिज-लोहे की निधियां अर्थात् खाने, (यत् ह) जो कि (उरस्=उरसि) पृथिवी की छाती में, (प्राचीः) पूर्व में (अजगन्तन) फैली होती हैं, उनके द्वारा, अर्थात् उनसे निर्मित शस्त्रास्त्रों द्वारा, (इन्द्रस्य) सम्राट् के (शत्रवः) शत्रु (हताः) हताहत कर दिये जाते

हैं, और वे (सर्वे) सब शत्रु (बुद्बुदयाशवः) पानी के बुलबुलों के सदृश शीघ्र विनष्ट हो जाते हैं।

[प्राचीः=पृथिवी की भूमध्यरेखा से उत्तरायण[1] और दक्षिणायन सीमान्त तक पूर्व दिशा अभिप्रेत है। क्योंकि इतने प्रदेश में समय-समय पर सूर्य उदित होता रहता है। उत्तरायण और दक्षिणायन तक फैली भू-पेटी में खनिज-लोहे की खानें प्रायः होती हैं,—यह अभिप्राय यहां प्रतीत होता है। उरो=उरस्=उरासः; अर्थात् खनिज-लोहे की खानें न तो बहुत गहरी होती हैं, और न पृथिवी के बाहरी स्तर में, अपितु पृथिवी की छाती में होती है। बुद्बुदयाशवः=बुद्बुद+या+आशु।]

९१३. कपृन्नरः कपृथमुद् दधातन चोदयत खुदत वाजसातये ।
निष्टिग्र्यः पुत्रमा च्यावयोतय इन्द्रं सबाध इह सोमपीतये ॥२॥

(कपृन्नरः) सुखों की पूर्ति करनेवाले हे राष्ट्रनेताओ! (कपृथम्) सुखों की पूर्ति करनेवाले (इन्द्रम्) सम्राट् को (उद् दधातन) राष्ट्र के ऊंचे सिंहासन पर बिठाओ, (चोदयत) और उसे राष्ट्र-रक्षा के लिये प्रेरित करो। (वाजसातये) राष्ट्रिय बल की प्राप्ति के लिये (खुदत) खानों को खुदवाओ। (निष्टिग्र्यः) सदा-आक्रमण के लिये संनद्ध सेना के (पुत्रम्) पुत्र के समान रक्षणीय (इन्द्रम्) सम्राट् को, (ऊतये) राष्ट्र की रक्षा के लिये हे प्रजाजन! (आ च्यावय) तू क्रियावान् कर। (सबाधः) जब तुम्हारी उन्नति में कोई बाधा उपस्थित हो जाय, तब (इह) इस निमित्त (सोमपीतये) सौम्य स्वभाववाली प्रजा की रक्षा के लिये, सम्राट् को क्रियावान् करो। [कपृत्, कपृथ्=क (सुख)+पृ (पूर्ति)। खुदत=खुद् धातु का अर्थ कोई निश्चित नहीं, प्रकरणानुसार अर्थ "खोदना" प्रतीत होता है। निष्टिग्री=नि+ष्टिग् (आस्कन्दने, आक्रमणे)।]

९१४. दधिक्राव्णो अकारिषं जिष्णोरश्वस्य वाजिनः ।
सुरभि नो मुखा करत् प्र ण आयूंषि तारिषत् ॥३॥

प्रजा के प्रतिनिधिरूप मैंने,—(दधिक्राव्णः) राष्ट्र का धारण-पोषण

---

१. उत्तरायण सीमान्त=summer solstice=कर्करेखा। दक्षिणायन सीमान्त=winter solstice=मकररेखा।

करनेवाले तथा शत्रुओं पर आक्रमण करनेवाले, (अश्वस्य) शत्रुओं के अश्वों को (जिष्णोः) जीतकर स्वाधिकार में करनेवाले, (वाजिनः) बलशाली का (अकारिषम्) निर्वाचन या राज्याभिषेक किया है। वह सम्राट् सत्य-भाषण तथा प्रियभाषण की शिक्षा देकर (नः) हमारे (मुखा) मुखों को (सुरभि) सुरभित अर्थात् सुवासित (करत्) करे, और (नः) हमारी (आयूंषि) आयुओं को (प्र तारिषत्) बढ़ाए।

९१५. सुतासो मधुमत्तमाः सोमा इन्द्राय मन्दिनः ।
पवित्रवन्तो अक्षरन् देवान् गच्छन्तु वो मदाः ॥४॥

(मधुमत्तमाः) अत्यन्त मधुर (मन्दिनः) तथा प्रसन्नतादायक (सोमाः) भक्तिरस, (इन्द्राय) जगत् के सम्राट् के लिये (सुतासः) हम प्रजाजनों में प्रकट हुए हैं। (पवित्रवन्तः) पवित्र उपासकोंवाले ये भक्तिरस (अक्षरन्) प्रवाहित हुए हैं। हे भक्तिरसो ! (वः) तुमसे प्राप्त (मदाः) अध्यात्म-मस्तियां (देवान्) दिव्यगुणी उपासकों को ही (गच्छन्तु) प्राप्त होती हैं।

[१-३ मन्त्रों में राष्ट्र और राष्ट्र-सम्राट् का वर्णन हुआ है। राष्ट्र-सम्राट् द्वारा राष्ट्र को शत्रुओं से रहित करके, और सुरक्षा प्राप्त करके, तथा नैतिक शिक्षा द्वारा जीवनों को सुधारकर, और दीर्घायु प्राप्तकर, अपने जीवनों को सात्विक बनाने की ओर प्रयत्नशील होना चाहिये। तदर्थ परमेश्वर की भक्तिपूर्वक उपासना करनी चाहिये, ताकि मानुष-जीवन सफल हो सके। इसलिये मन्त्र ९१५ से अध्यात्म-चर्चा का प्रारम्भ हुआ है।]

९१६. इन्दुरिन्द्राय पवत इति देवासो अब्रुवन् ।
वाचस्पतिर्मखस्यते विश्वस्येशान ओजसा ॥५॥

(इन्दुः) चन्द्रमा (इन्द्राय) जगत्-सम्राट् की प्राप्ति के लिये (पवते) मानो दैनिक गतियां कर रहा है, (इति) यह तथ्य, (देवासः) दिव्य व्यक्ति (अब्रुवन्) कहते हैं। तथा वे यह भी कहते हैं कि (वाचस्पतिः) वेदवाणियों का पति जगत्-सम्राट् ही (मखस्यते) उपासना-यज्ञों को सफल बनाता है, जो कि (ओजसा) निज ओज के कारण (विश्वस्य) समग्र जगत् का (ईशानः) अधीश्वर है।

["इन्दु" का अर्थ भक्तिरस भी अभिप्रेत है, जो कि हृदय को रसीला बना देता है। इन्दु=उन्दी क्लेदने। "इन्दुः उनत्तेर्वा" (निरु० १०।४।४१); तथा इन्दुः=आत्मा=जीवात्मा (निरु० १३।२।३१)। अर्थात् भक्तिरस और जीवात्मा जगत्-सम्राट् की ओर गति करते हैं।]

९१७. सहस्रधारः पवते समुद्रो वाचमीङ्खयः ।
सोमः पती रयीणां सखेन्द्रस्य दिवेदिवे ॥६॥

भक्तिरस (सहस्रधारः) हजारों धाराओं अर्थात् लहरों के रूप में, (समुद्रः) समुद्र के सदृश (पवते) उछलता है, और (वाचम्) भक्तिमय स्तोत्रों को (ईङ्खयः) प्रेरित करता है। (सोमः) भक्तिरस (रयीणाम्) आध्यात्मिक-विभूतियों का (पतिः) पति है, और (दिवेदिवे) दिन-प्रति-दिन भक्तिरस (इन्द्रस्य) जगत्-सम्राट् का (सखा) प्रिय बनता जाता है।

९१८. अव द्रप्सो अंशुमतीमतिष्ठदियानः कृष्णो दशभिः सहस्रैः ।
आवत् तमिन्द्रः शच्या धमन्तमप स्नेहितीर्नृमणा अधत्त ॥७॥

(कृष्णः) काला तमोगुण, (दशभिः सहस्रैः) हजारों काले कर्मों के साथ, (इयानः) आता हुआ, जब (अंशुमतीम्) प्रकाशवाली सात्विक-चित्त-वृत्ति में (अव अतिष्ठत्) बैठ जाता है, तब वह सात्विक-चित्तवृत्ति को स्वानुरूप कर देता है, जैसे कि (द्रप्सः) दही की खट्टी लस्सी दूध में पड़ी हुई, दूध को स्वानुरूप कर देती है। तब (धमन्तम्) अपने काले कर्मों के साथ सांप-सदृश फुंकारते हुए (तम्) उस काले तमोगुण को, (इन्द्रः) परमेश्वर, (शच्या) निज आज्ञा द्वारा, (आवत्) नष्ट कर देता है। और (नृमणाः) उपासक-नेताओं पर कृपालु मनवाला परमेश्वर, (स्नेहितीः) इन हिंस्र चित्तवृत्तियों को, (अप अधत्त) दूर कर देता है।

[द्रप्सः=Diluted sour milk, diluted curds (आपटे)। आवत्=आ अवत्; अव् (हिंसायाम्)। धमन्तम्=फुंकारना (मन्त्र ८०३ ८०४)। स्नेहितीः=स्नेहति वधकर्मा (निघ० २।१९)।]

९१९. द्रप्समपश्यं विषुणे चरन्तमुपह्वरे नद्यो अंशुमत्याः ।
नभो न कृष्णमवतस्थिवांसमिष्याभि वो वृषणो युध्यताजौ ॥८॥

(अंशुमत्याः) प्रकाश-सम्पन्न सात्विक-चित्तवृत्तिवाली (नद्याः) चित्त-नदी के (उपह्वरे) एकान्त प्रदेश में, (विषुणे) विषम परिस्थिति में (चरन्तम्) छिपकर विचरते हुए, (द्रप्सम्) खट्टी लस्सी के सदृश वर्तमान काले तमोगुण को, (अपश्यम्) मैं परमेश्वर ने देख लिया है, जो कि (कृष्णम्) काले (नभः न) मेघ के सदृश (अवतस्थिवांसम्) स्थित हो गया है। (वृषणः)हे भक्तिरस की वर्षा करनेवाले शक्तिशाली उपासको! (वः इष्यामि) मैं परमेश्वर तुम्हें चाहता हूं, कि तुम (आजौ) इस देवासुर-संग्राम में (युध्यत) इस काले असुर के साथ युद्ध में डट जाओ।

[चित्त का वर्णन योग-भाष्य में नदी रूप में भी हुआ है। यथा—"**चित्तनदी नाम उभयतो वाहिनी। वहति कल्याणाय वहति पापाय च**" (योग १।१२) उपह्वर=A solitary or lonely place (आपटे)।]

९२०. अध द्रप्सो अंशुमत्या उपस्थेऽधारयत् तन्वं तित्विषाणः।
विशो अदेवीरभ्याचरन्तीर्बृहस्पतिना युजेन्द्रः ससाहे ॥९॥

(अध)तदनन्तर(द्रप्सः)खट्टी दधि के समान कृष्ण-तमोगुण (अंशुमत्याः) प्रकाशवाली सात्विक-चित्तवृत्ति की (उपस्थे) गोद में विश्राम पाया हुआ, (तन्वम्) अपने आप को (तित्विषाणः) अधिकाधिक प्रदीप्त करता रहता है। (इन्द्रः) परमेश्वर (बृहस्पतिना युजा) वैदिक स्तुतियों के अधिपति उपासक के सहयोग से, (अभ्याचरन्तीः) अभिचार-क्रिया करनेवाली (अदेवीः) अदिव्य भावनाओं का (ससाहे) पराभव कर देता है, जो अदिव्य भावनाएं कि (विशः) कृष्ण-तमोगुण की प्रजाएं हैं।

[अभिप्राय यह कि कृष्ण-तमोगुण, चित्तवृत्तियों में विश्राम पाकर शनैः-शनै बढ़ता जाता है, और अदिव्य चित्तवृत्तियों को जन्म देता रहता है। ये अदिव्य चित्तवृत्तियां मनुष्य को विनाशोन्मुख कर देती हैं। इन अदिव्य चित्तवृत्तियों के पराभव करने में जब मनुष्य स्वयं दृढ़संकल्प हो जाता है, तब परमेश्वर मनुष्य की सहायता करता है। बृहस्पतिः=बृहती=छन्दोमयी वेदवाणी। बृहती=speech=वेद (आपटे)।]

९२१. त्वं ह त्यत् सप्तभ्यो जायमानोऽशत्रुभ्यो अभवः शत्रुरिन्द्र।
गूळ्हे द्यावापृथिवी अन्वविन्दो विभुमद्भ्यो भुवनेभ्यो रणं धाः ॥१०॥

(इन्द्र) हे परमेश्वर! (त्वम्) आप जब, (त्यत् सप्तभ्यः) उन सात छन्दोंवाले वैदिक मन्त्रों में प्रतिपादित विधियों द्वारा, (जायमानः) प्रकट हो जाते हैं, तब आप (अशत्रुभ्यः) उन कामादि के,—जो कि आपके तो शत्रु नहीं, अपि तु उपासकों के शत्रु हैं,—(शत्रुः) शातयिता अर्थात् विनाशक (अभवः) हो जाते हैं। आपने (गूळ्हे) प्रकृति की गोद में छिपे हुए (द्यावापृथिवी) द्युलोक और भूलोक को (अन्वविन्दः) प्रकट किया है। और (विभुमद्भ्यः) आकाशव्यापी (भुवनेभ्यः) लोकलोकान्तरों में (रणम्) रमणीयता (धाः) आपने स्थापित की है।

९२२. त्वं ह त्यदप्रतिमानमोजो वज्रेण वज्रिन् धृषितो जघन्थ।
त्वं शुष्णस्यावातिरो वधत्रैस्त्वं गा इन्द्र शच्येदविन्दः ॥११॥

(इन्द्र) हे परमेश्वर! (त्वम्) आप (त्यत्) प्रसिद्ध (अप्रतिमानम् ओजः) अपरिमित ओजःस्वरूप हैं। (वज्रिन्) हे ओजरूपी वज्रवाले! (धृषितः) पराभव करनेवाले आपने (वज्रेण) अपने ओजरूपी वज्र द्वारा (जघन्थ) कृष्ण तमोगुण का हनन कर दिया है। (त्वम्) आपने (वधत्रैः) उपासकों के यम-नियम आदि शस्त्रों द्वारा (शुष्णस्य) भक्तिरस को सुखा देनेवाले कृष्ण तमोगुण के सामर्थ्य को (अवातिरः) विनष्ट कर दिया है। हे परमेश्वर! (त्वम्) आपने (शच्या) इन निज कर्मों द्वारा (इद्) ही (गाः) स्तुति-वाणियों को (अविन्दः) प्राप्त किया है।

[धृषितः=धर्षयिता, अन्तर्भावित णिच्, कर्तरि क्तः। शची=कर्म (निघ० २।१)। अवातिरत्=अवाहन् (निरु० २।६।२१)।]

९२३. तमिन्द्रं वाजयामसि महे वृत्राय हन्तवे।
स वृषा वृषभो भुवत् ॥१२॥

(महे) बड़े-बड़े (वृत्राय) पाप-वृत्रों के (हन्तवे) हनन के लिये हम (तम् इन्द्रम्) उस परमेश्वर की (वाजयामसि) अर्चनाएं करते हैं। (वृषा) आनन्दरसवर्षी (सः) वह परमेश्वर (वृषभः भुवत्) अवश्य आनन्दरसवर्षी हुआ है। [वाजयति=अर्चतिकर्मा (निघ० ३।१४)। महावृत्र=अविद्या, अस्मिता, रागद्वेष, काम मोह आदि।]

९२४. इन्द्रः स दामने कृत ओजिष्ठः स मदे हितः।
द्युम्नी श्लोकी स सोम्यः ॥१३॥

(सः) वह (इन्द्रः) परमेश्वर, हमने मानो (दामने) उपासना और भक्ति की रस्सी में (कृतः) बांध लिया है, (ओजिष्ठः) अत्यन्त ओजस्वी (सः) वह परमेश्वर (मंदे) आनन्द तथा प्रसन्नता के प्रदान में (हितः) हमारा हित करता है। (सः) वह परमेश्वर (द्युम्नी) सम्पत्-शाली है, (श्लोकी) वेदवाणी का स्वामी है, (सोम्यः) सौम्य स्वभाववाला तथा भक्ति-रस का पात्र है।

९२५. गिरा वज्रो न संभृतः सबलो अनपच्युतः ।
ववक्ष ऋष्वो अस्तृतः ॥१४॥

(वज्रः न) वह परमेश्वर वज्र के सदृश दुष्कर्मियों का विनाशक है। (गिरा) स्तुति-प्रार्थना की वाणी द्वारा (संभृतः) रक्षा के लिये वह संनद्ध कर लिया जाता है। (सबलः) वह बलवान् है,(अनपच्युतः) और किसी भी शक्ति द्वारा न्याय-पक्ष से च्युत नहीं किया जा सकता। (ववक्षे) वह संसार-भार का वहन कर रहा है। (ऋष्वः) वह महान् है, (अस्तृतः) अविनाशी है।

[अस्तृत-; स्तृणाति वधकर्मा (निघ० २।१९)। ऋष्वः=महन्नाम (निघ० ३।३)।]

सूक्त १३८

१-३ वत्सः। इन्द्रः। गायत्री।

९२६. महाँ इन्द्रो य ओजसा पर्जन्यो वृष्टिमाँ इव ।
स्तोमैर्वत्सस्य वावृधे ॥१॥

(यः इन्द्रः) जो परमेश्वर (ओजसा) निज ओज के कारण (महान्) सर्वतो महान् है, वह (पर्जन्यः इव) मेघ के सदृश (वृष्टिमान्) सुखों और आनन्दरस की वर्षा कर रहा है। वह (वत्सस्य) पुत्र के सदृश उपासक के (स्तोमैः) स्तुतिगानों द्वारा (वावृधे) उपासक की वृद्धि करता है।

९२७. प्रजामृतस्य पिप्रतः प्र यद् भरन्त वह्नयः ।
विप्रा ऋतस्य वाहसा ॥२॥

(वह्नयः) उपासना-यज्ञ की धुरा का वहन करनेवाले उपासक-नेता, (यद्) जब (पिप्रतः) जीवनपालक और जीवनों को पूर्ण बनानेवाले,

(ऋतस्य) सत्यनियमों के (प्रजाम्) प्रथम-जन्मदाता परमेश्वर का (प्र भरन्त) अपने जीवनों में प्रकर्षरूप में वहन करने लगते हैं, तब (विप्राः) वे मेधावी उपासक, (सत्यस्य) सत्य-नियमों के भी (वाहसा) वाहक हो जाते हैं। [अभिप्राय यह कि जिनके जीवनों में परमेश्वर मार्गदर्शक हो जाता है, उन के जीवन सत्यमय हो जाते हैं। पिप्रतः=पृ पालनपूरणयोः।]

९२८. कण्वा इन्द्रं यदक्रत स्तोमैर्यज्ञस्य साधनम् ।
जामि ब्रुवत आयुधम् ॥३॥

(कण्वाः) मेधावी उपासक, (यज्ञस्य) उपासना-यज्ञ के (साधनम्) साधक परमेश्वर को, (यत्) जब (स्तोमैः) स्तुतिगानों द्वारा, (अक्रत) अपना बना लेते हैं, तब वे (ब्रुवत) कहते हैं कि (आयुधम्) कामादि-शत्रुओं के विनाश के लिये अन्य उपाय (जामि) व्यर्थ हैं।

[कण्वाः=मेधाविनः (निघं० ३।१५)।]

सूक्त १३९

१-५ शशकर्णः। अश्विनौ। १, ४ बृहती; २,३ गायत्री; ५ ककुप्।

९२९. आ नूनमश्विना युवं वत्सस्य गन्तमवसे ।
प्रास्मै यच्छतमवृकं पृथु च्छर्दिर्युयुतं या अरातयः ॥१॥

(अश्विना)[1] हे नगराधिपति! तथा हे सेनाधिपति! (युवम्) तुम दोनों, (वत्सस्य) राष्ट्र में बसे प्रजाजन की (अवसे) रक्षा के लिये (नूनम्) अवश्य (आ गन्तम्) प्रजाजनों में आया-जाया करो। (अस्मै) इस प्रजाजन के लिये (छर्दिः) निवास-योग्य गृहों की (प्र यच्छतम्) व्यवस्था करो, जो गृह कि (पृथु) बड़े-बड़े हों, तथा (अवृकम्) जिन पर चोर-डाकू आक्रमण न कर सकें। और (याः) जो (अरातयः) राष्ट्र के शत्रु हैं, उन्हें (युयुतम्) राष्ट्र से पृथक् कर दिया करो।

[वृक=Robber (आपटे)।]

९३०. यदन्तरिक्षे यद् दिवि यत् पञ्च मानुषाँ अनु ।
नृम्णं तद् धत्तमश्विना ॥२॥

१. अश्विनौ के सम्बन्ध में देखो—टिप्पणी, मन्त्र ९५८।

हे अश्वियों (यद्) जो (नृम्णम्) सम्पत् (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष में है, अर्थात् शुद्ध वायु और वर्षाजल; (यद्) और जो (दिवि) द्युलोक में है, अर्थात् प्रकाश; (यद्) तथा जो (पञ्च) पृथिवी पर फैले हुए (मानुषान् अनु) मनुष्यों के पास है, (तत्) उस-उस सम्पत् को (धत्तम्) हमारे राष्ट्र में भी स्थापित करो।

९३१. ये वां दंसांस्यश्विना विप्रासः परिमामृशुः ।

एवेत् काण्वस्य बोधतम् ॥३॥

(अश्विना) हे अश्वियो ! (ये विप्रासः) जो मेधावी मन्त्रीगण, (वाम्) आप दोनों को, (दंसांसि) कर्तव्य कर्मों के सम्बन्ध में (परिमामृशुः) पूर्णतया परामर्श देते रहते हैं, (एव इत्) ठीक उन्हें, (काण्वस्य) इन मेधावियों द्वारा शासित प्रजाजन को (बोधतम्) अवगत करा दिया करो। [**विप्राः=मेधाविनः** (निघ० ३।१५)। **कण्वः=मेधावी** (निघ० ३।१५)। काण्व=मेधावियों द्वारा शासित प्रजाजन।]

९३२. अयं वां घर्मो अश्विना स्तोमेन परि षिच्यते ।

अयं सोमो मधुमान् वाजिनीवसू येन वृत्रं चिकेतथः ॥४॥

(अश्विना) हे अश्वियो (वाम्) आप दोनों का (अयं घर्मः) यह राष्ट्र-यज्ञ, (स्तोमेन) सदुपदेशामृत द्वारा (परि षिच्यते) मेधावियों से सींचा जाता है। (वाजिनीवसू) हे अन्नोंवाली तथा बल देनेवाली पृथिवीरूपी सम्पत्तिवाले अश्वियो ! (अयम्) यह (मधुमान्) मधुर (सोमः) ओषधि-रस, जल, तथा दूध है, (येन) जिसके द्वारा आप दोनों, (वृत्रम्) राष्ट्र को घेरनेवाले दुर्भिक्ष-वृत्र की (चिकेतथः) चिकित्सा करते हैं, राष्ट्र के इस दुर्भिक्ष-रोग को निवृत्त करते हैं।

[**घर्मः=यज्ञः** (निघ० ३।१७)। सोमः=सोम ओषधी; जल (आपटे); दूध - यथा "**सोमो दुग्धाभिः अक्षाः**" (ऋ० ९।१०७।९)। **वाजिनी=वाजः अन्नम्** (निघ० २।७); **वाजः बलम्** (निघ० २।९), तद्वती पृथिवी।]

९३३. यदप्सु यद् वनस्पतौ यदोषधीषु पुरुदंससा कृतम् ।

तेन माविष्टमश्विना ॥५॥

(पुरुदंससा अश्विना) हे नानाविध कर्मोंवाले अश्वियो ! (यद्) जो आपकी (कृतम्) कृतियां (अप्सु) जलों के सम्बन्ध में हुई हैं, अर्थात् नौकाओं तथा समुद्री जहाजों द्वारा व्यापार आदि; तथा (यद्) जो आपकी कृतियां (वनस्पतौ) वनस्पतियों के उगाने तथा उनसे फल आदि के संग्रह के सम्बन्ध में हुई हैं; (यद्) और जो आपकी कृतियां (ओषधीषु) ओषधियों से नानाविध औषधों के निर्माण के सम्बन्ध में हुई हैं, (तेन) उन कृतियों के साथ (मा) मेरे इस राष्ट्र में (आविष्टम्) प्रवेश करो।

सूक्त १४०

१-५ शशकर्णः। अश्विनौ। १ बृहती; २-४ अनुष्टुप्; ५ त्रिष्टुप्।

९३४. यन्नासत्या भुरण्यथो यद् वा देव भिषज्यथः ।

अयं वां वत्सो मतिभिर्न विन्धते हविष्मन्तं हि गच्छथः ॥१॥

(नासत्या) असत्य व्यवहारों से रहित हे अश्वियो ! (यद्) यतः आप दोनों, राष्ट्र द्वारा सौंपे गए कामों को (भुरण्यथः) शीघ्र कर देते हैं, (यद् वा) तथा (देव=देवा=देवौ) आप दोनों देव, राष्ट्र के अज्ञान, दुर्भिक्ष, अनावृष्टि आदि रोगों की (भिषज्यथः) चिकित्सा समय-समय पर करते रहते हैं, इसलिये (वत्सः) वत्स के समान (अयम्) यह प्रजा-वर्ग (मतिभिः) अपनी मतियों द्वारा, आपके किये राष्ट्रिय-कार्यों को (न विन्धते) ठीक-ठीक नहीं जान सकता, उनका मूल्याङ्कन ठीक-ठीक नहीं लगा सकता। (हविष्मन्तम्) राज्य-कर को हविरूप जानकर जो प्रजावर्ग राष्ट्रयज्ञ में स्वयमेव आहुतिरूप में देते हैं, उस प्रजावर्ग की ओर (हि) अवश्य (गच्छथः) आप दोनों जाते हैं।

[**भुरण्युः=क्षिप्रम्** (निघ० २।१५)।]

९३५. आ नूनमश्विनोर्ऋषि स्तोमं चिकेत वामया ।

आ सोमं मधुमत्तमं घर्मं सिञ्चादथर्वणि ॥२॥

(ऋषिः) ऋषिकोटि का राष्ट्रपति, (वामया) निज सुन्दर पत्नी के साथ वर्तमान होकर, (अश्विनोः) दोनों अश्वियों के (स्तोमम्) कर्तव्य नानाविध कार्यों को, (नूनम्) निश्चयपूर्वक, (आ चिकेत) पूर्णरूपेण ठीक-ठीक जानता है; तथा (अथर्वणि) उपद्रवों और विप्लवों से रहित

स्थिरीभूत राष्ट्र में (मधुमत्तमम्) अत्यन्त मधुर जल और दुग्ध आदि पदार्थों, तथा (घर्मम्) यज्ञिय-भावनाओं की (आ सिञ्चात्) सर्वत्र वर्षा करता है।

[ऋषिः =मन्त्रों में "अश्विनौ" पद द्वारा प्रधान-मन्त्री तथा प्रधान-सेनापति का वर्णन हुआ है, और "ऋषि" पद द्वारा राष्ट्रपति का। स्तोमम्—उणादिकोष में इस का अर्थ "संघात" भी दिया गया है। मन्त्र में "क्रियाकलाप" अर्थ संगत होता है। अथर्वणि=मन्त्र में इस पद का अभिप्राय "अचलकूटस्थ परमेश्वर के निमित्त"—यह अर्थ भी सम्भव है। इस सम्बन्ध में अथर्व० ३।४।६ का मन्त्र निम्नलिखित है—"**स त्वायमह्वत् स्वे सधस्थे स देवान् यक्षत् स उ कल्पयाद् विशः**"। अर्थात् हे राष्ट्र के मुखिया! उस परमेश्वर ने तेरा आह्वान किया है अपनी गद्दी पर, वह तू राष्ट्र के देवों को राष्ट्र-यज्ञ करने के योग्य बना, और वह तू प्रजाजनों को सामर्थ्यवान् कर]

९३६. आ नूनं रघुवर्तनिं रथं तिष्ठाथो अश्विना।
आ वां स्तोमा इमे मम नभो न चुच्यवीरत ॥३॥

(अश्विना) हे अश्वियो! तुम दोनों (रघुवर्तनिम्) सुगमता से चलाये जा सकनेवाले (रथम्) राष्ट्र-रथ पर (नूनम्) निश्चयपूर्वक(आ तिष्ठाथः) आ बैठो, और इसे चलाओ। (मम) मुझ राष्ट्रपति के(इमे) ये (स्तोमाः) तुम्हारे कर्तव्यों के स्तवन अर्थात् कथन परामर्श, (नभः न) मेघ के जलों के सदृश, (चुच्यवीरत) शान्ति देते हुए, तथा उपकारी होते हुए (वाम्) तुम्हारे लिये प्रवाहित हों।

९३७. यदद्य वां नासत्योक्थैरा चुच्युवीमहि।
यद् वा वाणीभिरश्विनेवेत् काण्वस्य बोधतम् ॥४॥

(नासत्या) हे असत्य व्यवहारों से रहित अश्वियो! (यद् अद्य) जो आज, अर्थात् तुम्हें तुम्हारे पदों पर नियुक्त करते समय, (उक्थैः) वैदिक सूक्तों द्वारा (वाम्) तुम दोनों को, हम सबने मिलकर (आ चुच्युवीमहि) तुम्हारे कर्तव्यों का निर्देश किया है, या मेघ के सदृश तुम दोनों पर कर्तव्यामृत की वर्षा की है, तथा (यद् वा) जो कुछ (अश्विना) हे अश्वियो! हमने (वाणीभिः) निजवाणियों द्वारा तुम्हें तुम्हारे कर्तव्यों का

बोध कराया है, (एव इत्) उन्हें ठीक-ठीक प्रकार से (काण्वस्य) मेधावियों द्वारा शासित प्रजावर्ग को (बोधतम्) तुम दोनों जता दिया करो।

९३८. यद् वां कक्षीवाँ उत यद् व्यश्व ऋषिर्यद् वां दीर्घतमा जुहाव।
पृथी यद् वां वैन्यः सादनेष्वेवेदतो अश्विना चेतयेथाम् ॥५॥

(अश्विना)हे अश्वियो! (वाम्) तुम दोनों के लिये(कक्षीवान् "ऋषिः") कक्षिवान् ऋषि ने (उत) और (व्यश्वः "ऋषि") व्यश्व ऋषि ने (यद् यद्) जो-जो कुछ (जुहाव) राष्ट्र-यज्ञ में अपनी-अपनी आहुतियां दी हैं; तथा (वाम्) तुम दोनों के लिये, (दीर्घतमाः "ऋषिः") दीर्घतमा ऋषि ने (जुहाव) राष्ट्र-यज्ञ में अपनी (यद्) जो आहुतियां दी हैं, और (स्वे सादने) बैठने के अपने-अपने मन्त्रालय में, (पृथी, वैन्यः) पृथी-ऋषि और वैन्य-ऋषि ने (वाम्) तुम दोनों के लिये, (यद् वेदतः) जो ज्ञान प्रदान किया है, (चेतयेथाम्) उस सब को तुम अपने चित्तों में धारण करो।

[दोनों अश्वियों के मन्त्रिमण्डल का वर्णन मन्त्र में प्रतीत होता है। मन्त्र का यह स्पष्ट अभिप्राय है कि राष्ट्र के दोनों महकमों के मन्त्री, ऋषि-कोटि के होने चाहियें। और ऋषियों द्वारा दिये गये परामर्श, राष्ट्र-यज्ञ में इनकी आहुतियांरूप हैं। वैदिकदृष्टि में राष्ट्र का शासन यज्ञ-भावना द्वारा होना चाहिये, आर्थिक लाभ तथा पदाधिकार की लालसा से नहीं होना चाहिये। मन्त्र में कक्षीवान् आदि सभी ऋषिनामों के साथ "ऋषि" पद का अन्वय समझना चाहिये। इसी प्रकार "स्वे सादने" का अन्वय भी प्रत्येक ऋषि के साथ अभिप्रेत है। **कक्षीवान्**=विविध विद्याओं का ज्ञाता (दयानन्द, ऋ० १।१२६।२); प्रशस्तशिल्प विद्याओं का ज्ञाता (दया० ऋ०)। **व्यश्व**=विविध अश्वोंवाली सेना का मन्त्री (दया०, ऋ० १।१२।१५)। दीर्घतमाः=दीर्घदर्शी, अर्थात् राष्ट्र-सम्बन्धी भावी घटनाओं को जानकर, तदनुसार उपायों का अवलम्बन करनेवाला मन्त्री (तमाः= तमु कांक्षायाम्)। **पृथी**=विशाल बुद्धिवाला(दया० ऋ० १।११२।१५)। वैन्य=राष्ट्र की शोभा, सौन्दर्य तथा कान्ति का अध्यक्ष मन्त्री। ये और अन्य मन्त्री ऋषि-कोटि के होने चाहियें।

सूक्त १४१

१—५ शशकर्णः । अश्विनौ । १ विराट्; २ जगती; ३ अनुष्टुप्; ४-५ बृहती ।

**९३९. यातं छर्दिष्पा उत नः परस्पा भूतं जगत्पा उत नस्तनूपा ।
वर्तिस्तोकाय तनयाय यातम् ॥१॥**

(छर्दिष्पा) हे हमारे गृहों की रक्षा करनेवाले, (उत) तथा (नः) हमारी (परस्पा) पर-राष्ट्रों से रक्षा करनेवाले अश्वियो ! (यातम्) आप दोनों हम प्रजाजनों में आया-जाया करो। आप (जगत्पा) अपने राष्ट्र जगत् या राष्ट्र के जङ्गम प्राणियों, (उत) तथा (नः) हम प्रजाजनों के (तनूपा) शरीरों की रक्षा करनेवाले (भूतम्) होओ। आप (तोकाय) हमारे पुत्रों तथा (तनयाय) पौत्र आदि के लिये (वर्तिः) उनकी वृत्तियों अर्थात् वर्तन-व्यवहार और रोजी आदि के साधन हैं, (यातम्) इसलिये आप प्रजाजनों में आया-जाया कीजिये।

[भूतम्=भवतम्। वर्तिः=साधनद्रव्यम् (उणादि कोष ४।१४२)।]

**९४०. यदिन्द्रेण सरथं याथो अश्विना यद् वा वायुना भवथः समोकसा ।
यदादित्येभिर्ऋभुभिः सजोषसा यद् वा विष्णोर्विक्रमणेषु तिष्ठथः ॥२॥**

(अश्विना) हे दोनों अश्वियो ! नागरिक प्रजा तथा सेना के अधिपतियो ! (यद्) जो आप (इन्द्रेण) सम्राट् के साथ (सरथम्) एक रथ में बैठकर (याथः) प्रजाजनों के निरीक्षण के लिये जाते हो, (यद् वा) अथवा वायुना) वायुयानों के अध्यक्ष के साथ (समोकसा=समोकसौ) अन्तरिक्ष-गृह में (भवथः) जाते हो, (यद्) और जो आप (आदित्येभिः) आदित्य कोटि के विद्वानों, तथा (ऋभुभिः) राष्ट्र के कारीगरों के साथ (सजोषसा) मिलकर उनके साथ प्रेमप्रदर्शन तथा उनकी सेवाएं करते हो, (यद् वा) और जो आप (विष्णोः) यज्ञ-यागों की (विक्रमणेषु) पद्धतियों में विद्यमान होकर (तिष्ठथः) आकर बैठते हो,

[इन्द्रः=सम्राट्; यथा "इन्द्रश्च सम्राड् वरुणश्च राजा" (यजु० ८।३७)। वायुना=वायुशब्द द्वारा वायुयानों का अध्यक्ष लक्षित है। अथवा—वायु के साथ तुम दोनों एक अन्तरिक्ष में गति करते हो। वायु अन्तरिक्ष

में वास करती है, दोनों अश्वी भी वायुयानों द्वारा अन्तरिक्ष में गति करते हैं। समोकसा=सम्=साथ, ओकस्=स्थानम् (उणादि कोष ४।११७, बाहुलकात्); House (आपटे)। ऋभुभिः=शिल्पिभिः। यथा "ऋभू रथस्येवाङ्गानि सं दधत् परुषा परुः" (अथर्व० ४।१२।७)। सजोषसा=स (सह)+जुष् (प्रीतिसेवनयोः)। विष्णुः=यज्ञः (निघ० ३।१७)।]

**९४१. यद्द्याश्विनावहं हुवेय वाजसातये ।
यत् पृत्सु तुर्वणे सहस्तच्छ्रेष्ठमश्विनोरवः ॥३॥**

(अश्विना) हे नागरिक-प्रजा, तथा सेना के अधिपतियो ! तुम दोनों को, (यद्) जो (अहम्) मैं सम्राट् (अद्य) आज (वाजसातये) सहभोज के लिये, (हुवे) बुलाता हूं, निमन्त्रित करता हूं, यह कहने के लिये (यद्) कि (अश्विनोः) तुम दोनों अश्वियों का (अवः) राष्ट्र-संरक्षण (तत्) ऐसा ही (श्रेष्ठम्) श्रेष्ठ तथा प्रशंसनीय हैं, (यत्) जैसे कि (पृत्सु) युद्धों में, (तुर्वणे) शत्रु-विनाशक-योद्धा में स्थित (सहः) साहस तथा शत्रु को पराभूत करने का बल श्रेष्ठ तथा प्रशंसनीय होता है।

[वाजसातये=वाजः (अन्न, निघ० २।७)+साति (सन् संभक्तौ)। पृत्सु=संग्रामनाम (निघ० २।१७)। तुर्वणे=तुर्वी हिंसार्थः।]

**९४२. आ नूनं यातमश्विनेमा हव्यानि वां हिता ।
इमे सोमासो अधि तुर्वशे यदाविमे कण्वेषु वामथ ॥४॥**

(अश्विना) हे अश्वियो ! (आ यातम्) आप दोनों राष्ट्र के शासन के लिये आइये। (नूनम्) निश्चय से (इमा हव्यानि) राष्ट्र की ये भोग्य-सामग्रियां (वाम्) आप दोनों के अधिकार में सुरक्षार्थ (हिता) स्थापित हैं। (तुर्वशे) शीघ्रता से शत्रुओं को वश में करनेवाले क्षत्रिय-वर्ग में (यदौ) प्रयत्नशील व्यापारी-वर्ग में, (अथ कण्वेषु) और मेधावी ब्राह्मणों में जो (इमे) ये (सोमासः) ऐश्वर्य हैं, वे भी (वाम्) आप दोनों के (अधि) अधिकार में सुरक्षार्थ समर्पित हैं।

[हव्यानि=हु अदने, भोज्य-सामग्री। हिता=हितानि, निहितानि। सोमासः=सू ऐश्वर्ये। तुर्वशे=त्वरया वशकर्त्ता। यदौ=प्रयत्नशीले मनुष्ये (निघ० २।३)। कण्वः=मेधावी (निघ० ३।१५)।]

९४३. यन्नासत्या पराके अर्वाके अस्ति भेषजम् ।
तेन नूनं विमदाय प्रचेतसा छर्दिर्वत्साय यच्छतम् ॥५॥

(नासत्या प्रचेतसा) असत्य व्यवहारों से रहित हे प्रज्ञा-सम्पन्न अश्वियो ! (पराके) दूर प्रदेश में तथा (अर्वाके) समीप प्रदेश में (यत्) जो-जो (भेषजम् अस्ति) औषधें हैं, उनका संग्रह करके (तेन) उनके द्वारा (विमदाय) प्रजावर्ग की मादक-प्रवृत्तियों के हटाने के लिये, उन्हें प्रजावर्ग को (यच्छतम्) दिया करो, और (वत्साय) पुत्रसमान प्रजावर्ग के लिये (छर्दिः) गृहों का भी (यच्छतम्) प्रबन्ध किया करो ।

[विमदाय=विमदं कर्त्तुम् । छर्दिः=गृहनाम (निघ० ३।४) ।]

सूक्त १४२

१—६ शशकर्णः । अश्विनौ । १-४ अनुष्टुप्; ५-६ गायत्री ।

९४४. अभुत्स्यु प्र देव्या साकं वाचाहमश्विनोः ।
व्यावर्देव्या मतिं वि रातिं मर्त्येभ्यः ॥१॥

(अहम्) मैं सम्राट् ने (देव्या वाचा) दैवीवाणी अर्थात् वेदवाणी के उपदेशानुसार, (साकम् अश्विनोः) साथ-साथ दोनों अश्वियों को उनके कर्त्तव्यों का (अभुत्सि उ) ठीक प्रकार से बोध करा दिया है । (देव्या) और इस दैवीवाणी द्वारा (मतिम्) वैदिक-मन्तव्यों को, (वि आवः) विशेषतया प्रकट कर दिया है । तथा (मर्त्येभ्यः) मनुष्य प्रजावर्गों से, जो उन्होंने (रातिम्) दानरूप में कर लेना है, तथा प्रत्युपकार में जो उन्होंने प्रजावर्ग को देना है उसे भी (वि आवः) मैंने विशेषतया प्रकट कर दिया है ।

९४५. प्र बोधयोषो अश्विना प्र देवि सूनृते महि ।
प्र यज्ञहोतरानुषक् प्र मदाय श्रवो बृहत् ॥२॥

(उषः) हे उषा ! तू समय पर (अश्विना) अश्वियों को जगा दिया कर । (देवि सूनृते) हे प्रिय तथा सत्य और दिव्य (महि) महावेदवाणी ! (प्रबोधय) तू अश्वियों को प्रातःकाल में बोध प्रदान किया कर । (यज्ञहोतः) हे यज्ञों के करानेवाले "होता" नामवाले ऋत्विक् ! तू (आनुषक्) निरन्तर अर्थात् सदा (प्र बोधय) अश्वियों को यज्ञ करने के लिये

सावधान किया कर. तथा (मदाय) उनकी और राष्ट्र की प्रसन्नता के लिये उन्हें (बृहत् श्रवः प्र बोधय) वेदवाणी का महा-श्रावण कराया कर ।

[अश्वियों को उषाकाल के समय निद्रा से स्वयं जाग कर, वेदवाणी का नित्य स्वाध्याय करना चाहिये, नियमपूर्वक अग्निहोत्र तथा यज्ञ करने चाहियें, और होता द्वारा वेदोपदेशों का प्रभूत-श्रवण करते रहना चाहिये । उषाकाल में जागने का अभिप्राय यह है कि उषाकाल में निद्राग्रस्त न होना चाहिये, जागना तो उषाकाल से भी पूर्व होना चाहिये, अर्थात् प्रभातवेला में ।]

९४६. यदुषो यासि भानुना सं सूर्येण रोचसे ।
आ हायमश्विनो रथो वर्तिर्याति नृपाय्यम् ॥३॥

(उषः) हे उषा ! तू (सूर्येण) सूर्य के कारण (सम् रोचसे) अति रोचक रूप धारण करती है । (यद्) जब तू (भानुना) अपनी प्रभा के साथ (यासि) चली जाती है, तब (नृपाय्यम्) प्रजावर्ग के खान-पान तथा रक्षा को लक्ष्य करके, (ह) निश्चय से, (अश्विनोः) दोनों अश्वियों का (अयम्) यह (रथः) अपना-अपना रथ (आ याति) प्रजावर्ग के कार्यों के निरीक्षणार्थ आता है और (वर्तिः) मार्ग, या वर्तन-वर्ताव, अर्थात् व्यापार और उद्योग-धन्धे (याति) चलने लगते हैं ।

९४७. यदापीतासो अंशवो गावो न दुह्र ऊधभिः ।
यद् वा वाणीरनूषत प्र देवयन्तो अश्विना ॥४॥

(अश्विना) हे नागरिक प्रजाधिपति, तथा हे सेनाधिपति! तुम दोनों,— (यद्) जबकि (अंशवः) उषा के प्रकाशों का (आ पीतासः) सम्यक्-पान प्रजाजन कर लें, जो उषा-प्रकाश कि (न) दूध समान स्वास्थ्यकारी है, जिसे कि (गावः दुह्रे) गौएं देती हैं (ऊधभिः) अपने थनों द्वारा; (यद् वा) तथा जब (देवयन्तः) परमेश्वर देव के अभिलाषी प्रजाजन (वाणीः) वेद-वाणियों का (प्र अनूषत) स्तवन कर लें तदनन्तर (अगला मन्त्र)

९४८. प्र द्युम्नाय प्र शवसे प्र नृषाह्याय शर्मणे ।
प्र दक्षाय प्रचेतसा ॥५॥

९४९. यन्नूनं धीभिरश्विना पितुर्योना निषीदथः ।
यद् वा सुम्नेभिरुक्थ्या ॥६॥

हे (प्रचेतसा) प्रज्ञासम्पन्न अश्वियो ! तुम दोनों, (प्र द्युम्नाय) राष्ट्रसम्बन्धी प्रकृष्ट-अन्न तथा प्रकृष्ट यश के चिन्तन के लिये, (प्र शवसे) प्रकृष्ट-सैनिकादि बल के चिन्तन के लिये, (प्र नृषाह्याय) शत्रुओं के प्रकृष्ट पराभव के चिन्तन के लिये, (प्र दक्षाय) राष्ट्र की प्रगति तथा वृद्धि के चिन्तन के लिये, ॥५॥ (उक्थ्या अश्विना) हे प्रशंसनीय अश्वियो ! तुम दोनों, (यत् नूनम्) निश्चयपूर्वक (धीभिः) अपने-अपने निश्चित कर्त्तव्य-कर्मों के अनुसार, (यद् वा) तथा (सुम्नेभिः) प्रजाजनों को सुख पहुंचाने की भावनाओं के अनुसार, (पितुः) परमपिता परमेश्वर के (योनौ) सिंहासन पर (निषीदथः) बैठते हो ॥६॥

[द्युम्नाय=द्युम्नं द्योततेर्यशो वा अन्नं वा(निरु० ५।१।५)। शवस्=बलम् (निघ० २।९)। दक्षाय= दक्ष गतिवृद्धयोः। धीभिः=धीः कर्मनाम (निघ० २।१)। सुम्नेभिः=सुम्नम् सुखनाम (निघ० ३।६)। पितुर्योना= देखो मन्त्र ९३५ की टिप्पणी।]

सूक्त १४३

१–७ पुरुमीळ्हः तथा अजमीळ्हः; ८ वामदेवः; ९ मेध्यातिथिः तथा मेधातिथिः। १-७, ९ अश्विनौ; ८ क्षेत्रपतिः। त्रिष्टुप्।

९५०. तं वां रथं वयमद्या हुवेम पृथुज्रयमश्विना संगतिं गोः ।
यः सूर्यां वहति बन्धुरायुर्गिर्वाहसं पुरुतमं वसूयुम् ॥१॥

(अश्विना) हे नागरिक प्रजा, तथा सेना के अधिपतियो ! (वाम्) आप दोनों के (तं रथम्) उस प्रसिद्ध रथ का (अद्य) दिन-प्रतिदिन (वयम्) हम नागरिक तथा सैनिक (हुवेम) आह्वान करते हैं, जो रथ कि (पृथुज्रयम्) महावेगी तथा बाधाओं का पराभव करनेवाला है, तथा जिसमें (गोः) प्रकाश की किरणों का (संगतिम्) प्रबन्ध है। (यः) जो रथ कि (सूर्याम् वहति) तुम्हारी पत्नियों का तुम्हारे साथ वहन करता है, (बन्धुरायुः) रथ के सम्यक्-चलन का संचालक-शिल्पी जिसे चाहता है, (गिर्वाहसम्) जो कि अधिपतियों के निर्देशानुसार चलाया जाता है, (पुरुतमम्) सुख-सामग्री से परिपूर्ण है, तथा (वसूयुम्) धन-सम्पत् जिसमें विद्यमान है।

[पृथुज्रयम् =पृथुजवम्,अथवा—ज्रि अभिभवे। सूर्याम्=सूर्यासूक्त में सूर्या के विवाह का वर्णन है। इस के योग्य पति आदित्य ब्रह्मचारी का

भी वर्णन सूर्यासूक्त (अथर्व० १४।१-२) में है। बन्धुरायुः=रथ के अवयवों को परस्पर जोड़ सकनेवाला "आयु" अर्थात् मनुष्य=रथशिल्पी, जिसे कि वेद में "ऋभु" कहा है। यथा— "ऋभू रथस्येवाङ्गानि सं दधत् परुषा परुः" (अथर्व० ४।१२।७)। रथम्="रथ" में एकवचन है। सम्भवतः दोनों अधिपतियों को निर्देश दिया गया है कि वे दोनों एक-रथ में जाकर प्रजा का निरीक्षण मिलकर किया करें।]

९५१. युवं श्रियमश्विना देवता तां दिवो नपाता वनथः शचीभिः ।
युवोर्वपुरभि पृक्षः सचन्ते वहन्ति यत् ककुहासो रथे वाम् ॥२॥

(अश्विना) हे अश्वियो !, (नपाता) हे राष्ट्र को पतन से बचानेवालो ! (युवम्) तुम दोनों, (देवता तां=देवताता=देवतातौ) देवतासदृश अधिकारियों द्वारा विस्तारित राष्ट्र-यज्ञ में, (शचीभिः) निज प्रज्ञाओं तथा निज कर्मों द्वारा (दिवः श्रियम्) दिव्य शोभा को (वनथः) प्राप्त करते हो। (युवोः) तुम दोनों के (वपुः) शरीरों पर (पृक्षः) मानपदक (अभि सचन्ते) लगे रहते हैं (यत्) जब कि (ककुहासः) महानिपुण रथ-संचालक (वाम्) तुम दोनों को (रथे) रथ में (वहन्ति) ले जाते हैं।

[दिवः श्रियम्=द्युलोक की शोभा द्युलोक में जड़े सितारों द्वारा होती है। इसी प्रकार की शोभा मानपदकों द्वारा अश्वियों की होती है। ककुहाः=महन्नाम (निघ० ३।३) पृक्षः=पृच् सम्पर्के।]

९५२. को वामद्या करते रातहव्य ऊतये वा सुतपेयाय वार्कैः ।
ऋतस्य वा वनुषे पूर्व्याय नमो येमानो अश्विना ववर्तत् ॥३॥

(अश्विना) हे अश्वियो (कः) कौन ऐसा व्यक्ति है जो कि (ऊतये) राष्ट्ररक्षा के निमित्त (अद्य) सदा (रातहव्यः) स्वयमेव निज सम्पत्ति को राष्ट्र-यज्ञ में आहुतिरूप में देता है? (वा) तथा (कः) कौन वह व्यक्ति है, जोकि (सुतपेयाय) आपको अन्न रस पिलाने के लिये (अर्कैः) अन्नों द्वारा (वाम्) आप दोनों का (आ करते) सत्कार करता है? (वा पूर्व्याय) तथा अन्नादि परम्परा द्वारा प्राप्त (ऋतस्य) सत्य की, (वनुषे) प्राप्ति की अभिलाषा के निमित्त, कौन सदा (आ करते) यत्न करता है?। तथा कौन (अश्विना) हे अश्वियो ! (नमः) अन्न (येमानः) दान करता हुआ (ववर्तत्) धर्म के नियमों में वर्तमान रहता है?

[रात (रा दाने)+हव्यः । अर्कः=अन्नः, "अकमन्नं भवत्यर्चति भूतानि" (निरु० ५।१।४) । वनुषे=वन् याचने+उ (तनादि)+से (तुमुन्नर्थे) । येमानः=यम् =To give (आपटे)+शानच् । नमः=अन्नम् (निघ० २।७) ।]

९६३. हिरण्ययेन पुरुभू रथेनेमं यज्ञं नासत्योप यातम् ।
पिबाथ इन्मधुनः सोम्यस्य दधथो रत्नं विधते जनाय ।४॥

(नासत्या) असत्य व्यवहारों से रहित हे अश्वियो !, (हिरण्ययेन) सुवर्ण कीसी चमकवाले (पुरुभू रथेन) सर्वत्र आ-जा सकनेवाले रथ के द्वारा, आप (इमं यज्ञम्) हमारे रचाए इन यज्ञों में (उप यातम्) उपस्थित हुआ कीजिये । और (सोम्यस्य) सोम-ओषधि से निष्पन्न (मधुनः) मधुर रस का, या मधुर दुग्धरस का (पिबाथ) पान किया कीजिये, तथा (विधते जनाय) राष्ट्र-सेवक प्रजाजन के लिये (रत्नम्) विविध रत्न (दधथः) प्रदान किया कीजिये । [पुरुभू=पुरुत्र भवतीति । विधते; विधेम=परिचरणकर्मा (निघ० ३।५) ।]

९६४. आ नो यातं दिवो अच्छा पृथिव्या हिरण्ययेन सुवृता रथेन ।
मा वामन्ये नि यमन् देवयन्तः सं यद् ददे नाभिः पूर्व्या वाम् ॥५॥

हे अश्वियो ! (हिरण्ययेन) सुवर्ण कीसी चमकवाले, (सुवृता) अच्छे प्रकार मार्ग पर चलनेवाले (रथेन) रथ के द्वारा, (नः अच्छ) हम प्रजाजनों के अभिमुख, (दिवः) अन्तरिक्षमार्ग से, तथा (पृथिव्याः) पृथिवी के मार्ग से (आ यातम्) आया कीजिये । (देवयन्तः अन्ये) आप-देवों की कामनावाले अन्य प्रजाजन, अर्थात् आपके अन्य श्रद्धालु प्रजाजन, (वाम्) आप दोनों को, (मा नियमन्) मध्य मार्ग में न रोक लें, (यत्) क्योंकि (वाम्) आप-दोनों का (पूर्व्या) पूर्व काल से चला आया (नाभिः) सम्बन्ध आप दोनों को (संददे) प्रेम के कारण बांध सकता है, रोक सकता है । [अन्ये—जिस स्थान में जाने का वचन आपने पहिले से दे रखा है, उस स्थान में आप समय पर पहुंचिये । आपके मार्ग में रहनेवाले अन्य प्रजाजन आपको बीच में न रोक लें । उन के द्वारा आपको रोकना प्रेमसम्बन्ध के कारण सम्भावित हो जाता है । नाभिः=नह बन्धने । संददे=संदानम् (रस्सी=प्रेमरस्सी) ।

९६५. नू नो रयिं पुरुवीरं बृहन्तं दस्रा मिमाथामुभयेष्वस्मे ।
नरो यद् वामश्विना स्तोममावन्त्सधस्तुतिमाजमीळ्हासो अग्मन् ॥६॥

(दस्रा अश्विना) कष्टों का निवारण करनेवाले हे अश्वियो ! (अस्मे) हमारे (उभयेषु) दोनों विभागों में, अर्थात् नागरिक प्रजाजनों तथा सैनिक प्रजाजनों में, (नः) हमें (पुरुवीरम्) बहुप्रेरणाप्रद (बृहन्तं रयिम्) महासम्पत्तिराशि, (मिमाथाम्) आवश्यकतानुसार माप कर दीजिये । (यद्) चूंकि (अजमीळ्हासः) अजन्मा-परमेश्वर की स्तुतियां करनेवाले दोनों विभागों के (नरः) आस्तिक प्रजाजन (आ अग्मन्) आप को मिलते रहते हैं, और (सधस्तुतिम्) स्तुतियों के साथ (वाम्) आप दोनों को (स्तोमम्) भेंट-समूह (आवन्) समर्पित करते रहते हैं ।

[दस्रा=दसु उपक्षये । पुरुवीरम्=पुरु (बहुत)+वि+ईर् (गतौ) । मिमाथाम्=माङ् माने (मापना) । स्तोमम्=समूह । सधस्तुतिम्=सह-स्तुतिम् । अजमीळ्हासः=अजम्+ईळ्हासः (ईड स्तुतौ) । अथवा "अज+मीळ्हासः (मिह सेचने), अजन्मा-परमेश्वर पर भक्तिरस की वर्षा करने-वाले ।]

९६६. इहेह यद् वां समना पपृक्षे सेयमस्मे सुमतिर्वाजरत्ना ।
उरुष्यतं जरितारं युवं ह श्रितः कामो नासत्या युवद्रिक् ॥७॥

(इह इह) इन इन विषयों अर्थात् नाना विषयों के सम्बन्ध में (यद्) जो (वाम्) हे अश्वियो ! तुम दोनों की (समना) मानो एक मन होकर सुनिश्चित (सुमतिः) सुमति है, (सा) वह सुमति (अस्मे पपृक्षे) हम प्रजाजनों को दीजिये, उसीके साथ हमारा संपर्क रहे । (इयम्) यह सुमति (वाजरत्ना) हमें अन्न बल तथा नानाविध रत्न प्रदान करती है । (युवम्) तुम दोनों (जरितारम्) आपके प्रशंसक प्रजावर्ग की (उरुष्यतम्) रक्षा करो । (नासत्या) असत्य व्यवहारों से रहित हे अश्वियो ! (कामः) हम प्रजावर्ग की कामना, (ह) निश्चय से, (युवद्रिक् श्रितः) एकमात्र आश्रय-रूप आप पर आश्रित है ।

९६७. मधुमतीरोषधीर्द्याव आपो मधुमन्नो भवत्वन्तरिक्षम् ।
क्षेत्रस्य पतिर्मधुमान्नो अस्त्वरिष्यन्तो अन्वेनं चरेम ॥८॥

हे अश्विनो ! तुम्हारी सुमति द्वारा (नः) हमारे लिये (ओषधीः) ओषधियां, (द्यावः) द्युलोक किरणें और तारागण, (आपः) जल (मधुमतीः) मधुर तथा सुखदायी हों; (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष, वायु समेत हमें (मधुमत् भवतु) मधुर तथा सुखदायी हो। (क्षेत्रस्य पतिः) कृषि का स्वामी किसानवर्ग (नः) हमारे लिये (मधुमान् अस्तु) मधुर हो। (अरिष्यन्तः) हम प्रजाजन दुःखों और कष्टों की मार से हिंसित न होते हुए (एनम्) इस सम्राट् के (अनु) अनुकूल होकर (चरेम) विचरें।

९५८. पनाय्यं तदश्विना कृतं वां वृषभो दिवो रजसः पृथिव्याः ।
सहस्रं शंसा उत ये गविष्टौ सर्वां इत् तां उप याता पिबध्यै ॥९॥

(अश्विना) हे अश्विवो ! (वाम्) आप दोनों का (कृतम्) किया (तत्) वह कर्म (पनाय्यम्) स्तुत्य है, प्रशंसनीय जोकि आप में से प्रत्येक (दिवः) द्युलोक से, (रजसः) अन्तरिक्षलोक से, (पृथिव्याः) तथा पृथिवी लोक से (वृषभः) सुखों की वर्षा करता है। (उत) तथा (शंसा=शंसौ) हे प्रशंसनीय अश्विवो ! (गविष्टौ) गो अर्थात् पृथिवी के उत्तमशासनरूपी यज्ञ के निमित्त आप, (पिबध्यै) प्रजा द्वारा भेंट किये विविध अन्नरसों के पानार्थ, (ये) जो (सहस्रम्) हजारों नर-नारियां हैं, (तान् सर्वान् उप) उन सब के समीप, (इत्) अवश्य (याता=आ यात) आया करो।

[१३९ से १४३ सूक्तों में अश्वियों का वर्णन हुआ है। आधिभौतिक दृष्टि में इन सूक्तों में, नागरिक प्रजाधिपति तथा सैनिक प्रजाधिपति प्रतीत होते हैं, अर्थात् civil head तथा militry-head। निरुक्त में 'अश्विनौ' के सम्बन्ध में एक मत यह भी दर्शाया है कि ये "पुण्यकृतौ राजानौ" हैं (निरु० १२।१।१)। यद्यपि यह मत ऐतिहासिकों का दर्शाया है, परन्तु इन अश्वियों के सूक्तों में "पुण्यकृतौ राजानौ" को दृष्टि से व्याख्या करते हुए कहीं भी इतिहास का सम्बन्ध प्रतीत नहीं हुआ।

सम्भवतः आधिभौतिक अर्थ की सम्पुष्टि अथर्ववेद ५।२०।९ में "द्विराजे" शब्द द्वारा भी की गई है। "द्विराजे" का अभिप्राय है "द्विराजे राष्ट्रे" अर्थात् राष्ट्र जिसके कि दो राजा हैं। "पुण्यकृतौ राजानौ" में राजानौ और "द्विराजे" पद में "दो-राजा",—इन अर्थों में समन्वय भी है। राष्ट्र में इतने ऊंचे पदों का और तदनुसारी मान और सत्कार का मिलना,—पुण्यकर्मों का ही तो फल है। इसी प्रकार ऋग्वेद ७।३९।२ में "विश्पतीव" इस द्विवचन के

प्रयोग द्वारा भी राष्ट्र के या प्रजा के दो पतियों अर्थात् राजाओं का निर्देश किया गया है। निरुक्त ५।४।२७ में "विश्पतीव" का अर्थ किया है "सर्वपतीव राजानौ"। सर्वपति का अभिप्राय है—राष्ट्र में रहनेवाले सभी प्रजावर्गों के दो राजा"। "विशः" पद सभी प्रजावर्ग के लिये प्रयुक्त होता है। "अश्विना" के साथ "इन्द्र" का भी वर्णन हुआ है। प्रकरणवश यहां 'इन्द्र' पद द्वारा सम्राट् अर्थ किया है। सम्राट् का अभिप्राय यहां राष्ट्रपति है। सम्राट् के निरीक्षण में, और सम्राट् के निर्देशानुसार ये दोनों अश्वी (=अश्विनौ) राष्ट्र के दो विभागों का शासन करते हैं। मन्त्रों में "इन्द्र" को ऋषि-कोटि का कहा है, और 'अश्विनौ' को नासत्यौ कह कर इन दोनों को नैतिक जीवन पर प्रकाश डाला है कि ये दोनों "असत्य व्यवहारों से रहित" होने चाहियें। इसी प्रकार इन दोनों के मन्त्रिमण्डल के मन्त्री भी ऋषि-कोटि के कहे हैं। साथ ही प्रजा के सम्बन्ध में यह कहा है कि प्रजा के सभी व्यक्ति आस्तिक होने चाहियें, और प्रजाजन राष्ट्र को राष्ट्र-यज्ञ समझ कर राष्ट्रोन्नति के लिये अपनी सम्पत्तियों को आहुतिरूप में स्वयं प्रदान किया करें। इस प्रकार सात्विक अधिकारियों द्वारा, सात्विक प्रजा पर किया गया शासन आदर्श शासन है। **नवम अनुवाक समाप्त ॥**

श्री पण्डित विश्वनाथ विद्यालंकार विद्यामार्तण्ड कृत
'अथर्ववेद के बीसवें काण्ड का'
अध्यात्म-भाष्य पूरा हुआ ॥



रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा

प्रकाशित और प्रसारित ग्रन्थ

१. **ऋग्वेदभाष्य**- प्रथमभाग - यन्त्रस्थ, द्वितीयभाग ८०.००
तृतीय भाग १००.००

२. **ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका**-सं०-यु०मी० १००.००

३. **भूमिकाभास्कर**-स्वा० विद्यानन्द सरस्वती- दो भागों में-
प्रथमभाग २००.००, द्वितीयभाग २००.००

४. **ऋग्वेदानुक्रमणी**-वेङ्कटमाधवकृत- व्याख्याकार-
पं० विजयपाल जी ५०.००

५. **कात्यायनीया ऋक्सर्वानुक्रणी**-षड्गुरुशिष्य विरचित
संस्कृत टीका सहित १५०.००

६. **ऋग्वेद की ऋक्संख्या**-यु०मी० ५.००

७. **ऋग्वेदपरिचय**-पं० विश्वनाथ २५.००

८. **यजुर्वेदभाष्य-विवरण**-प्रथमभाग ३००.००, द्वितीयभाग २००.००

९. **माध्यन्दिनपदपाठः** (यजुर्वेद-पदपाठ) १००.००

१०. **तैत्तिरीयसंहिता** (मूल) मन्त्रसूचीसहित १२०.००

११. **तैत्तिरीय-संहिता-पदपाठः** १८०.००

१२. **अथर्ववेदभाष्य**-पं० विश्वनाथ वेदोपाध्याय १-३ काण्ड ७५.००,
४-५ काण्ड ७५.००, ६ काण्ड ७५.००, ७-८ काण्ड ७५.००,
९-१० काण्ड ७५.००,११-१३ काण्ड ७५.००, १४- ७७ काण्ड
७५.००, १८-१९ काण्ड ७५.००, २० काण्ड १००.००

१३. **अथर्ववेदीय-दन्त्योष्ठ्यविधि** अर्थात् अथर्ववेद का चतुर्थ
लक्षण ग्रन्थ-पं० रामगोपाल शास्त्री ५.००

१४. **अथर्ववेदीया बृहत्सर्वानुक्रमणिका**- भूमिका तथा
सूचियों सहित-पं० रामगोपाल शास्त्री ६०.००

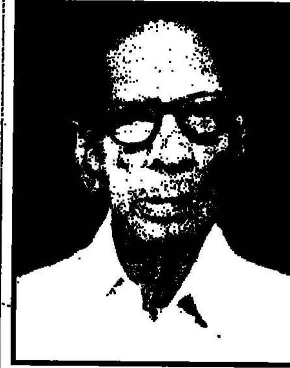
१६. **गोपथब्राह्मण** (मूल) ८०.००

पुस्तक-प्राप्ति-स्थान-

१. रामलाल कपूर ट्रस्ट, ग्राम रेवली, पो० शाहपुरतुर्क, जि० सोनीपत-
१३१००१ (हरियाणा)।

२. रामलाल कपूर एण्ड संस, पेपर मर्चेन्ट्स, २५९६, नई सड़क, दिल्ली।

भाष्यकार का परिचय



नाम—प्रोफेसर विश्वनाथ विद्यालंकार विद्यामार्त्तण्ड।

पत्नी— श्रीमती कुन्तीदेवी।

पिता— श्री लाला प्रीतमदास।

जन्म-स्थान— मार्च, १८८९ ई० में वजीराबाद, गुजरांवाला (पाकिस्तान) में।

शिक्षा— प्रारम्भिक शिक्षा वैदिक पाठशाला गुजरांवाला में तथा बाद में स्नातक (सन् १९१४) तक गुरुकुल कांगड़ी में।

अध्यापन— सन् १९१४ में गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय में प्रोफेसर पद पर नियुक्त तथा सन् १९४२ में वहाँ से सेवामुक्त हुए।

अनुसन्धान— सन् १९२३-२४ में परोपकारिणी सभा अजमेर में। सन् १९५६-५७ आर्य सार्वदेशिक वाटिका में साथ ही 'वैदिक अनुसन्धान' त्रैमासिक पत्रिका का सम्पादन भी।

अन्य लेखन— १. सामवेद का आध्यात्मिक भाष्य।
२. सन्ध्या-रहस्य।
३. वैदिक पशु-यज्ञ-समीक्षा।
४. वैदिक जीवन।
५. वैदिक गृहस्थाश्रम।
६. बाल सत्यार्थ-प्रकाश।
७. बाल ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका।
८. अथर्ववेद-परिचय।

उपाधियाँ एवं पुरस्कार— विद्यालंकार, विद्यामार्त्तण्ड मानोपाधि, वेदवेदांग पुरस्कार (आर्यसमाज, सान्ताक्रुज, मुम्बई), गंगाप्रसाद उपाध्याय पुरस्कार, पं० गोवर्धन शास्त्री पुरस्कार, उत्तरप्रदेश संस्कृत अकादमी, आर्यप्रतिनिधि सभा उ०प्र० तथा आर्यप्रतिनिधि सभा पंजाब द्वारा सम्मानित। वैदिक साहित्य, संस्कृत साहित्य, दर्शन शास्त्र और रसायन शास्त्र (कैमिस्ट्री) तथा सर्वयोग में प्रथम रहने के कारण आपको ४ स्वर्णपदक और एक रजतपदक प्राप्त हुआ।

निधन— १०३ वर्ष की आयु में ११ मार्च सन् १९९१।